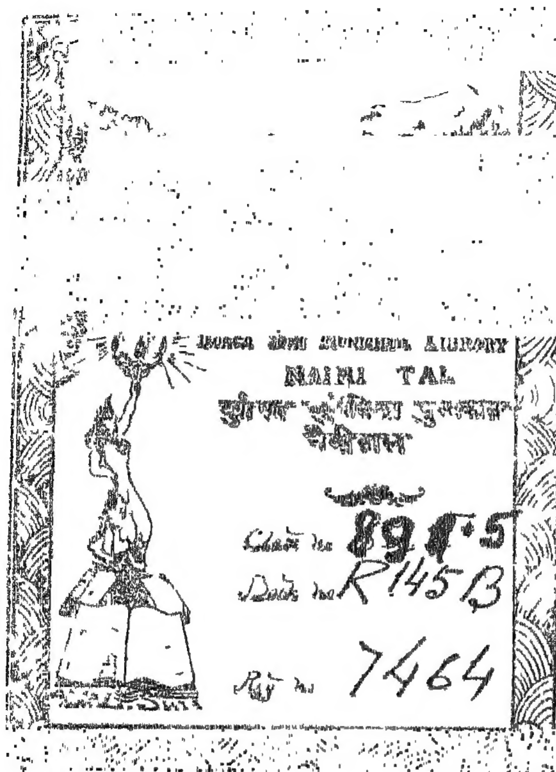


भारत और विश्व

भारत और विश्व

सर्वपल्ली राधाकृष्णन्
भारत के उप-राष्ट्रपति

१९५९
अशोक प्रकाशन
दिल्ली

प्रथम संस्करण १९५९

अनुवादक
गोवर्धन भट्ट, पी-एच० डी०

मुद्रक : सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग
प्रकाशक : अशोक प्रकाशन, नयी दिल्ली
मुख्य वितरक : दि अपर इंडिया पब्लिशिंग हाउस लिमिटेड, लखनऊ

विषय-सूची

१

महात्मा बुद्ध और उनका सन्देश : १

(महाबोधि सोसाइटी, रांची, हीरक जयन्ती महोत्सव
नवम्बर १९५२)

महात्मा गौतम बुद्ध एशिया की आवाज़ और विश्व के साकार विवेक हैं। उनका सन्देश तिब्बत, बर्मा, लंका, कम्बोडिया, अन्नाम, चीन और जापान तक फैला। बौद्ध धर्म, दर्शन, साहित्य और कला ने मानव-जाति के एक बड़े हिस्से को सभ्य बनाया। इसकी तर्क-परकता और प्रेममूलक नैतिकता आधुनिक विचारकों को अपनी ओर खींचती है। दो-एक उदाहरण लीजिये। शोपेनहावर (प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक) अपने मामूली-से शयन-कक्ष में बुद्ध की एक स्वर्ण-प्रतिमा रखता था। अनातोले फ़ान्स (एक फ्रेन्च विचारक) ने लिखा है कि 'बौद्ध-धर्म स्वतंत्र विचारकों को विशेष रूप से अपनी ओर खींचता है' और कि 'शाक्य मुनि के जादू का असर निष्पक्ष हृदयों पर तुरन्त हो जाता है। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि नैतिकता का यह स्रोत, जो कि यूनानी प्रतिभा के उदय के पूर्व हिमालय के चरणों से प्रकट हुआ, आज भी अपनी पवित्रता और ताज़गी को पूर्ववत् क़ायम रखे हुए है, तथा कपिलवस्तु के मुनि को आज भी सबसे अच्छा उपदेष्टा और सदा से त्रस्त मानव-जाति को मधुर शान्ति प्रदान करने वाला माना जाता है।' '१८९० मई की पहिली तारीख थी। संयोग से मैं कोलाहल से दूर मूसे गुईमेट के शान्त भवन में पहुंच गया। वहां एकान्त में, एशिया की देव-मूर्तियों के मध्य, निर्विघ्न खामोशी के वातावरण में, ध्यानमग्न होकर,

लेकिन साथ ही अपने समय की बातों से बेखबर न होते हुए, मैं जीवन की कठोर आवश्यकताओं, संघर्षों और दुःखों के बारे में सोचने लगा। जब मैं उस प्राचीन मुनि की मूर्ति के सामने रुका, जिसकी आवाज़ आज भी चार अरब से अधिक जनता सुनती है, तो मुझे प्रेरणा हुई कि मैं देवता मानकर उसकी प्रार्थना करूं और उससे उस सज्जीवन के रहस्य की याचना करूं, जिसे जानने की निष्फल चेष्टा सरकारें और लोग करते हैं। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे कि मानो उस चिर-तरुण दयालु संन्यासी ने पवित्रता-रूपी कमल पर सिद्धासन में स्थित होकर दाहिना हाथ ऊपर उठाकर प्रज्ञा और करुणा का उपदेश दिया हो।' सभी महान् धर्मों की तरह, बशर्ते कि हम उन्हें स्थूल अन्धविश्वासों और दूषित करने वाले घृणित आचार-व्यवहारों को अलग हटाकर देखें, बौद्ध-धर्म भी ज्ञान और प्रेम से परिपूर्ण है। इसका जीवन-दर्शन और इसके नैतिक उपदेश विज्ञान के प्रेमी आधुनिक विचारकों को बहुत रुचते हैं, क्योंकि महात्मा बुद्ध का दृष्टिकोण तर्कपूर्ण और अनुभवपरक है।

बुद्ध ने हमें अपना अन्धानुकरण करने की सलाह नहीं दी। उन्होंने यह नहीं कहा कि 'मैं यह आदेश देता हूं', बल्कि यह कहा कि 'मेरा ऐसा अनुभव है।'

परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्।

बुद्ध ने कहा है कि परीक्षा करके हम उनके उपदेशों को ग्रहण करें। हमें किसी बाह्य आलम्बन पर निर्भर नहीं रहना चाहिए, बल्कि स्वयं अपनी आत्मा को अपना आलम्बन बनाना चाहिए, शाश्वत धर्म की शरण में जाना चाहिए। बुद्ध ने कहा है : 'मैं तुमसे बिदा होता हूं, अपनी आत्मा को शरण बनाकर प्रयाण करता हूं' (दिघ निकाय, २.१२०)। हमारे अन्दर आत्मा की जो आवाज़

उठती है उसकी मांग पूरी होनी चाहिए। बुद्ध केवल रास्ता बताते हैं, उस पर चलने का कष्ट उठाना हरेक की अपनी जिम्मेदारी है (धम्मपद, २७६)। बुद्ध का गौरव उनके व्यक्तिगत अनुभव पर प्रतिष्ठित है।

प्रचलित कथा के अनुसार, जब बुद्ध ने एक निर्बल वृद्ध को, एक मृतक पुरुष को, एक बीमार को और एक भिक्षु को देखा तब उन्हें दैन्य और दुःख का, रोग, जरा और मृत्यु का ज्ञान हुआ। इससे उन्हें जो आघात पहुँचा उसके फलस्वरूप उन्होंने सारे वैभव और विलास को त्याग कर संन्यासी का जीवन ग्रहण किया। दुनिया का दुःख देखकर बुद्ध के मन में करुणा उपजी। संसार के मूल में उन्होंने जिस दुःख के दर्शन किये वह उनके लिए एक समस्या बन गया। उन्होंने समकालीन दर्शनों का अध्ययन किया, उस युग के बड़े-बड़े आचार्यों से परामर्श किया और कठोर तपस्या और चिन्तन करके तत्त्व की खोज की।

बुद्ध वह है, जिसका नाम सत्य है (सच्चनाम)। जो सत् है, वही सत्य है; जो नश्वर है, वही असत् है। जिनके पास देखने के लिए आंख और समझने के लिए बुद्धि है, उनके लिए यह दुनिया, जिसमें हम रहते हैं, जन्म और मरण की, विकास और ह्रास की दुनिया है, जिसमें कोई भी वस्तु स्थिर नहीं रहती और न किसी चीज की कभी आवृत्ति ही होती है। इस दुनिया में कुछ भी स्थायी नहीं है। मरणान्तं हि जीवनम्। बौद्ध साहित्य में क्षणभंगुरता, परिवर्तनशीलता का कथन भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है। घूमते हुए चक्र को इस परिवर्तनशील संसार या सत्ता का प्रतीक माना गया है।

तब, सभी संघातों में छिपे हुए इस विनाश से बचने का उपाय क्या है? बुद्ध ने शाश्वत जीवन के रहस्य को खोज निकालने का

संकल्प किया। जब तक हम 'संस्कृत' से अर्थात् कारण से उत्पन्न होने वाली चीजों से चिपके रहते हैं तब तक हम काल के बन्धन में रहते हैं, लेकिन कोई ऐसी भी चीज है जो असंस्कृत है, अजात है, अकारणोत्पन्न है, अपरिवर्तनशील है। यदि हम इसे जान लें और सिद्ध कर लें तो हमारा मृत्यु और पुनर्जन्म के चक्र से छूटकर निर्वाण और शाश्वत शान्ति प्राप्त करना निश्चित है। यह दृश्य जगत्, ये उत्पत्ति-विनाश शील वस्तुएं, यह कार्यकारणमय संसार कर्म के नियम से शासित हैं, और निर्वाण उस दुनिया की चीज है जहां स्वातंत्र्य है, जहां वस्तुओं से परे केवल आत्मा का आधिपत्य है, जो सत्ता का केंद्र है। आदमी के अन्दर वह शक्ति और संकल्प है, जो उसे संसार से उठाकर सत्य पर प्रतिष्ठित करता है। यदि आदमी अपने अस्तित्व की सीमाओं को तोड़ने में असफल रहता है, तो वह मृत्यु का ग्रास बनता है, विनाश को प्राप्त होता है। उसे पहिले शून्य का अनुभव करना है, तभी वह उसके परे जा सकता है।

इस वस्तुमय जगत् से परे पहुँचने के लिये आदमी को विनाश की वेदना का अनुभव होना आवश्यक है; उसके अन्दर इस भावना का उदय होना आवश्यक है कि यह सारा दृश्य जगत्, जो कि परिवर्तन और मृत्यु के नियम के अधीन है, नितान्त शून्य है। हम सन्त पॉल के साथ-साथ यह पूछते हैं : 'इस मरणशील शरीर से कौन मेरा उद्धार करेगा ?', 'मुझे मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जा---मृत्योर्मा अमृतं गमय।'

यदि यह संसार ही सब कुछ होता, तो मनुष्य को दुःख से कभी मुक्ति न मिलती। तब हमारा जीवन शून्य, अभाव और मृत्यु के अतिरिक्त कुछ न होता। यदि भौतिक अस्तित्व ही सब कुछ होता, यदि काल-प्रवाह, जिसमें वस्तुओं का उदय और विनाश होता है, ही सब कुछ होता, यदि संसार ही सब कुछ होता, तो भय और पीड़ा

का अन्त कभी न होता। बुद्ध ने निर्वाण का और उसके लिए प्रयत्न करते रहने का उपदेश देकर एक दूसरी दुनिया के अस्तित्व में आस्था प्रकट की है। उन्होंने कहा है कि काल-प्रवाह से ऊपर उठना और बुद्धत्व प्राप्त करना मनुष्य के लिए सम्भव है।

विशुद्ध सत्ता काल-चक्र से ऊपर है। इसी पर संसार प्रतिष्ठित है; संसार निर्वाण में है। नित्यता काल में केंद्रित है। तत्त्वमसि। हरेक के अन्दर एक ऐसी गुप्त शक्ति का निवास है, जो उसे काल-प्रवाह से मुक्त कर सकती है, जो हमारी अन्तरात्मा को बाह्य वस्तुओं के बन्धन से हटा सकती है, जिससे हम अपने अन्दर रहने वाले अमृत को खोज सकते हैं। उस क्षण में हमारे काल का विनाश हो जाता है, फिर हम काल के बन्धन में नहीं रहते, बल्कि जो कालातीत है, वह हमारे अन्दर आ जाता है। काल के अन्दर कालातीत का यह अनुभव ही निर्वाण है। सभी धर्मों ने इसी अन्तिम और मूल रहस्य की खोज की है और अपरिपक्व भाषा तथा अधूरे प्रतीकों एवं कल्पनाओं के द्वारा इसी को व्यक्त करने की कोशिश की है। यह नितान्त शून्य नहीं है। यह एक भावरूप सत्ता है, जिसका कथन विरोधाभास-पूर्ण शब्दावली में किया गया है। विरोधाभास ही एकमात्र ऐसा तरीक़ा है जिससे मानवीय भाषा चरम तत्त्व के अनुभव को व्यक्त कर सकती है। यही वह तरीक़ा है, जो आदमी की अन्तर्दृष्टि और कम-ज़ोरी, दोनों को प्रकट करता है। सन्त ऑगस्टाइन (एक ईसाई महापुरुष) ने कहा है : 'हे मेरे ईश्वर ! तब तुम क्या हो, मैं पूछता हूं कि सबके स्वामी होने के अलावा तुम क्या हो; . . .तुम सबसे दूर हो, फिर भी सबसे निकट हो; . . .सदा सक्रिय हो और फिर भी सदा निष्क्रिय हो, संग्रह करते रहते हो और फिर भी किसी चीज़ की आवश्यकता नहीं रखते; . . .तुमको कोई अभाव नहीं है, फिर भी कुछ न कुछ खोजते रहते हो. . .। कोई तुम्हारे बारे में कुछ कहना

चाहते हुए भी क्या कह सकता है ?' (कन्फ़ेशन्स, किताब १, अध्याय ४, सी० बिग का अंग्रेज़ी अनुवाद)। बोधि, तत्त्वज्ञान, वह ज्ञान है जिसे व्यक्त नहीं किया जा सकता। विरोधाभास का अनुसन्धान से वैर नहीं है, अनुसन्धान से वैर है अपरिपक्व परिभाषा का। सभी जीवित धर्म नवीन प्रभावों का स्वागत करने वाले हैं, अपने चारों ओर दीवारें खड़ी करने वाले नहीं।

निर्वाण काल की अधीनता से मुक्त होना है और आदमी अपने जीवन-काल में ही उसे प्राप्त कर सकता है। काल और अमरत्व परस्पर विरोधी नहीं हैं। यह जीवन काल और अमरत्व का, संसार और निर्वाण का मिलन-बिन्दु है। जब हम पेड़-पौधों और जानवरों की तरह अपने क्षण बिताते हैं, तब हम काल के बन्धन में रहते हैं। हमारा अस्तित्व कालाधीन हो जाता है। इस प्रकार के अस्तित्व में भी ऐसे क्षण आ सकते हैं जो अमरत्व का संकेत करते हैं। ये क्षण अनुभूति की तीव्रता लिये होते हैं और कभी-कभी ही आते हैं। इनके पहिले और पश्चात् कुछ नहीं होता। इनमें हमारा काल का ज्ञान लुप्त हो जाता है और हम ध्यान में खो जाते हैं। ये हमारी उस अवस्था के सबसे निकट होते हैं, जब हम घटनाओं के प्रवाह से, काल की दासता से मुक्त हो जावेंगे। मृत्यु और पुनर्जन्म से मुक्ति की ऐसी अवस्था में ही तपस्या और चिन्तन के जीवन की सफलता और परिणति होती है। इसकी सिद्धि बुद्ध के द्वारा दिखाये हुए नैतिक मार्ग से ही हो सकती है। यह मानव-जाति को उपलब्ध सबसे प्राचीन और सबसे टिकाऊ सत्य है। बृहदारण्यकोपनिषद् में दान देने, दया करने और संयम से रहने का उपदेश है : दत्त, दयध्वम्, दम्यत। उसमें बताया गया है कि हम ज्ञानी बनें और अपने हृदय में करुणा उपजावें। बुद्ध ने हमें इंद्रियपरता और इंद्रिय-दमन, इन दो आत्यन्तिक मार्गों को छोड़ने और मध्यम मार्ग

को अपनाने का उपदेश दिया है। मातृचेत ने इसे इस प्रकार कहा है : 'तुम्हारे बालों ने क्या बिगाड़ा है ? अपने पापों का मुण्डन करो। जिसका मन दूषित है, भगवा वस्त्र उसका क्या हित कर सकता है ?'

केशाः किं अपराध्यन्ति क्लेशानां मुण्डनं कुरु
सकषायस्य चित्तस्य काषायैः किं प्रयोजनम्।

बुद्ध को मनुष्य के पाप की अपेक्षा उसके दुःख का ज़्यादा खयाल था। यह स्वीकार करके कि प्रत्येक व्यक्ति अर्हत्त्व या बुद्धत्व प्राप्त कर सकता है, बौद्ध-धर्म ने व्यक्ति की आत्मा को अत्यधिक मूल्य प्रदान किया है। मानवीय आत्मा का मूल्य ही सारी सभ्यता का आधार है और वही इस दुःख से पीड़ित संसार की आशा है।

आज हमारा जीवन युद्ध की विभीषिका से त्रस्त है। ऐसा प्रतीत होता है कि हम एक आने वाले भयानक संकट के वातावरण में रह रहे हैं, जिसका फल बर्बरता की पुनरावृत्ति हो सकता है, जो एक नये अन्धकार के युग का सूत्रपात कर सकता है, जिसमें आध्यात्मिकता का बिल्कुल लोप हो जायेगा और विज्ञान की उपलब्धियां तथा संस्कृति के वरदान बिल्कुल नष्ट हो जायेंगे। आज हमें प्रेम की, भावना की, समझदारी और सहानुभूति की आवश्यकता है जिनसे हम चारों ओर से घिरने वाले अन्धकार को मिटा सकें। केवल इन्हीं से उन लोगों को जिनका जीवन उद्देश्यहीन हो गया है, जीने की प्रेरणा मिल सकती है, साहस करने के लिए हेतु और काम करने के लिए पथ-प्रदर्शक मिल सकता है।

२

महात्मा बुद्ध और उनका सन्देश : २

(ऑल इण्डिया रेडियो, दिल्ली से प्रसारित
१९ मई १९५६)

छठी शताब्दी ई० पू० अनेक देशों की आध्यात्मिक जागृति और बौद्धिक हलचल के लिए प्रसिद्ध है। इसी समय चीन में लाओत्से और कन्फ्यूशियस का, यूनान में पार्मेनाइडीज और इम्पेडोक्लीज का, ईरान में जरथुस्त्र का, इजराइल में नबियों का, और भारत में महावीर तथा बुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ। इस काल में कई प्रसिद्ध उपदेष्टाओं ने परम्परागत ज्ञान का विकास किया और नये दृष्टिकोण प्रस्तुत किये।

वैशाख-मास की पूर्णिमा बुद्ध के जीवन की तीन महत्त्वपूर्ण घटनाओं से अर्थात् बुद्ध के जन्म, बोध-प्राप्ति और परिनिर्वाण से जुड़ी हुई है। यह बौद्धों के लिए सबसे अधिक पुनीत तिथि है। थेरावादी बौद्ध-धर्म के अनुसार बुद्ध का परिनिर्वाण ५४४ ई० पू० में हुआ था (बोधगया के शिलालेख में परिनिर्वाण की तिथि ५४४ ई० पू० दी गयी है)। बौद्ध-धर्म के अन्य सम्प्रदाय अलग-अलग तिथियां मानते हैं, फिर भी इस बात पर सब एकमत हैं कि मई १९५६ की पूर्णिमा को गौतम बुद्ध के महापरिनिर्वाण की २५००वीं वर्षी मनायी जाय।

बुद्ध के जीवन की प्रमुख घटनाएं सर्वविदित हैं। वे कपिलवस्तु के एक छोटे-मोटे राजा के पुत्र थे, विलासिता के वातावरण में उनका पालन-पोषण हुआ था, यशोधरा से उनका विवाह हुआ था, 'राहुल'

नाम का उनका एक पुत्र था, और जिस सुरक्षित स्थान में उन्होंने अपना प्रारम्भिक जीवन बिताया वहां तक दुनिया के दुःख-दर्द की पहुंच नहीं थी। प्रचलित कथा में कहा गया है कि चार अवसरों पर जबकि वे अपने महल से बाहर निकले, उनको दुनिया के दुःख-दर्द का अनुभव हुआ। एक अवसर पर उन्होंने एक वृद्ध को देखा और महसूस किया कि उन्हें भी वार्धक्य की कमज़ोरियों का शिकार बनना पड़ेगा; दूसरे अवसर पर उन्होंने एक रोगी देखा और महसूस किया कि उन्हें भी रोग सता सकता है; तीसरे अवसर पर उन्होंने एक शव देखा और महसूस किया कि उनकी भी मृत्यु अवश्यम्भावी है; चौथे अवसर पर उनकी मुलाक़ात एक संन्यासी से हुई जिसके मुख पर शान्ति विराज रही थी और जिसने ईश्वर के साक्षात्कार के आकांक्षियों के परम्परागत तरीक़े से गेरुए वस्त्र धारण किये हुए थे। उसे देखकर बुद्ध ने यह संकल्प किया कि वे भी उसका अनुसरण करते हुए जरा, रोग और मृत्यु के बन्धन से मुक्ति प्राप्त करेंगे। उस संन्यासी ने बुद्ध से कहा :

> नर-पुंगव जन्म-मृत्यु-भीतः श्रमणः प्रव्रजितोऽस्मि मोक्षहेतोः।
> --अश्वघोष : बुद्धचरित, ५.१७

अर्थात्, मैं एक श्रमण हूं जिसने जन्म और मृत्यु के भय से मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा से गृह-त्याग किया है।

जब बुद्ध ने इस संन्यासी को देखा, जो स्वस्थ शरीर वाला और प्रसन्नचित्त था तथा जीवन के भोग-विलास को त्याग चुका था, तब उनके मन में यह बात जम गयी कि धर्मानुसरण ही मनुष्य के लिए एकमात्र साध्य वस्तु है। इससे मनुष्य दुनिया के दुःखों और सुखों से स्वतंत्र हो जाता है। बुद्ध ने दुनिया को त्यागने और धार्मिक जीवन यापन करने का निश्चय कर लिया। उन्होंने घर, पत्नी और पुत्र को

छोड़कर भिक्षु की वेश-भूषा धारण की और मानवों के दुःख, दुःख के कारणों तथा दुःख-निवारण के उपायों पर गहन विचार करने के लिए वन की शरण ली। गूढ़ से गूढ़ धार्मिक सिद्धान्तों का अध्ययन करने में उन्होंने छः वर्ष बिता दिये, कठिन से कठिन तपस्या उन्होंने की, और उपवास करके अस्थिपंजरावशेष हो गये, इस आशा में कि शरीर को कष्ट देकर अवश्य ही उन्हें सत्य का ज्ञान प्राप्त होगा। लेकिन मृतकप्राय हो जाने पर भी उनको वह ज्ञान प्राप्त न हो सका जिसकी खोज में वे थे। तब उन्होंने तपस्या छोड़ दी, साधारण दिन-चर्या प्रारम्भ की, नैरंजना-नामक नदी के पानी से थकान मिटायी, और सुजाता से दूध के पकवान ग्रहण किये : नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः। शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक स्फूर्ति लाभ करके उन्होंने सात सप्ताह बोधि-वृक्ष की छाया में गम्भीर ध्यान और चिन्तन करते हुए व्यतीत किये। एक रात ब्राह्म-वेला में उनको बोध-प्राप्ति हुई। बोध-प्राप्ति के पश्चात् बुद्ध स्वयं को तथागत अर्थात् वह जिसे तत्त्व का ज्ञान हो गया हो, कहने लगे। उनको इच्छा हुई कि वे उस ज्ञान का प्रचार करें जिसकी उन्हें उपलब्धि हुई है और उन्होंने कहा: 'मैं काशी जाऊंगा और उस दीप को प्रज्ज्वलित करूंगा जिससे विश्व में प्रकाश फैलेगा। मैं काशी जाऊंगा और ढोल बजाकर दुनिया को नींद से जगाऊंगा। मैं काशी जाऊंगा और धर्म का उप-देश करूंगा।' 'भिक्षुओ! सुनो। मुझे अमृत की प्राप्ति हो गयी है। अब मैं उपदेश देता हूं। धर्म का उपदेश करता हूं।' वे एक स्थान से दूसरे स्थान में भ्रमण करने लगे, सैकड़ों ऊंच-नीच, राजाओं और कृषकों के जीवन का उद्धार करने लगे। सब लोग उनके महान् व्यक्तित्व के प्रभाव में आने लगे। उन्होंने पैंतालीस वर्ष तक दान के महत्त्व और संन्यास के आनन्द का, सरलता और समानता की आवश्यकता का उपदेश किया।

अस्सी वर्ष की आयु में वे कुशीनगर पहुँचे जहां उनका परिनिर्वाण हुआ। अपने प्रिय शिष्य आनन्द के साथ वैशाली-नामक सुन्दर नगरी से बिदा लेकर उन्होंने एक समीपवर्ती पर्वत-शिखर पर श्रम-त्याग किया और अनेक मन्दिरों और विहारों से पूर्ण प्रदेश का अवलोकन करते हुए आनन्द से बोले : चित्रं जम्बूद्वीपं, मनोरमं जीवितं मनुष्याणाम्। 'भारत विविध विभूति-सम्पन्न है, मनुष्यों का जीवन मनोरम है।' हिरण्यवती नदी के तट पर एक शाल-वृक्षों के कुंज में दो वृक्षों के मध्य बुद्ध ने अपने लिए एक शय्या तैयार करवायी। शोक से व्याकुल शिष्य आनन्द को उन्होंने मीठी सांत्वना दी। 'आनन्द, रोओ नहीं, शोक न करो। मनुष्य का अपनी सभी प्रिय वस्तुओं से वियोग अवश्यम्भावी है। ऐसा कैसे सम्भव है कि जो जन्मा है, जो नश्वर है, उसका नाश न हो? शायद तुम यह सोच रहे हो कि अब हमें गुरु नहीं मिलेगा। आनन्द, ऐसा न सोचो। जो उपदेश मैंने तुम्हें दिये हैं वही तुम्हारे गुरु हैं।' बुद्ध ने बार-बार कहा है :

'हन्द दानि भिक्खवे आमन्तयामि वो
वयधम्मा संखारा, अप्पमादेन सम्पादेथ' इति।

'भिक्षुओ, मैं तुमसे कहता हूं : सब वस्तुएं नश्वर हैं; प्रमाद छोड़कर अपनी मुक्ति का प्रयत्न करो।'

ये बुद्ध के अन्तिम शब्द थे। ऐसा कहकर उनकी आत्मा समाधि में लीन हो गयी, और जब उनकी समाधि वहां पहुँच गयी जहां समग्र विचार-शक्ति का लोप हो जाता है और आत्म-चेतना रुक जाती है, तब उनका महापरिनिर्वाण हो गया।

× × ×

बुद्ध के जीवन के दो पक्ष हैं, एक व्यक्तिगत और दूसरा सामाजिक। हमारी परिचित बुद्ध-प्रतिमा एक ध्यानस्थ योगी की प्रतिमा

है जो समाधि के आन्तरिक आनन्द में मग्न है। यह थेरवाद-मत और अशोक के धर्म-प्रचार से सम्बन्धित परम्परा है। उसकी दृष्टि में बुद्ध एक मनुष्य है, देवता नहीं, एक उपदेशक है, उद्धारकर्ता नहीं। बुद्ध के जीवन का एक दूसरा पक्ष तब प्रकट होता है जब वे मानवों के दुःख से चिन्तित होते है, उनके जीवन में घुल-मिल जाने के लिए उत्सुक रहते है, उनकी तकलीफ़ों को दूर करते है और 'बहुजन-हिताय बहुजनसुखाय' अपना सन्देश फैलाते है। मानव-जाति के लिए इस करुणा के आधार पर उत्तर-भारत में कुषाणों (७०–४८० ई०) और गुप्तों (३२०—६५० ई०) के काल में एक दूसरी परम्परा का परिपाक हुआ। इसके अन्तर्गत सर्व-मुक्ति के आदर्श का, भक्ति-मार्ग का और लोक-सेवा की भावना का विकास हुआ। पहली परम्परा लंका, बर्मा और थाइलैंड में और दूसरी नेपाल, तिब्बत, कोरिया, चीन और जापान में फैली।

इस मतभेद के बावजूद बौद्धों के सभी संप्रदाय इन बातों में एकमत हैं कि बुद्ध उनके धर्म-संस्थापक है, उनको बोधि-वृक्ष के नीचे तत्त्व का ज्ञान प्राप्त हुआ, उन्होंने इस दुःखमय संसार से दूर जाने और अमृत का लाभ करने का मार्ग बताया और जो उनके द्वारा बताये हुए मुक्ति-मार्ग का अनुसरण करते हैं वे भी इस संसार के पार पहुँच सकते हैं। यही बौद्ध-धर्म का मूल है और यही दृष्टिकोण उन वैभिन्न्यों के नीचे रहने वाली एकता है जो भारत से बाहर देश-देशान्तर में फैलते समय बौद्ध-धर्म में प्रवेश कर गये।

मानवीय प्रकृति का परिष्कार सब धर्मों का लक्ष्य है। हिन्दू और बौद्ध दोनों धर्म द्वितीय जन्म की बात को प्रधानता देते हैं। आदमी एक नहीं है बल्कि नानात्व से युक्त है। वह सुषुप्त है, वह यंत्र की तरह गतिशील है। उसके अन्दर वैषम्य है। उसे जाग कर उठ बैठना है, आन्तरिक एकता प्राप्त करनी है, समरस और स्वतन्त्र

बनना है। यूनानी 'रहस्यों' (धार्मिक कृत्य-विशेष) का गूढ़ार्थ मानवीय प्रकृति का यही परिष्कार है। वहां आदमी को एक बीज माना गया है जो अन्न के रूप में मर जाता है लेकिन अन्न से भिन्न एक पौदे के रूप में पुनर्जीवित हो उठता है। गेहूं की एक मुट्ठी का उपयोग दो ही तरीक़ों से हो सकता है : या तो उसे पीस कर आटा बना दो और रोटी बनाकर खा लो, या खेत में उसे बोकर एक-एक बीज से सौ-सौ गेहूं पा लो। क़यामत के दिन मुर्दों के जी उठने का ईसाइयों में जो विश्वास है उसके बारे में कहते हुए सन्त पॉल ने उपर्युक्त बीज की उपमा का आश्रय लिया है : 'मूर्ख, जिसे तू बो रहा है वह जीवित नहीं होगा, वह तो मर जायेगा।' 'जब यह बोया जाता है तब यह एक भौतिक पिण्ड के रूप में होता है, जब यह उठता है तब यह एक आध्यात्मिक रूप में होता है।' इस परिवर्तन में द्रव्य का ही रूपान्तर हो जाता है। मनुष्य पूर्ण नहीं है और न वह एक अन्तिम वस्तु है। वह एक ऐसी चीज़ है जो अपने को रूपान्तरित कर सकता है, जो मरकर पुनः जीवित हो सकता है। इस परिवर्तन को लाना, पुनरुज्जीवित होना, जाग उठना ही बौद्ध-धर्म का और सब अन्य धर्मों का लक्ष्य है।

हमारा काल, संसार के बन्धन में पड़ना अविद्या या अज्ञान का परिणाम है। अविद्या मोह और पाप (आसव) की जननी है। अविद्या और इच्छा इस सांसारिक जीवन के आधार हैं। हमें अविद्या से उठकर विद्या, बोधि को प्राप्त करना है। जब हमें 'विपस्सना' यानी सम्यक् दृष्टि प्राप्त हो जायेगी तब हमें समता यानी शाश्वत शान्ति की भी प्राप्ति हो जायेगी। इन सब बातों में बुद्ध ने वैदिक दृष्टिकोण अपनाया है जिसके अनुसार साक्षात् अनुभव से, ब्रह्म के साक्षात्कार से—यथाभूतञ्ञानदस्सन—विद्या की प्राप्ति होती है।

× × ×

बुद्ध ने यह महसूस नहीं किया कि वे एक नये धर्म का उपदेश कर रहे हैं। वे हिन्दू पैदा हुए, हिन्दू के रूप में बड़े हुए और हिन्दू रहते हुए ही मरे भी। उन्होंने एक नये तरीक़े से भारतीय आर्य-सभ्यता के प्राचीन आदर्शों का ही दुबारा कथन किया। 'भिक्षुओ, मैंने एक पुराना रास्ता ही देखा है, एक ऐसा रास्ता जिसका अनुसरण प्राचीन ऋषियों ने किया है।...मैं उसी रास्ते पर चला हूं, और उस पर चलते हुए जिन बातों को मैं पूरी तरह जान पाया हूं वे मैंने भिक्षुओं, भिक्षुणियों, सांसारिक स्त्री-पुरुषों को बतला दी हैं। यह रास्ता 'ब्रह्मचरिय' यानी ब्रह्म का रास्ता है जो उन्नति और विभूति का रास्ता है, खूब फैला हुआ और सर्वज्ञात है, लोकप्रिय है—संक्षेप में देवताओं और मनुष्यों के लिए इसे खूब स्पष्ट कर दिया गया है।' (सम्युत्त निकाय)।

भारतीय धर्मों ने हमेशा अभय, मोक्ष और निर्वाण की खोज की है। पार्थिव बातों से अपने आपको ऊपर उठाने का प्रयत्न करना, इंद्रिय-जगत् से बाहर जाने की कोशिश करना, अपनी आत्मा को संसार और स्थूल भौतिकता के जाल से मुक्त करने की चेष्टा करना, बाहरी अन्धकार को चीरकर प्रकाश और आत्मा की दुनिया में प्रवेश करने की कोशिश करना आदमी के लिए बिलकुल स्वाभाविक है। बुद्ध का लक्ष्य एक नवीन आध्यात्मिक जीवन है जो ज्ञान या बोधि से प्राप्त होता है। 'सबसे बड़ा पुरुषार्थ मैं उस अवस्था को मानता हूं जिसमें न जरा है, न भय है, न रोग है, न जन्म है, न मृत्यु है, न व्याधि है और न जिसमें बार-बार क्रिया होती है।'

पदे तु यस्मिन्न जरा न भीर्न रुङ् न जन्म नैवोपरमो न चाधयः।
तमेव मन्ये पुरुषार्थमुत्तमं न विद्यते यत्र पुनः पुनः क्रिया।

—अश्वघोष : बुद्धचरित, ११.५९

बुद्ध का लक्ष्य एक ऐसा आध्यात्मिक अनुभव था जिसमें सब स्वार्थपरक इच्छाएं मिट जाती हैं और उनके साथ सारे भय और वासनाएं भी। यह एक ऐसी स्थिति है जिसमें पूर्ण आन्तरिक शान्ति प्राप्त हो जाती है और साथ ही आध्यात्मिक स्वातंत्र्य की प्राप्ति का विश्वास भी हो जाता है। यह एक अनिर्वचनीय स्थिति है। इसे केवल वही जान सकता है जो इसका अनुभव कर चुका हो। यह वैकुण्ठ-निवास की अवस्था नहीं है जहां देवता रहते हैं। 'यदि इतर-मतावलम्बी संन्यासी तुमसे कहें कि भिक्षु गौतम वैकुण्ठ-प्राप्ति के लिए साधना करवाता है तो तुम्हें लज्जा, अपमान और रोष का अनुभव होना चाहिए।' जिस प्रकार उपनिषदों में मोक्ष को ब्रह्म-लोक-निवास से भिन्न बताया गया है, उसी प्रकार बुद्ध ने कहा है कि देवता 'संस्कृत' जगत् के हैं, 'असंस्कृत' उनको नहीं कहा जा सकता। भाव और अभाव परस्परापेक्ष हैं। जो वस्तुतः 'असंस्कृत' है वह भाव और अभाव दोनों से परे है। मुक्त का, बुद्ध का पद ब्रह्मा के पद से ऊंचा है। यह एक सूक्ष्म, ज्योतिर्मय और नित्य अवस्था है। देवताओं से भी ऊंची कोई वस्तु है और यही देशकालातीत परम तत्त्व है जिसे उदान में अजात, अभूत, अकत (अकृत) और असंखत (असंधत) कहा गया है। यही उपनिषदों का ब्रह्म है जिसे नेति-नेति कहा गया है। बुद्ध ने स्वयं को ब्रह्मभूत अर्थात् वह जो ब्रह्म हो गया है, कहा है। बुद्ध ने परम तत्त्व के विषय में जो दृष्टिकोण बनाया वह ब्रह्मवादी है, ईश्वरवादी नहीं। उन्होंने महसूस किया कि अनेक आदमी यह समझते हुए कर्म से विरत हो जाते हैं कि ईश्वर उनके लिए सब कुछ कर देगा। ऐसे लोग यह भूल जाते हैं कि आध्यात्मिक सिद्धि आन्तरिक समृद्धि है। जब शिक्षित लोग 'अनिर्वचनीय' के बारे में व्यर्थ कल्पना करने में लगे थे तब अशिक्षित लोग ईश्वर को एक ऐसी चीज़ मान रहे थे जो जादू के ज़ोर से वश

में किया जा सकता है। यदि ईश्वर हमें किसी तरह क्षमा कर ही देता है तो जीवन-प्रणाली को बदलने का मूल्य ही क्या रहा? बुद्ध ने प्रचलित धर्म में पाये जाने वाले अज्ञान, अन्धविश्वास और भय के विरुद्ध विद्रोह किया। इसके अतिरिक्त ईश्वरवाद की एक बुराई यह भी है कि वह मनुष्यों को हठधर्मी और अनुदार बना देता है। सिद्धान्तों की कट्टरता का कुफल यह हुआ है कि दुनिया दुःख, अन्याय, युद्ध, अपराध और घृणा से भर गयी है।

हिन्दू, जैन, बौद्ध और सिक्ख सभी भारतीय धर्म विश्व को संसार अर्थात् एक अनन्त प्रवाह मानते हैं जिसमें कि कर्म का नियम काम करता है। यहां कोई भी चीज स्थायी नहीं है, यहां तक कि देवता भी स्थायी नहीं हैं। मृत्यु तक स्थायी नहीं है क्योंकि वह भी पुनर्जन्म में बदल जाती है। एक जन्म में आदमी जो कुछ करता है उससे उसका भविष्य सदा के लिए निश्चित नहीं हो जाता। बुद्ध ने भाग्यवाद को प्रश्रय नहीं दिया है। वे यह नहीं कहते कि आदमी अपने भविष्य का निर्माण नहीं कर सकता। आदमी अपने भविष्य को स्वयं बना सकता है, वह अर्हत् बन सकता है, निर्वाण-लाभ कर सकता है। बुद्ध परिश्रम के जीवन के जबर्दस्त समर्थक थे। हमारा लक्ष्य काल पर विजय पाना, संसार से मुक्त होना है और इसका उपाय ज्ञान की ओर ले जाने वाला नैतिक मार्ग है।

बुद्ध ने आत्मा को अपरिवर्तनशील नहीं माना, क्योंकि आत्मा तो एक ऐसी चीज है जिसका निर्माण सद्विचारों और सत्कर्मों से हो सकता है। फिर भी उन्हें उसकी सत्ता माननी पड़ी। कर्म का बन्धन काल में अस्तित्व रखने वाली वस्तुओं की दुनिया में होता है, जबकि निर्वाण में आत्मा को आन्तरिक स्वातंत्र्य प्राप्त होता है। हम अपने अस्तित्व की सीमाओं का अतिक्रमण कर सकते हैं। पार पहुँचने के लिए हम संसार की शून्यता का अनुभव करते हैं। इस

बाह्य जगत् से दूर जाने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति को विनाश की यंत्रणा का अनुभव हो, उसके अन्दर यह भावना पैदा हो कि यह सम्पूर्ण इंद्रियों से अनुभव होने वाला जगत् जो कि परिवर्तन के नियम के, मृत्यु के अधीन है, बिल्कुल शून्य है। हम अपार निराशा के गर्त से चिल्ला पड़ते हैं : मृत्योर्मा अमृतं गमय। मुझे इस मृत्यु की देह से कौन बचायेगा? यदि मृत्यु ही सब कुछ नहीं है, यदि शून्य ही सब कुछ नहीं है, तो कोई न कोई चीज़ ऐसी अवश्य है जो मृत्यु के बाद भी बच रहती है, यद्यपि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। 'अहम्' कोई कार्य-कारणातीत वस्तु है, जिसका इन नश्वर, परिवर्तनशील और खोखले शरीर, अनुभूति, संवित्, विचार इत्यादि से कोई सम्बन्ध नहीं है। जब व्यक्ति यह जान लेता है कि जो अनित्य है वह दुःखमय है, तब वह इनसे विरक्त हो जाता है और मुक्त हो जाता है। इस स्थिति में पहुँचने के लिए एक उच्चतर कोटि की आत्म-संविति का—'अत्तेन वा अत्तनीयेन'—होना लाज़मी है। यह 'अहम्' ही मूल तात्त्विक आत्मा है, 'असंस्कृत' है, जिसके साक्षात्कार से स्वातंत्र्य और शक्ति प्राप्त होती है। आत्मा देह, अनुभूति, संवित् इत्यादि कुछ नहीं है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि आत्मा बिल्कुल है ही नहीं। आत्मा अहंकार मात्र नहीं है, हालांकि स्थूल दृष्टि को आत्मा में अहंकार के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखायी देता। हमारी आत्मा का एक और पक्ष भी है जो निर्वाण-लाभ करने में सहायक होता है। आत्मा के इन दोनों पक्षों का द्वैत तब प्रकट होता है जब एक दूसरे की निन्दा करता है : अत्तापि अत्तानमुपवदति। जब बुद्ध हमें उद्यम करने का, मुक्ति के लिए सतत प्रयत्नशील रहने का उपदेश करते हैं, तब उनका संकेत उस अन्तर्वर्ती तत्त्व की ओर होता है जो घटनाओं के प्रवाह में लुप्त नहीं हो जाता, जो बाहरी परिस्थितियों के वशीभूत नहीं होता, जो समाज

की छीना-झपटी से अपने को बचाता रहता है, जो दूसरों के मत के सामने नतमस्तक नहीं होता बल्कि सतर्क होकर अपने अधिकारों की रक्षा करता है। जिसे बोध प्राप्त हो चुका है उसके सारे बन्धन टूट गये हैं, वह मुक्त हो गया है। संन्यासी वह है जिसने अपने ऊपर नियंत्रण प्राप्त कर लिया है, 'जिसका हृदय अपने वश में है, न कि जो हृदय के वश में है' (मज्झिम निकाय, ३२)। यह कहना ठीक नहीं है कि निर्वाण-प्राप्ति के बाद बुद्ध का असद्भाव हो गया। असद्-भाव उनका नहीं बल्कि वासनाओं और इच्छाओं का हुआ। निर्वाण होने पर वे भ्रान्त धारणाओं और स्वार्थपरक इच्छाओं की दासता से मुक्त हो गये, जो साधारण जीवन में व्यक्ति को तरह-तरह से डुलाती रहती हैं। बुद्ध स्वयं को साधारण व्यक्ति की दुर्बलताओं से मुक्त मानते हैं। वे द्वैत की दुनिया से तिरोहित हो गये हैं। 'जिस विचार की उसे इच्छा नहीं वह विचार उसके मन में नहीं आयेगा' (अंगुत्तर ४, ३५; मज्झिम निकाय, २०)।

बुद्ध ने हमें प्रज्ञा और करुणा का उपदेश दिया। हमारी परख उन मतों से जिनका हम अनुसरण करते हैं या उन नामों से जिन्हें हम धारण करते हैं या उन नारों से जिन्हें हम चिल्ला-चिल्लाकर कहते हैं, नहीं होगी, बल्कि हमारे परोपकार के कामों से और भ्रातृ-भावना से होगी।[1] आदमी की कमजोरी यह है कि वह जरा, रोग और मृत्यु के अधीन होते हुए भी अज्ञान और अभिमान के कारण रोगी, वृद्ध और मृतक का उपहास करता है। यदि कोई अपने रोगी,

---

[1] तुलना कीजिये—

रुद्राक्षं तुलसीकाष्ठं, त्रिपुण्ड्रं भस्मधारणम्
यात्रास्नानानि होमाश्च जपा वा देवदर्शनम्
न एते पुनन्ति मनुजं यथा भूतहिते रतिः।

वृद्ध या मृतक भाई को घृणा की दृष्टि से देखता है, तो वह स्वयं अपने साथ अन्याय करता है। हमें उस आदमी की नुक्ताचीनी नहीं करनी चाहिए जो लँगड़ाकर चलता है या रास्ते पर गिर पड़ता है, क्योंकि हम उसके जूतों को नहीं जानते या उसके बोझ का अन्दाज नहीं रखते। अगर हम जान लें कि दुःख क्या होता है, तो हम सभी दुःखियों के भाई बन जायें।

× × ×

बौद्ध-धर्म का प्रारम्भ एक नये और स्वतंत्र धर्म के रूप में नहीं हुआ। यह प्राचीन हिन्दू-धर्म की ही एक शाखा थी जो मुख्य हिन्दू-धर्म से मत-भेद हो जाने के कारण फूट पड़ी थी। बुद्ध का परम्परागत हिन्दू-धर्म से दर्शन और नीति की मूल बातों में कोई मतभेद नहीं था। उनका विरोध कुछ ही आचार-विचारों से था जो उस समय प्रचलित थे। वैदिक कर्म-काण्ड में उनकी आस्था नहीं थी। जब उनसे कर्म-काण्ड करने के लिए कहा गया, तब उन्होंने कहा : 'यदि कोई कहता है कि मुझे धर्म के लिए इष्ट फल देने वाले और अपने कुलोचित यज्ञों को करना चाहिए, तो मैं यज्ञों को दूर से ही नमस्कार करता हूं, क्योंकि दूसरों को दुःख देकर अपने को सुख देने की मेरी कामना नहीं है।'

> यदात्थ चापीष्टफलां कुलोचितां कुरुष्व धर्माय मखक्रियामिति
> नमो मखेभ्यो न हि कामये सुखं परस्य दुःखक्रियया यदिष्यते।
> —अश्वघोष : बुद्धचरित, ११, ६४

यह सत्य है कि उपनिषद् भी यज्ञों से प्राप्त धार्मिकता को अपने अध्यात्मवाद की तुलना में निम्न स्थान देते हैं, फिर भी उन्होंने इसका खण्डन उस तरीके से नहीं किया जिस तरीके से बुद्ध ने किया।

बुद्ध का मुख्य उद्देश्य तत्कालीन धार्मिक आचार-व्यवहार में सुधार करना और मूल सिद्धान्तों की ओर वापस जाना था। जो लोग हिन्दू-धर्म की आवश्यक बातों से चिपके रहे और उसे प्रबुद्ध अन्तःकरण की आवाज के साथ एक करने में सचेष्ट रहे उन्हें अवतार माना गया। हिन्दुओं का यह दृढ़ विश्वास है कि परमात्मा ने जिसे वे विष्णु के रूप में मानते हैं, मानव-जाति के हित के लिए समय-समय पर विभिन्न रूप धारण किये। बुद्ध ने हिन्दुओं को रक्तरंजित यज्ञों और मिथ्याचार से बचाया तथा हिन्दू-धर्म में जिन अनेक बुराइयों का प्रवेश हो गया था उन्हें दूर करके उसकी शुद्धि की। इसलिए बुद्ध को भी अवतार माना गया। हिन्दुओं का अवतारवाद पूर्वजों के धर्म को सुरक्षित रखने और साथ ही उसमें सुधार करने में सहायता करता है। हमारे पुराणों ने बुद्ध को विष्णु का नवां अवतार घोषित किया है।

जयदेव ने अपनी अष्टपदी (गीतगोविन्द) में विभिन्न अवतारों का वर्णन किया है और बुद्ध को विष्णु का एक अवतार कहा है :

हे सदय-हृदय ! तुमने पशु-वध का विधान करने वाले वेद-भाग की निन्दा की। हे बुद्ध-देह-धारी केशव, हे जगदीश, हे हरि ! तुम्हारी जय हो।

> निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातम्
> सदयहृदय, दर्शितपशुघातम्
> केशव धृतबुद्धशरीर जय जगदीश हरे।

टीकाकार ने लिखा है :

> यज्ञस्य विधान-बोधकं वेदसमूहं निन्दसि, न तु सर्वमित्यर्थः।

बुद्ध ने सम्पूर्ण श्रुति की निन्दा नहीं की बल्कि केवल उस भाग की की, जिसमें यज्ञों का विधान किया गया है।

अगले श्लोक में जयदेव ने दस अवतारों को संक्षेप में इस प्रकार बताया है:

जिसने वेदों का उद्धार किया, जिसने जगत् का वहन किया, जिसने पृथ्वी को ऊपर उठाया, जिसने दैत्यों का संहार किया, जिसने बलि को छला, जिसने क्षत्रियों का क्षय किया, जिसने रावण को जीता, जिसने हल धारण किया, जिसने कारुण्य का प्रसार किया, जिसने म्लेच्छों को मूर्च्छित किया, ऐसे दश रूप धारण करने वाले हे कृष्ण! तुझे नमस्कार है।

वेदानुद्धरते, जगन्निवहते, भूगोलमुद्बिभ्रते,
दैत्यान् दारयते, बलिं छलयते, क्षत्रक्षयं कुर्वते,
पौलस्त्यं जयते, हलं कलयते, कारुण्यमातन्वते,
म्लेच्छान् मूर्च्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः।

टीकाकार ने लिखा है:

कारुण्यं कृपां आतन्वते बुद्धरूपेण विस्तारयते।

बुद्ध ने हिन्दू विरासत का उपयोग उसके कुछ रूपों का सुधार करने में किया। उनका आविर्भाव कमी की पूर्ति के लिए हुआ था, न कि प्राप्त का संहार करने के लिए। हमारे लिए, इस देश में, बुद्ध हमारी धार्मिक परम्परा के एक प्रमुख प्रतिनिधि हैं। उन्होंने भारत की भूमि में अपने चरण-चिह्न छोड़े और भारत की आत्मा को अपनी विशेषता प्रदान की। दुनिया के अन्य देशों में तो बुद्ध के उपदेशों का रूप उनकी अपनी परम्पराओं के अनुसार बदल गया, लेकिन यहां भारत में, बुद्ध की अपनी जन्मभूमि में बुद्ध की शिक्षा हमारी संस्कृति के साथ घुलमिलकर एक हो गयी। बुद्ध ने ब्राह्मणों और श्रमणों को एक-सा समझा और इन दोनों की संस्कृतियां

धीरे-धीरे घुलमिल गयीं। एक दृष्टि से बुद्ध को आधुनिक हिन्दू-धर्म का निर्माता कहा जा सकता है।

समय-समय पर मानव-जाति अनन्त समूहों में बँटने के बाद अपनी सृष्टि करती है, अपने अस्तित्व के प्रयोजनों की एक महान् चरित्र में पूर्ति करती है और फिर धीरे-धीरे विनाश की ओर उन्मुख हो जाती है। बौद्ध-धर्म में कुछ ऐसी प्रवृत्तियों का प्रवेश हो गया जिनकी महात्मा बुद्ध के उपदेशों से संगति नहीं है। बुद्ध ने मनुष्य के एक नये प्ररूप को विकसित करना अपना लक्ष्य बनाया था, जो पूर्वाग्रहों से मुक्त हो, स्वयं अपनी आत्मा को अपना दीपक ('अत्तदीप') बनाकर अपने भविष्य का निर्माण करने के लिए कृतसंकल्प हो। बुद्ध का मानवतावाद देश और जाति की बाधाओं को पार करके सर्वत्र फैल गया। फिर भी दुनिया में आज जो अव्यवस्था दिखायी देती है उसमें मनुष्य-जाति की आध्यात्मिक अव्यवस्था प्रतिबिम्बित होती है। इतिहास का दृष्टिकोण अब सार्वदेशिक हो गया है। इसका विषय अब न यूरोप है न एशिया, न पूर्व है न पश्चिम, बल्कि उसका विषय सभी देशों और युगों में रहने वाली मानवता है। राजनीतिक विभाजनों के बावजूद दुनिया एक है, चाहे हम इसे पसन्द करें चाहे पसन्द न करें। हरेक की सुख-समृद्धि दूसरों की सुख-समृद्धि से जुड़ी हुई है। फिर भी हमारी स्फूर्ति का इस क़दर ह्रास हो गया है, व्यक्तिगत और समूहगत अहंकार इस क़दर बढ़ गया है कि एक विश्व-समाज के आदर्श की कामना करना मुश्किल हो गया है। जिस शत्रु से हमें लड़ना है वह हमारे अन्दर ही है। ईश्वर या भाग्य को दोष देना बिल्कुल व्यर्थ है, क्योंकि इससे हमारा ही अपमान होता है। आज हमें जिस चीज की जरूरत है वह है दुनिया के बारे में एक आध्यात्मिक दृष्टिकोण, जिसका समर्थन इस देश ने अपनी महान् भूलों और मूर्खताओं के बावजूद सदा ही किया है, जो पुनः जीवित

हो सकता है और आदमी के जीवन के दरवाजों और पर्दों को एकबारगी खोल सकता है। हमें आध्यात्मिक स्वातंत्र्य के खोये हुए आदर्श को पुनः प्राप्त करना है : आत्मलाभान्न परं विद्यते। अगर हमें शान्ति का लाभ करना है तो हमें उस आन्तरिक समता को, आत्मा के सन्तुलन को क़ायम रखना होगा जो शान्ति का आवश्यक तत्त्व है। चाहे सब कुछ खो जाय, हमें अपने आपको नहीं खोना है। मुक्त आत्मा के प्रेम की कोई सीमा नहीं होती, वह सभी मनुष्यों में ईश्वरीय अंश को पहचानता है, और मनुष्य-जाति के कल्याण के हेतु स्वेच्छापूर्वक अपना बलिदान कर देता है। वह दुष्कर्म के अलावा और किसी बात का भय नहीं करता, काल और मृत्यु के बन्धनों से दूर चला जाता है और शाश्वत जीवन में अक्षय शक्ति की प्राप्ति करता है।

महात्मा बुद्ध और उनका सन्देश : २

(बुद्ध-स्मारक, दिल्ली के शिला-न्यास के अवसर पर दिया गया भाषण, २३ मई १९५६)

यह हमारे लिए अत्यन्त गर्व की बात है कि महात्मा बुद्ध, जिनके उपदेशों ने दुनिया के एक बड़े हिस्से को प्रभावित किया है, इसी देश के थे, इसी देश की धार्मिक पृष्ठभूमि में प्रशिक्षित हुए थे और उन्होंने इसी देश के उच्च आदर्शों की व्याख्या की थी। आज भी उदार विचारकों और निष्पक्ष हृदयों को उनके उपदेश आकृष्ट करते हैं।

महापुरुष की विशेषता है उसकी आश्चर्यजनक सार्वभौमता। जितना ही अधिक हम उसके बारे में सोचते हैं उतना ही हमें लगता है कि वह हर पीढ़ी का समसामयिक है।

बुद्धिवाद

बुद्ध ने एक मध्यम मार्ग पर चलने का उपदेश दिया है और अन्धविश्वास जो हरेक प्रश्न का उत्तर देता है तथा संशयवाद जो किसी भी बात का उत्तर नहीं देता, इन दो आत्यन्तिक कोटियों से बचने के लिए कहा है। विज्ञान का प्रभाव बहुत जबर्दस्त और व्यापक है और यह उन बहुत-सी बातों के प्रतिकूल है जिन्हें धर्म कहा जाता है; हम किसी परम्परागत विश्वास को बिना विचारे मानने के लिए तैयार नहीं हैं। बुद्ध ने यह नहीं चाहा कि हम किसी बात को कहने वाले के गौरव के आधार मात्र पर मान लें,

सुनी-सुनायी चीज से सन्तुष्ट हो जायं, अनुभव में दुबारा न आने वाले चमत्कारों और आश्चर्यजनक घटनाओं पर विश्वास कर लें। धर्म, तर्क और छानबीन से ऊपर होने का दावा नहीं कर सकता और यदि वह अपनी पवित्रता के आधार पर ऐसा दावा करता है तो उसके बारे में ऐसी शंका होनी लाजमी है कि वह रोशनी का सामना करने से डरता है। बुद्ध ने यह नहीं चाहा कि हम ऐसे सिद्धान्तों को मान लें जिनका अनुभव से सत्यापन नहीं हो सकता :

परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्।

तुम मेरे वचनों को परीक्षा करके ही स्वीकार करोगे, केवल मेरे गौरव की वजह से नहीं।

बुद्ध ने दूसरों के कहने मात्र से किसी बात को मानने से इंकार किया :

परस्य वाक्यैर्न ममात्र निश्चयः।

उन्होंने आदमी के दिमाग पर किसी चीज को जबर्दस्ती लादने का हर तरह से विरोध किया। उन्होंने शुद्ध और स्पष्ट विचार पर जोर दिया, दूसरे शब्दों में, चिन्तन की नैतिकता अपनाने के लिए कहा। उन्होंने अपने शिष्यों से यह आग्रह किया कि वे केवल उसी बात को कहें जिस पर उन्होंने स्वयं गहरा विचार किया है, जिसको उन्होंने स्वयं जाना है और समझा है (मज्झिम निकाय, ३८)। बुद्ध आनन्द से कहते हैं कि उनके पास 'गुरुमुष्टि' नहीं है। बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट दर्शन और नीति लोकोत्तर बातों में बहुत ही कम आस्था रखते हैं। उन्होंने मानव-प्रकृति के अबौद्धिक, भावनाशील और संवेगात्मक अंश को उभाड़ने की कभी कोशिश नहीं की।

अनुभववाद

हमारे युग की एक दूसरी विशेषता है : उसकी अनुभववाद में गहरी आस्था। अनुभव इस देशकालमय दृश्य जगत् की बातों के देखने-सुनने तक ही सीमित नहीं है। भारतीय धर्मों ने हमें अनुभव की शरण लेने के लिए कहा है। हमारे ऋषि अनुभवकर्ता हैं : सदा पश्यन्ति सूरयः। धर्म तत्त्वतः एक रूपान्तरकारी अनुभव है, एक प्रबुद्ध जीवन है। धर्म अनिवार्यतः दुबारा पैदा होने की अवस्था है। एक सूफ़ी सन्त ने कहा है : 'जो गर्भ से जन्म लेता है वह केवल इस स्थूल दुनिया को देखता है; दूसरी दुनिया को केवल वही देख पाता है जो अपने में से पैदा होता है।' प्रसिद्ध चार 'आर्य सत्य' बुद्ध के व्यक्तिगत अनुभव से निकले हैं। बुद्ध ने जैसे सत्य का अनुभव किया वैसे ही उसकी व्याख्या की। उन्होंने अपने विचारों को दूसरों के ऊपर ज़बर्दस्ती नहीं लादा। उन्होंने कहा है : 'जैसे कुम्हार गीली मिट्टी को ढालता है वैसे मैं तुम्हें नहीं ढालूंगा' (मज्झिम निकाय, १२०, २)। बुद्ध ने यही उपदेश दिया है कि हम स्वयं देखें और परीक्षा करें।

हठधर्मी का अभाव

इस देश के दार्शनिक दृष्टिकोण का अनुसरण करते हुए बुद्ध ने कहा है कि निर्वाण को किसी सिद्धान्त-विशेष की शब्दावली में नहीं बांधा जा सकता। साध्य अनिर्वचनीय है (सुत्त निपात, १०.७४)। उसका कोई लक्षण नहीं बताया जा सकता। यह एक ऐसा ज्ञान है जिसका दूसरों से ठीक-ठीक बयान नहीं किया जा सकता। बुद्ध ने तत्त्व का दर्शन कर लिया था; अतः उन्होंने संशयपूर्ण बात नहीं कही। उनके वचन ताज़े और बग़ैर रुकावट के निकलते हैं, वे आन्तरिक अनुभव के बल से युक्त होकर आते हैं। बुद्ध में बड़ी विनम्रता

है, गहरी खामोशी है। अनुभव सिद्धान्त से भिन्न वस्तु है। बुद्धि जिन विभिन्न सिद्धान्तों को सामने रखती है उनको बुद्ध ने यह कह कर टाल दिया कि वे सत्य, जो कि विरोधाभासपूर्ण है, तक पहुँचाने या उसे व्यक्त करने के लिए अपर्याप्त हैं। सत्य की अन्तरात्मा अभि-व्यक्ति के किसी भी रूप की क़ैद में नहीं आती। भाषा सत्य को इतना स्पष्ट बना देती है जितना वह है नहीं। भाषा अधिक-से-अधिक एक साधन है और सभी साधनों की तरह दोष-ग्रस्त है। वादों का प्रतिवाद हो जाता है, उनका खण्डन हो जाता है और फिर अनुभव में उनका तिरोभाव हो जाता है। कहने से पहिले हमें देखना चाहिए। बुद्ध ने हठधर्मी की, सिद्धान्तवादिता की बन्धन मानकर निन्दा की है और ऐसा कहने वालों को कि 'एकमात्र यही सत्य है, बाक़ी सब मूर्खता है' धिक्कारा है। (सुत्त निपात, ४.१२; १३.१७-१९)। उन्होंने अन्तिम समस्याओं पर तार्किक वाद-विवाद और धार्मिक झगड़ा करने को प्रोत्साहन नहीं दिया। उन्होंने उन लोगों को बौद्धिक अहंकार के दोष से युक्त माना है जो अपने सिद्धान्तों को अकाट्य कहते हैं। बुद्ध के हृदय में दूसरों के प्रति बड़ा सम्मान था। जिस दुनिया में वे बड़े हुए उसके विभिन्न देवताओं का तथा उन देवताओं के प्रति जनसाधारण के जो भाव थे उनका उन्होंने सम्मान किया। कोई भी ऐसा धर्म जो अनुदार बनाता है, अहंकार बढ़ाता है या दूसरों को अधम समझना सिखाता है, सच्चा धर्म नहीं है। सच्चा ईश्वर वह है जो सबका ईश्वर है। वह जितना हम जानते हैं उससे कहीं बड़ा है।

प्राचीन काल से ही भारतवर्ष में सब धर्मों का परस्पर सौहार्द रहा है। उनके गुरु और शिष्य परस्पर विचार-विनिमय करते रहे, गोष्ठियों में शामिल होते रहे और मनुष्य-जाति के एक उच्चतर जीवन की ओर उत्तरोत्तर उत्थान में योगदान करते रहे। भारत

का जो तथा-कथित धर्मनिरपेक्षतावाद है वह इस सत्य को स्वीकार करता है कि आध्यात्मिक जीवन, ज्ञान या बोधि, धर्मों के पारस्परिक झगड़े से ऊपर की चीज है। यह धर्म-निरपेक्षतावाद जड़वाद का समर्थक या धर्म का विरोधी नहीं है। इसका मतलब यह नहीं है कि हम अच्छी सड़कों, अच्छी रेलों, अच्छे रेडियो-सेट और अच्छी मोटर-कारों में विश्वास करते हैं। इसका मतलब यह है कि हमारी किसी ऐसे धर्म में आस्था नहीं है जो अन्य धर्मों से घृणा करना या उनको हेय समझना सिखाता हो।

नैतिक जीवन : सामाजिक न्याय

बुद्ध के नैतिक उपदेशों में दो आत्यन्तिक कोटियों से बचने के लिए कहा गया है। न तो हमें सांसारिक वासनाओं के पीछे भागना चाहिए और न इतना तप ही करना चाहिए कि शरीर ही नष्ट हो जाय। बुद्ध की आस्था आन्तरिक अनुभव में बद्धमूल है, लेकिन साथ ही वह ऐसे कर्म करने को भी कहती है जिनसे सामाजिक न्याय प्राप्त हो, सभी जातियों और मतावलम्बियों को समान अधिकार प्राप्त हों। व्यक्ति के गौरव की यह मांग है कि ऐसे सब प्रतिबन्ध मिटा दिये जायं जो आदमी के सम्मान के लिए घातक हों और मानव-समाज को तोड़ने वाले हों। बुद्ध ने उन सब लोगों का विरोध किया जिन्होंने सामाजिक न्याय के नाम पर सामाजिक अन्याय को प्रश्रय दिया। बुद्ध ने उन ब्राह्मणों का आदर के साथ उल्लेख किया है जो अपने व्रतों का पालन करने वाले हैं और उन ब्राह्मणों की जो केवल जाति के ब्राह्मण हैं भर्त्सना की है। उन्होंने अच्छे श्रमणों और अच्छे ब्राह्मणों को एक ही कोटि में रखा है। धार्मिक जीवन का द्वार उन्होंने सबके लिए खोल दिया। अभी हमको दलितों और अपमानितों के प्रति अपना कर्तव्य निभाना बाक़ी है।

बौद्ध-धर्म विचारों की कठोरता से या नैतिक नियमों का विधान करके मनुष्य की उन्नति के मार्ग में रोड़े नहीं अटकाता। वह मानवीय विचार, मानवीय अच्छाई और मानवीय सौन्दर्य के विकास को प्रोत्साहन देता है।

विश्व-शान्ति

हमारी इस त्रस्त दुनिया में महात्मा बुद्ध का सन्देश आशा का संचार करता है। बुद्ध का उपदेश है कि शान्ति युद्ध के तरीक़े से नहीं प्राप्त हो सकती। 'युद्ध में विजय घृणा को जन्म देती है, पराजित होने वाला दुःखाभिभूत हो जाता है', (धम्मपद, १५.५)। युद्ध का दुष्परिणाम घृणा, अत्याचार, विनाशक आन्दोलन, मिथ्या प्रचार, पुनः शस्त्रीकरण और नये युद्धों में प्रकट होता है और यह कुचक्र कभी समाप्त होने नहीं आता। घृणा को घृणा से नहीं मिटाया जा सकता। घृणा का अन्त करने का एक ही तरीक़ा है और वह है प्रेम। आदमी को युद्धप्रियता छोड़नी होगी और अहिंसा को अपनाना होगा। हमें इस समय आवश्यकता है प्रेम की, एक नयी अभिव्यक्ति की, ताकि हम चारों ओर से घिरने वाले अन्धकार का भेदन कर सकें, आदमी का आदमी से, जाति का जाति से, राष्ट्र का राष्ट्र से एक नये सिरे से सम्बन्ध जोड़ सकें।

पंचशील

बौद्ध-धर्म का पंचशील हिंसा का हर दशा में निषेध करता है; क्योंकि हम जीवन नहीं दे सकते, अतः हमें उसे लेना भी नहीं चाहिए। यह दूसरों की सम्पत्ति का आदर करने पर जोर देता है, असंयम और असत्य के जीवन की निन्दा करता है तथा मादक द्रव्यों को वर्जित करता है। पंचशील को अपनाने से आदमी का दृष्टिकोण बदल जायेगा।

बौद्ध-धर्म की प्रगति में उन लोगों का बड़ा हाथ रहा है जो स्वयं प्रकट रूप से उसके अनुयायी नहीं थे। अनेक बौद्ध स्मारक, मठ और विद्या के केंद्र उन लोगों के द्वारा बनाये गये जो बौद्ध नहीं थे। भौतिक जोखिमों के बावजूद चालीस शताब्दियों से अधिक समय से हम यह विश्वास करते आ रहे हैं कि जो बात एक विशेष समुदाय के लिए पवित्र है वह सभी के लिए पवित्र है।

४

महात्मा महावीर

(महावीर-जयन्ती-महोत्सव, नई दिल्ली
५ अप्रैल १९५५)

८०० से लेकर २०० ई० पू० तक का काल इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण युग रहा है। इसमें विश्व की विचार-धारा प्रकृति के अध्ययन से हटकर मानव-जीवन के अध्ययन में केंद्रित हुई। चीन में लाओत्से और कन्फ्यूशियस; भारत में उपनिषदों के ऋषि, महावीर और गौतम बुद्ध; ईरान में जरथुस्त्र; ज्यूडिया में महान् नबी; और यूनान में पाइथेगोरस, सुकरात और अफ़लातून; इन सबों ने अपना ध्यान बाह्य जड़ प्रकृति से हटाकर मनुष्य की आत्मा के अध्ययन में लगाया।

आज हम उक्त महापुरुषों में से एक, महावीर की जयन्ती मना रहे हैं। महावीर को 'जिन' अर्थात् विजेता कहा जाता है। उन्होंने राज्यों की विजय नहीं की बल्कि स्वयं अपनी आत्मा पर विजय प्राप्त की। वे महावीर कहलाते हैं, किन्तु वे राज्यों के पारस्परिक युद्धों के महावीर नहीं हैं बल्कि मानसिक जगत् के युद्धों के महावीर हैं। तपस्या, अनुशासन, आत्म-शुद्धि और विवेक के मार्ग पर अप्रतिहत होकर चलते हुए उन्होंने स्वयं को उस पुरुष की स्थिति में पहुँचा दिया जिसे देवत्व प्राप्त हो गया हो। अतः हम उनकी जयन्ती मना रहे हैं ताकि उनके जीवन से हमें आत्म-विजय के उस ऊंचे आदर्श का अनुसरण करने की प्रेरणा मिले।

हमारा देश अपने इतिहास के आदि-काल से लेकर आज तक

इस महान् आदर्श का समर्थक रहा है। जब हम उन प्रतीकों, प्रतिमाओं और अन्य अवशेषों की ओर देखते हैं जो मोहोंजोदड़ो और हड़प्पा के युग से हमारे युग में चले आये हैं, तब हमें इस परम्परा की स्मृति हो आती है कि जो आत्मा की श्रेष्ठता और जड़ द्रव्य पर उसका आधिपत्य स्थापित करता है वही आदर्श पुरुष है। यही आदर्श चार या पांच सहस्राब्दियों से हमारे देश के धार्मिक वातावरण को अनुप्राणित करता आ रहा है।

उपनिषदों का एक महावाक्य है 'तत्त्वमसि'—'वह तू है'—जिससे उपनिषत् दुनिया में प्रसिद्ध हुए। इस महावाक्य में मनुष्य की आत्मा के अन्दर ईश्वरत्व के छिपे होने का कथन किया गया है। इसके द्वारा हमें यह समझाया गया है कि इस नश्वर शरीर को या इस परिवर्तनशील मन को आत्मा नहीं मानना चाहिए, बल्कि आत्मा एक ऐसी वस्तु है जो शरीर के अंगों से या चित्त की वृत्तियों से श्रेष्ठ है, एक ऐसी चीज जो प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर है, जिसे पकड़ा नहीं जा सकता, जिसे विषय नहीं बनाया जा सकता, जो सदा विषयी यानी ज्ञाता रहता है। मनुष्य इस प्रकृति-रूपी चक्र का एक अकस्मात् छिटका हुआ अंश नहीं है। आत्मा के रूप में वह जड़ प्रकृति और सामाजिक दुनिया से ऊपर है। जब तक हम मनुष्य की आत्मा की अन्तर्मुखता को, उसके विषयीभाव को समझने में समर्थ नहीं होते, तब तक स्वयं को भूले रहते हैं। हममें से अधिकांश लोग हमेशा दुनियावी बातों में खोये रहते हैं। हमें स्वास्थ्य, सम्पत्ति, संग्रह, जमीन-जायदाद की चिन्ता बनी रहती है। ये हमारे गुलाम नहीं बल्कि हम इनके गुलाम बने रहते हैं। ऐसे लोग ही आत्म-हन्ता कहलाते हैं। इसीलिए हमें इस देश में आत्म-लाभ का उपदेश किया गया है।

सब विद्याओं में अध्यात्म-विद्या श्रेष्ठ है—'अध्यात्मविद्या

विद्यानाम्'। उपनिषत् का वचन है: 'आत्मानं विद्धि' अर्थात् आत्मा को जानो। आचार्य शंकर ने आत्म-अनात्म-विवेक को अर्थात् आत्मा और अनात्मा के भेद के ज्ञान को मोक्ष-साधना का एक आवश्यक अंग माना है। इस दुनिया में आत्म-लाभ से ऊंची कोई भी वस्तु नहीं है। इसीलिए विभिन्न लेखकों ने हमें कहा है कि सच्चा आदमी वह है जो संसार की सब वस्तुओं का उपयोग आत्मा के सहज गौरव को प्राप्त करने के लिए करता है। उपनिषत् में कई स्थलों पर यह कहा गया है कि पति या पत्नी या सम्पत्ति—ये आत्मोपलब्धि के साधन हैं: आत्मनस्तु कामाय। जो तपस्या और निष्कलंक जीवन के द्वारा परम पद को प्राप्त करता है वह परमात्मा है। जिसने पूर्ण मुक्ति प्राप्त कर ली है वह अर्हत् है, वह पुनर्जन्म के बन्धन से अर्थात् काल की अधीनता से मुक्त हो जाता है।

महावीर के अन्दर हमें ऐसे पुरुष का दर्शन मिलता है जिसने सांसारिक वस्तुओं का त्याग किया, जो संसार के प्रलोभनों में नहीं पड़ा, बल्कि जो अपनी आत्मा के आन्तरिक गौरव को प्राप्त करने में सफल रहा। इस आदर्श का अनुसरण हम कैसे करें? किन साधनों का अवलम्बन करके हमें आत्म-लाभ हो सकता है? हमारे शास्त्र यह कहते हैं कि यदि हमें आत्म-ज्ञान की इच्छा हो तो हमें श्रवण, मनन और निदिध्यासन का अभ्यास करना चाहिए। भगवद्गीता कहती है: 'तद्विद्धिप्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया'। महावीर ने दर्शन, ज्ञान और चरित्र का उल्लेख करके इन्हीं तीन बातों का विधान किया है। हमारे अन्दर यह विश्वास या श्रद्धा होनी चाहिए कि कोई चीज इन दुनियावी चीजों से ऊपर है। कोरी श्रद्धा, अन्धा, अविचारशील विश्वास पर्याप्त नहीं है। मनन यानी ज्ञान का होना भी आवश्यक है। मनन श्रद्धा को ज्ञान में परिणत कर देता है।

कोरा सैद्धान्तिक ज्ञान भी पर्याप्त नहीं है। वाक्यार्थज्ञानमात्रेण नामृतम्---केवल पोथी पढ़कर अमरत्व की उपलब्धि नहीं हो सकती। मनन से प्राप्त सिद्धान्तों का हमें जीवन में अनुसरण करना चाहिए। इसलिए चरित्र भी समान रूप से आवश्यक है। हम दर्शन, प्रणिपात या श्रवण से प्रारम्भ करते हैं। इसके बाद ज्ञान, मनन या परिप्रश्न आता है; और तब निदिध्यासन, सेवा या चरित्र आता है। जैन विचारकों ने इन्हें आवश्यक बताया है।

चरित्र अर्थात् सदाचरण के नियम क्या हैं? जैन आचार्यों ने कई व्रतों का पालन करने का उपदेश दिया है। प्रत्येक जैन को पांच व्रत लेने पड़ते हैं: अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। लेकिन इनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण व्रत है अहिंसा। अहिंसा का अर्थ है प्राणियों को दुःख न पहुँचाना। कुछ लोग तो हिंसा के भय से कृषि तक छोड़ देते हैं क्योंकि मिट्टी को खोदने से कीड़ों की हत्या होती है। इस संसार में हिंसा से बिल्कुल बच निकलना सम्भव नहीं है। महाभारत में कहा गया है: 'जीवो जीवस्य जीवनम्'---जीव जीव पर जीवित रहता है।

इसलिए हमारा कर्तव्य यह है कि हम यथाशक्ति जीवहत्या से बचें---यत्नात् अल्पतरो भवेत्। प्रयत्न करके हमें बल-प्रयोग को घटाना चाहिए। इस प्रकार हमने अहिंसा के आदर्श को अपने सामने रखा है।

यदि हम इस आदर्श को मानते हैं तो फलस्वरूप हमारा एक नया दृष्टिकोण बन जाता है जिसे जैन ग्रन्थों में अनेकान्तवाद कहा गया है। जैन-धर्म के अनुसार 'केवल-ज्ञान' अर्थात् परमार्थ-सत्य हमारा आदर्श है। लेकिन वास्तव में हम जानते सत्य के केवल एक अंश को ही हैं। वस्तु अनेक धर्मात्मक है; उसके अनेक मुख होते हैं; उसके अन्दर अनेक गुण होते हैं। लोग उसके इस पक्ष या उस

पक्ष को जानते हैं; उनकी दृष्टि आंशिक, खण्डित, संशययुक्त होती है। पूर्ण सत्य का ज्ञान उनको नहीं होता। उसका ज्ञान केवल तभी हो सकता है जब मनुष्य अपनी वासनाओं पर विजय प्राप्त कर लेता है। इससे हमको यह मानना पड़ता है कि जिसे हम सत्य समझते हैं वह, सम्भव है, सत्य बिल्कुल न हो। इससे मानवीय कल्पनाओं की सन्दिग्धता मालूम पड़ती है। इससे हमारी यह धारणा बनती है कि हमारी गहरी से गहरी मान्यताएं अल्पस्थायी हो सकती और बदल सकती हैं। जैन ग्रन्थों में छः अन्धों के बारे में एक कथा आती है जो एक हाथी को जानना चाहते हैं। एक अन्धा हाथी का कान पकड़ता है और कहता है कि हाथी एक झूलता हुआ पंखा है। दूसरा उसका पैर पकड़ता है और कहता है कि हाथी एक खम्भा है। प्रत्येक अन्धा सत्य का केवल एक-एक अंश पकड़ता है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति परम सत्य का आंशिक ज्ञान रखता है। परम सत्य के ये अंश परस्पर विरोधी नहीं समझे जाने चाहिए। इनमें प्रकाश और अन्धकार का सम्बन्ध नहीं है, बल्कि इनका पारस्परिक सम्बन्ध वही है जो इंद्रधनुष के विभिन्न रंगों का आपस में है। इन्हें व्याघातक नहीं बल्कि विपरीत मात्र कहना चाहिए। ये सत्य के बारे में वैकल्पिक दृष्टियां हैं।

दुनिया आज नये जन्म की वेदना से पीड़ित है। हमारा लक्ष्य तो है दुनिया की एकता, लेकिन एकता के बजाय विभाजन ही हमारे युग की विशेषता है। आज जब हमारी दुनिया दो दुनियाओं में बँटी हुई है, हममें से कई यह सोचते हैं कि एक सही है और दूसरी ग़लत, और इसलिए दूसरी, जो ग़लत है, का बहिष्कार कर देना चाहिए। लेकिन इन दोनों को एक ही आधारभूत सत्ता के भिन्न-भिन्न पक्षों के रूप में देखा जा सकता है। सत्ता के किसी एक पक्ष को अधिक महत्त्व देना प्रायः वैसा ही है जैसा उपर्युक्त कथा के अन्धों

का दृष्टिकोण है जिनमें से हरेक हाथी को उसके उस अंग विशेष का आकार का बताता है जिसका वह स्पर्श करता है।

मनुष्य के कल्याण के लिए व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक न्याय दोनों ही आवश्यक हैं। सम्भव है कि हम इनमें से एक को दूसरे से अधिक महत्त्व देते हों। लेकिन जो जैनों के अनेकान्तवाद, सप्तभंगी-नय या स्याद्वाद को मानता है वह कभी इस प्रकार की सांस्कृतिक गुटबन्दी को प्रश्रय नहीं देगा। वह अपने और विरोधी मतों में पाये जाने वाले सत्य को असत्य के अंशों से पृथक् करेगा और उनसे एक नवीन संश्लेषण प्राप्त करने की चेष्टा करेगा। हमको भी यह दृष्टिकोण ग्राह्य होना चाहिए। इस प्रकार आत्म-संयम की आवश्यकता, अहिंसा का अभ्यास तथा दूसरों के मतों का उचित मूल्यांकन और इतर दृष्टिकोणों के प्रति सहनशीलता का भाव—इन शिक्षाओं को हम महावीर के जीवन से ग्रहण कर सकते हैं। अगर हम इन बातों को याद रखें और यहां से लौटते हुए इन सिद्धांतों को अपने हृदय में ले जायं, तो महावीर का जो हम पर ऋण है उससे हम अंशतः उऋण हो जायेंगे।

श्रीकृष्ण

(श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी-महोत्सव, कलकत्ता
१० अगस्त १९५५)

आधुनिक दुनिया की महान् उपलब्धियों, जन-कल्याण के उद्देश्यों से प्रेरित राज्यों की उपलब्धियों की—न्याय, क़ानून की दृष्टि में सब का समान होना, व्यापक शिक्षा, टेलीफ़ोन, रेडियो, समय पर चलने वाली रेलगाड़ियां इत्यादि की, हम प्रशंसा करते हैं। किन्तु हम यह नहीं भूल सकते कि विज्ञान की महान् देनें—पनडुब्बियों की लड़ाई, अणु-बम और उद्जन-बम, व्यापक संहार करने वाले हवाई हमले, कारागारों में लाखों का सामूहिक संहार इत्यादि, आतंक से हमें नहीं बचा सकी हैं। ये सब बातें यह प्रदर्शित करती हैं कि हम अपनी इच्छाओं को वश में करने के बजाय परिवेश को वश में करने के लिए अधिक चिन्तित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि हमारा लक्ष्य अधिक से अधिक शक्ति, यांत्रिक और आणविक शक्ति, प्राप्त करना बन गया है। हम देख रहे हैं कि तरक़्क़ी और ज्ञान की कई शताब्दियों के बाद भी बड़े-बड़े राष्ट्र और सभ्यता के नेता लोग क्रूरता, पर-पीड़न और अन्धविश्वास से मुक्त नहीं हुए हैं। लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि मानव-प्रकृति को नहीं बदला जा सकता। सरकारों की लोगों के विश्वासों को ढालने की शक्ति बहुत दिनों से बढ़ गयी है। हम लोगों को एक-दूसरे की हत्या के लिए प्रेरित कर सकते हैं और हम उन्हें समझदार तथा विवेकशील

भी बना सकते हैं। सरकारें जिस ओर चाहें उस ओर बड़े-बड़े जन-समुदायों को घुमा सकती हैं। हम अच्छाई या बुराई के लिए सामूहिक उत्साह पैदा कर सकते हैं।

इस देश ने शुरू से ही आदमी को ईश्वर का अंश माना है। आदमी का काम है अपने ईश्वरीय पद को प्राप्त करना। इसलिए इस देश ने गुफा के अन्दर ध्यान लगाने वाले साधु को पूजा है और उसे एक महल के अन्दर विलासमय जीवन बिताने वाले राजा या एक युद्ध-विजेता या एक उद्योग-पति की तुलना में कहीं अधिक आदर दिया है। एक संस्कृत श्लोक में कहा गया है : 'जिसका मन सच्चिदानन्द-स्वरूप-परब्रह्म में रम गया है उसका परिवार और उसकी माता धन्य है, यह सारी पृथ्वी उसको जन्म देने से धन्य है।' प्रत्येक मनुष्य का लक्ष्य यह होना चाहिए कि वह सर्वोच्च आध्यात्मिक सत्ता, परब्रह्म, से एकता प्राप्त करे।

श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में मनुष्य के इस अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करने का सर्वोत्तम तरीक़ा बताया है। उन्होंने हमसे यह नहीं कहा कि हम किसी बात पर एकाएक विश्वास कर लें या किसी के गौरव के कारण उसकी बात मान लें, बल्कि कहा है कि हमें स्वयं ही वस्तुओं की सचाई को खोजना चाहिए। यह विश्व-प्रक्रिया जो जड़ द्रव्य से जीवन में, जीवन से चेतना में, चेतना से विवेक में और विवेक से आत्मा में पहुँचती है, एक ऐसी आधारभूत सत्ता की अपेक्षा रखती है जो उसे सहारा दे, उसे शक्ति दे। चूंकि इस प्रकार की सत्ता बुद्धि के लिए अगम्य है, इसलिए शब्दों से उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वह एक महान् रहस्य है जिसकी महत्ता लोगों के विरोधी वर्णनों से प्रकट होती है।

श्रीकृष्ण का अवतरित होना एक विस्मृत ऐतिहासिक घटना नहीं है। श्रीकृष्ण हमारे हृदयों में जीवित हैं, वे सुदूर अतीत के एक

ऐसे पुरुष नहीं हैं जिनको बहुत पहिले भुला दिया गया हो। ईश्वर का अवतार तब होता है जब हम ईश्वरीय ज्योति को बन्द रखने वाली बाधाओं को तोड़ने में समर्थ हो जाते हैं। भागवत में कहा गया है : देवकी देवरूपिणी है। हममें से हरेक का दैवी स्वरूप होता है जो कि आसुरी प्रवृत्तियों से ढका रहता है। यदि हम बाहरी खोल को तोड़ने में समर्थ हो जायं तो अन्दर क़ैद रहने वाली दिव्य ज्योति स्वयं ही प्रकट हो जायेगी। यही ईश्वर का अवतार है, उस ईश्वर का जो हमारे अन्दर निवास करता है, जो हमारा सुहृत् है।

अपने अन्दर रहने वाले ईश्वर की प्राप्ति हम कैसे करें? इसके भिन्न-भिन्न प्रकृति वालों के लिए भिन्न-भिन्न उपाय बताये गये हैं, किन्तु भगवद्भक्ति का उपाय सबसे आसान है। नारद-भक्ति-सूत्र में कहा गया है कि भगवद्भक्तों में वर्ण, विद्या, रूप, जन्म, सम्पत्ति, व्यवसाय इत्यादि के भेद नहीं हैं। मानवीय गौरव की इन दुःखद विकृतियों का कोई भी धर्म उचित कहकर समर्थन नहीं कर सकता।

पिछली पांच सहस्राब्दियों से भारत का मनुष्य-जाति के लिए यह सन्देश रहा है कि यह दुनिया ही सब कुछ नहीं है, इसका धारण करने वाला : [illegible] उपायों से प्राप्त कर सकते हैं। यह सन्देश आज भी हमारे लिए महत्त्व रखता है। भारत का संकीर्ण राष्ट्रीयता या चुने हुए लोगों में विश्वास नहीं रहा। मानवता, सभ्यता सभी राष्ट्रों से ऊपर की चीज़ है, 'वाराणसी मेदिनी'। सारा जगत् हमारा परिवार है। हमें 'लोकसंग्रह' के लिए अर्थात् सारे जगत् के कल्याण के लिए काम करना चाहिए।

कोई जीवित संस्कृति गतिहीन नहीं होती। उसका प्रयत्न सदा ही स्थायी सन्तुलन, एकता, शान्ति प्राप्त करने के लिए होता है जिसमें सभी सामाजिक, आध्यात्मिक और वैयक्तिक तनाव शान्त

हो जाते हैं। यह एक ऐसी अवस्था होती है जिसमें मनुष्य आपस में, प्रकृति की शक्तियों के साथ तथा स्वयं अपने से शान्ति रखते हैं।

आज हमारे चित्त विभ्रान्त हो गये हैं। लोगों के अन्दर एक अविवेकशीलता, एक आवेगशीलता, एक नैतिक और आध्यात्मिक शून्यता दिखायी देती है। अजीब-अजीब आवाजें सुनायी देती हैं। अगर हमें ग़लत बातों से पथभ्रष्ट नहीं होना है, अगर हमें अपनी राष्ट्रीय पवित्रता को सुरक्षित रखना है, तो जो सन्देश प्राचीन काल से हम तक पहुँचा है उसे पुनर्जीवित करना होगा। हमें राम, कृष्ण, बुद्ध, चैतन्य जैसे महापुरुषों के उपदेशों को स्मरण करना होगा। हममें से सभी साधु तो नहीं हो सकते, किन्तु वाणिज्य, व्यापार, उद्योग, अध्यापन या चिकित्सा, जो कुछ भी हम करें, ईश्वर-भक्ति समझकर करें।

प्लैटो ने एक बार कहा था कि जब संगीत के रूप बदलते हैं तब नगर की दीवारें हिल जाती हैं। हमारे विचार और विश्वासों के रूप में परिवर्तन होना बढ़ती हुई बेचैनी का पहिला चिह्न है और यह शीघ्र ही राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्थाओं में स्वयं को प्रकट करेगा, जिसके फलस्वरूप दीवारें हिलने लगेंगी। हमें दुनिया की बदलती हुई परिस्थितियों के साथ बदलना चाहिए, लेकिन ऐसा करते हुए अपनी सांस्कृतिक विरासत के ढांचे के अन्दर ही रहना चाहिए।

कालिदास

(साहित्य-अकादमी द्वारा प्रकाशित कालिदास के ग्रन्थों के एक विशिष्ट संस्करण की भूमिका)

साहित्य की महान् कृतियां मानवीय अनुभव की गहराई से निकलती हैं। शताब्दियों के बाद बहुत ही भिन्न परिस्थितियों में रहने वाले हम लोगों तक पहुँचने पर वे ऐसी प्रतीत होती हैं कि जैसे वे हमारे अपने ही अनुभव की आवाज हों। वे हमारे अन्दर ऐसी बातों की प्रतिध्वनि पैदा करती हैं जिनके वहां होने की हमने कभी कल्पना नहीं की थी। व्यक्ति जितना ही अधिक स्वयं अपने अनुभव की गहराई में उतरता है उतनी ही अधिक उसे ऐसी बातें मिलती हैं जो अन्य देशों और युगों में रहने वालों के अनुभवों में भी आयी हैं। जो सबसे विलक्षण है वह सबसे सार्वभौम भी है। बुद्ध या प्लेटो के वार्तालाप, सोफोक्लीज और शेक्सपियर के नाटक राष्ट्रीय भी हैं और सार्वभौम भी। ऐतिहासिक परम्पराओं में जितनी ही अधिक गहरी उनकी जड़ें जमी होती हैं उतनी ही अधिक विलक्षण उनको अपनी जानकारी होती है और दूसरों के अन्दर उनकी प्रतिक्रिया भी उतनी ही अधिक शक्तिशाली होती है। महान् ग्रन्थ देश और काल की सीमाओं से बाहर होते हैं।

कालिदास भारत की अन्तरात्मा, गौरव और प्रतिभा के एक महान् प्रतिनिधि हैं। उनके ग्रन्थ भारत की राष्ट्रीय चेतना से उद्भूत हुए हैं। कालिदास ने भारत की सांस्कृतिक विरासत को आत्मसात् किया, [illegible] विशद और सार्वभौम बनाया। कालिदास

ने भारत की आध्यात्मिक प्रवृत्ति, उसके बौद्धिक विस्तार, उसकी कलात्मक अभिव्यक्तियां, उसकी राजनीतिक प्रणालियां और आर्थिक व्यवस्थाएं, इन सबको नूतन, सजीव और आकर्षक शब्दावली में व्यक्त किया। उनके ग्रन्थों में भाषा का सारल्य और ओज, उक्ति की यथार्थता, परिष्कृत रुचि, उदात्त विचार, कवि की तीव्र भावुकता और विचार और अनुभूति का ऐक्य अपने सर्वोत्तम रूप में दिखायी देते हैं। उनके नाटक करुणा, शक्ति और सौन्दर्य से ओत-प्रोत हैं तथा कथानक की रचना और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से उनके महान् कौशल को प्रकट करते हैं। कालिदास ने राजप्रासादों और पर्वत-शिखरों का, सुखी गृहों और वन के आश्रमों का वर्णन करने में समान कुशलता प्रदर्शित की है। उनका दृष्टिकोण सन्तुलित है जिसके कारण उच्च और निम्न स्तर के लोगों का, मछवाहों, दरबारियों और सेवकों का सहानुभूतिपूर्ण वर्णन करने में वे सफल रहे हैं। इन उच्च विशेषताओं के कारण उनके ग्रन्थ विश्व-साहित्य की सम्पत्ति बन गये हैं। उनके कथानक भारतीय हैं; फिर भी उनमें मानवता झलकती है। भारत में कालिदास को संस्कृत-साहित्य का सबसे बड़ा कवि और नाटककार माना जाता है। "पहिले कभी कवियों की गणना के प्रसंग में सर्वश्रेष्ठ होने के कारण कालिदास का नाम कनिष्ठिका पर आया। किन्तु आज तक उनके तुल्य कवि के अभाव के कारण अनामिका पर किसी का नाम न आ सका और इस प्रकार अनामिका का नाम सार्थक हुआ।"[१]

---

१ पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे
कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावात्
अनामिका सार्थवती बभूव॥

तिथि

परम्परा के अनुसार, कालिदास उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य के दरबार के एक रत्न थे। ये विक्रमादित्य ५७ ई० पू० में विक्रम-संवत् के प्रवर्तक हैं[1]।

विक्रमोर्वशीय के नायक का नाम पुरुरवस् से विक्रम हो जाना इस मत का समर्थन करता है कि कालिदास उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य के दरबार में थे। अग्निमित्र जो कि कालिदास के नाटक मालविकाग्निमित्र का नायक है, उतना प्रसिद्ध सम्राट् नहीं था कि कालिदास उस पर एक नाटक की रचना करते। उसका काल दूसरी शताब्दी ई० पू० था और उसकी राजधानी विदिशा थी। कालिदास का अग्निमित्र के कथानक को चुनना और मेघदूत में एक स्थल पर विदिशा को किसी राजा की प्रसिद्ध राजधानी

[1] जैन कालकाचार्य कथानक में यह उल्लेख है कि शकों ने उज्जयिनी पर आक्रमण किया और गर्धभिल्ल, जो कि महेंद्राचार्य कहलाता था, के वंश का उच्छेद कर दिया। कुछ काल पश्चात् गर्धभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने शकों को पराजित करके अपने राज्य की पुनः स्थापना की। यह भी कहा जाता है कि कालिदास-कृत विक्रमोर्वशीय विक्रमादित्य की इस विजय की स्मृति में रचा गया। उर्वशी महेंद्रादित्य की राजधानी उज्जयिनी है। एक राक्षस केशिन् अर्थात् दाढ़ी रखने वाले शकों के राजा ने उसको जीता जिससे वह निर्जन हो गयी और उर्वशी के समान एकलता के रूप में परिणत हो गयी। युवराज विक्रमादित्य ने अपने पिता महेंद्र से भी अधिक साहस दिखाकर राजधानी पर पुनः अधिकार कर लिया।

महेन्द्रोपकारपर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवान्।

'महेंद्र ने युवराज को सिंहासन सहित आनन्दपूर्ण ग्रहण किया।' अपनी महान् विजय की स्मृति में विक्रम ने एक नया संवत् चलाया जो बाद में उसके नाम से प्रसिद्ध हुआ।

बताना यह सूचित करता है कि कालिदास अग्निमित्र के समकालीन थे। इतना निर्विवाद है कि कालिदास अग्निमित्र (१५० ई० पू०) के पश्चात् और ६३४ ई०, जो कि प्रसिद्ध ऐहोल शिलालेख की जिसमें कालिदास को एक महाकवि कहा गया है तिथि है, के पूर्व पैदा हुए थे। कुछ लोगों का कथन है कि ४७३ ई० के मण्डसोर शिलालेख के लेखक को कालिदास के ग्रन्थों का ज्ञान था। यदि यह सत्य है तो कालिदास चौथी शताब्दी ई० से बाद के किसी हालत में नहीं हो सकते। अश्वघोष के बुद्धचरित और कालिदास के ग्रन्थों में कई समानताएं हैं। यदि अश्वघोष ने कालिदास से इन्हें ग्रहण किया हो तो कालिदास पहिली शताब्दी ई० से पूर्व हुए।[1] यदि कालिदास ने अश्वघोष से उन्हें ग्रहण किया हो तो उनका काल पहिली शताब्दी ई० के बाद ही होगा।

कुछ विद्वानों का मत यह है कि कालिदास गुप्त-काल में हुए थे और वे विक्रमादित्य का पद धारण करने वाले चंद्रगुप्त द्वितीय के शासन-काल में जीवित थे।[2]

---

[1] निम्नलिखित श्लोक में कालिदास के मत की आलोचना छिपी मालूम होती है:

> शैलेन्द्रपुत्रीं प्रति येन विद्धो देवोऽपि शम्भुश्चलितो बभूव।
> न चिन्तयत्येष तमेव बाणं किं स्यादचित्तो न शरः स एषः॥

निम्नलिखित पंक्तियों को भी देखिये:

> जडीकृतस्त्र्यम्बकवीक्षणेन वज्रं मुमुक्षन्निव वज्रपाणिः।
> —रघुवंश २, ४२

> तस्तम्भबाहुः सगदस्ततोऽस्थ पुरन्दरस्येव पुरा सवज्रः।
> —बुद्धचरित

[2] प्रो० ए० बी० कीथ लिखते हैं:

"कालिदास अश्वघोष के और नाटककार भास के बाद हुए: कालिदास

चंद्रगुप्त द्वितीय ३४५ ई० में सिंहासनासीन हुआ था और उसने ४१४ ई० तक राज्य किया। कालिदास का काल जो भी माना जाय उसका केवल अनुमान ही किया जा सकता है।

ग्रन्थ

कालिदास ने अपने बारे में बहुत कम कहा है। इसलिए जितने ग्रन्थ उनके बताये जाते हैं उनका उन सभी का कर्ता होना निश्चित नहीं है। फिर भी, निम्नलिखित ग्रन्थों का कालिदास-कृत होना सब मानते हैं :

१. अभिज्ञान-शाकुन्तल—यह सात अंकों का एक नाटक है जिसमें दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रणय और विवाह का वर्णन है।

ने 'जामित्र' शब्द का प्रयोग किया है जिससे उनको यूनानी शब्दों का ज्ञान होना सिद्ध होता है; उनके नाटकों की प्राकृत निश्चय ही अश्वघोष और भास के परवर्ती काल की है और इसलिए उनका काल गुप्त-काल से पहिले नहीं हो सकता।......यह स्मरण रखना चाहिए कि चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के नाम से प्रसिद्ध था और परम्परा इसी नाम के साथ कालिदास का हमेशा सम्बन्ध जोड़ती आयी है। यह भी हो सकता है कि 'कुमारसम्भव' नाम में किशोर कुमारगुप्त की ओर संकेत हो या विक्रमोर्वशीय में विक्रमादित्य के पद की ओर संकेत हो।"

—ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर (१९२०), पृष्ठ ८०

सर विलियम जोन्स कालि[illegible] ई० पू० मानते हैं। डॉ० पीटरसन कहते हैं : [illegible] तो ईस्वी सन् के प्रारम्भ के आस-पास हुए होंगे।

आर० टी० एच० ग्रिफ़िथ कहते हैं : "जब होरेस और वर्जिल ऑगस्टस के राज्य को अमर प्रकाश से दीप्त कर रहे थे, उस समय के आस-पास हमारे कवि कालिदास संस्कृत-साहित्य के अत्युदार संरक्षकों के दरबार को जो कि अपनी पूर्णता के शिखर पर था, सुशोभित कर रहे थे।"

—'दि बर्थ ऑव दि वार गॉड' (१९१८) के प्राक्कथन से उद्धृत

२. विक्रमोर्वशीय---यह पांच अंकों का एक नाटक है जिसमें पुरुरवस् और उर्वशी के प्रणय और विवाह का वर्णन है।

३. मालविकाग्निमित्र---यह भी पांच अंकों का एक नाटक है जिसमें मालविका और अग्निमित्र के प्रणय का वर्णन है।

४. रघुवंश---यह उन्नीस सर्गों का एक महाकाव्य है जिसमें सूर्यवंश के राजाओं का वर्णन है।

५. कुमारसम्भव---यह भी १७ सर्गों का एक महाकाव्य है जिसमें शिव और पार्वती के विवाह तथा युद्ध के देवता कुमार के जन्म का वर्णन है।

६. मेघदूत---यह १२९ श्लोकों का एक काव्य है और इसमें एक यक्ष मेघ के द्वारा अपनी पत्नी के लिए सन्देश भेजता है।

७. ऋतुसंहार---इसमें षड् ऋतुओं का वर्णन है।

कालिदास ने अपने कथानक इस देश की परम्परागत कथाओं से लिये हैं और अपने उद्देश्य के अनुसार उनमें परिवर्तन किये हैं। उदाहरणार्थ, महाभारत में जो शकुन्तला का प्रसंग है उसमें शकुन्तला को एक स्वार्थ को दृष्टि में रखने वाली सांसारिक युवती के रूप में दिखाया गया है और दुष्यन्त को एक स्वार्थी प्रेमी के रूप में। किन्तु कालिदास ने शकुन्तला का जो चित्रण किया है वह एक आश्रम-कन्या के हृदय में प्रणय का अंकुर फूटने से शुरू होता है, वियोग और निराशा की भूमिकाओं से गुजरता है और अन्त में प्रणय की पूर्णता में जाकर समाप्त होता है। कालिदास ने स्वयं ही कहा है कि नाटक के अन्दर जीवन की विविध बातों का समावेश होना चाहिए, तथा उसे विभिन्न रुचि वाले लोगों को आकर्षण और माधुर्य प्रदान करने वाला होना चाहिए।

त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते।
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्॥

कालिदास के कुछ कथानक, जैसे मेघ का सन्देश ले जाना,[1] अवास्तविक प्रतीत होते हैं। कालिदास ने इस आपत्ति को ध्यान में रखते हुए कहा है :

धूमज्योतिःसलिलमरुतां संनिपातः क्व मेघः।
सन्देशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः॥
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन् गुह्यकस्तं ययाचे।
कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु॥

'कहां तो एक धूम, ज्योति, सलिल और मरुत् से बना हुआ जड़ मेघ और कहां वे सन्देश जिनका वहन केवल मज़बूत अंगों वाले प्राणी ही कर सकते हैं। इसका विचार न करके अति उत्सुक यक्ष मेघ से अपना सन्देश ले जाने की प्रार्थना करता है। सत्य है, कामार्त लोग स्वभाववश चेतन और अचेतन में भेद करने में असमर्थ रहते हैं' (मेघदूत १.५)। शायद कालिदास को विरह-पीड़ित यक्ष की वेदना का सुझाव रामायण में वर्णित राम के विरह से मिला होगा।

कालिदास के जीवन की सूक्ष्म बातों की जानकारी हमें नहीं है। उनके नाम के साथ अनेक कल्पित कथाएं जुड़ी हुई हैं जिनका ऐतिहासिक मूल्य नहीं के बराबर है। स्वयं उनके ग्रन्थों से स्पष्ट है कि वे एक सभ्यता, सुरुचि और विलास के युग में पैदा हुए थे, वे गायन और नृत्य, चित्र-निर्माण और रंगसाज़ी की कलाओं के प्रति अत्यधिक अनुरक्त थे, तत्कालीन विद्याओं से परिचित थे, धर्मशास्त्र के अभिज्ञ थे तथा दर्शनों और धार्मिक कृत्यों के विद्वान् थे।

[1] मेघ के द्वारा सन्देश भिजवाना एक बहुत प्राचीन बात है। एक चीनी कवि त्सू युआन (मृत्यु २७८ ई० पू०) की कविता में मेघ को सन्देश-वाहक बनाया गया है।

उन्होंने सारे भारत में भ्रमण किया था और वे हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक देश के भूगोल से खूब परिचित थे। उन्होंने हिमालय के दृश्यों का और काश्मीर में पैदा होने वाले केशर-पुष्प का जो विशद चित्रण किया है वह ऐसे व्यक्ति का चित्रण है जिसने उन्हें स्वयं देखा हो। वे प्राकृतिक और मानवीय सौन्दर्य के प्रति अत्यधिक संवेदनशील थे।

कालिदास के अन्दर आत्म-विश्वास था। एक स्थल पर उन्होंने कहा है : 'यदि आपका हृदय करुणा से द्रवित होने वाला है तो मेरे इस सर्ग का प्रतिषेध न करें।'

तदेष सर्गः करुणार्द्रचित्तै-
र्न मे भवद्भिः प्रतिषेधनीयः ॥
—रघु० १४.४२

आत्म-विश्वास का यह भाव कालिदास की विनम्रता के प्रतिकूल नहीं है। रघुवंश के प्रारम्भ में ही कालिदास ने माना है कि सूर्य-वंश का वर्णन उनकी अल्प-बुद्धि के परे है।

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥
—रघु० १.२

'कहां तो सूर्य-वंश और कहां मेरी यह अल्पविषयज्ञ बुद्धि? एक उडुप (बेड़ा) की सहायता से मैं मोह-वश दुस्तर सागर को पार करना चाह रहा हूं।'

मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः ॥
—रघु० १.३

'मन्द होकर भी कवि-यश की इच्छा करने वाला मैं अवश्य उपहास का पात्र बनूंगा, जैसे कि एक बौना जो लोभ-वश लेकर

दीर्घकाय व्यक्ति को प्राप्त हो सकने वाले फल की ओर हाथ बढ़ाता है।' फिर भी कालिदास ने रघुवंश के राजाओं का वर्णन करने का साहस किया है और इसका कारण बताते हुए कहा है कि प्राचीन कवियों ने मार्ग-प्रदर्शन करके उनकी कठिनाई दूर कर दी है और कि रघुवंशियों के चरित्र इतने उत्कृष्ट हैं कि उनका वर्णन किये बिना नहीं रहा जाता (रघु० १.३–४)।

वामन ने काव्यालंकार में रीति को विशिष्ट पद-रचना कहा है और वैदर्भी रीति, जिसमें कि कालिदास सिद्धहस्त हैं, की निम्न-लिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है :

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजःकान्तिसमाधयः॥

जिस बात को अन्य लोग विस्तृत कथन करके भी ठीक-ठीक नहीं समझा पाते उसे कालिदास थोड़े से शब्दों की सहायता से ही हृदयंगम करा देते हैं। कालिदास शब्दों के संयम और वाणी की स्वाभाविकता के लिए प्रसिद्ध हैं। उनकी शब्द-योजना में अर्थ और ध्वनि का साम्य रहता है। उनके शब्द-चित्रों की सुन्दरता और पूर्णता देखते ही बनती है। उदाहरण के रूप में विक्रमोर्वशीय (१.४) में द्रुत गति से दौड़ते हुए राजा के रथ का वर्णन, अभि-ज्ञान-शाकुन्तल (१.७) में दौड़ते हुए हरिण का वर्णन, विक्रमो-र्वशीय (५.१५) में उर्वशी के रोदन का, विक्रमोर्वशीय (५.१९) में ही नारद के आकाश में चलते-फिरते कल्पवृक्ष के समान प्रकट होने का वर्णन लिये जा सकते हैं। उपमा का प्रयोग करने में भी कालिदास सिद्धहस्त हैं।

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यम्।
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति॥

इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी ।
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥
—अभि० १.१७

'काई से लिपटे होने पर भी कमल रम्य है। चंद्रमा का धब्बा मैला होने पर भी उसके सौन्दर्य को बढ़ाता है। यह कृश शरीर वाली वल्कल धारण करके भी अधिक मनोज्ञ है। कौन ऐसी चीज़ है जो सुन्दर आकृतियों को सुशोभित न करे ?'

एक और उदाहरण लीजिये :

एको हि दोषो गुणसन्निपाते ।
निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ॥

'जिस प्रकार चंद्रमा की किरणों के मध्य कलंक अदृश्य हो जाता है उसी प्रकार गुणों के ढेर के अन्दर एक दोष छिप जाता है।' अलंकारों के प्रयोग में कालिदास की सिद्धहस्तता के दृष्टान्त उनके ग्रन्थों के प्रायः प्रत्येक पृष्ठ में भरे पड़े हैं।

उपदेश देने के लिए कालिदास एक प्रिय पत्नी के प्रेमपूर्ण आग्रह की विधि को अपनाते हैं। मम्मट ने कहा है : कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे; रामादिवत् वर्तितव्यम्, न रावणादिवत्। वे उच्च आदर्शों को कलापूर्ण विधि से सामने रखकर हमसे स्वीकार करवाते हैं। कालिदास जिस चरित्र को हमारे सामने रखते हैं हम उससे एकाकार हो जाते हैं जिससे हमें मानवीय स्वभाव का अच्छा ज्ञान हो जाता है। कालिदास ने अपने समृद्ध [illegible] का एक महान् सांस्कृतिक परम्परा के [illegible] और उसकी मुक्ति, व्यवस्था और प्रेम के आदर्शों [illegible] की है। उन्होंने संसार से समायोजन करने के [illegible] की इच्छाओं, प्रेरणाओं, आशाओं, स्वप्नों, सफलताओं और विफ-

लताओं को व्यक्त किया है। भारत सदैव एक समग्र और अखण्ड जीवन का पक्षपाती रहा है और उसको खण्डित करने का विरोधी रहा है। कालिदास ने आत्मा को खण्डित करने वाले मानसिक द्वंद्वों का वर्णन किया है और उसे अखण्ड बनाये रखने में हमारी सहायता की है।

कालिदास के ग्रन्थों में सुन्दरता के क्षण, साहस और बलिदान के कार्य तथा मानव-हृदय की चलायमान अवस्थाएं हमारे लिए सुरक्षित हैं। वे मानवीय समस्याओं पर अनिर्वचनीय प्रकाश फेंकते हैं। कालिदास एक महाकवि हैं और अनिर्वचनीय प्रकाश की प्राप्ति के इच्छुक सदा ही उनके ग्रन्थों को पढ़ते रहेंगे। कालिदास की अनेक उक्तियां आज संस्कृत की लोकोक्तियां बन गयी हैं।

धर्म

कुमारसम्भव के प्रथम श्लोक में कवि ने हिमालय की तुलना पूर्वी और पश्चिमी सागरों के बीच फैले हुए एक मानदण्ड से की है।

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा।
हिमालयो नाम नगाधिराजः॥
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य।
स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः॥

इससे कालिदास ने यह संकेत किया है कि हिमालय-प्रदेश में जिस संस्कृति का विकास हुआ है उसे संसार की संस्कृतियों का मानदण्ड माना जा सकता है।[१] यह संस्कृति मूलतः आध्यात्मिक

[१] मनुस्मृति का यह श्लोक देखिये :

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

है। साधारणतया हम काल-चक्र में बँधे रहते हैं और इसलिए भौतिक अस्तित्व की संकीर्ण सीमाओं से बाहर नहीं निकल पाते। हमारा लक्ष्य यह होना चाहिए कि हम काल के बन्धन से स्वयं को ऊपर उठावें और उस तत्त्व का अनुभव करें जो काल और परिवर्तन के पीछे और परे है, जो स्थिर है, जो स्वयं निरपेक्ष और शाश्वत सत्ता है। वह विचारातीत है; हम उसे प्रत्ययों, प्रतिमाओं और शब्दों में नहीं बांध सकते। जितना हम सोच सकते हैं और कह सकते हैं, उससे कहीं अधिक जानते हैं। आदमी का चरम लक्ष्य अनुभव के द्वारा इस निरपेक्ष सत्ता का ज्ञान करना है। रघुवंश में कालिदास ने कहा है : ब्रह्मभूयां गतिं आजगाम। बोधप्राप्त मनुष्य सार्वकाल अमर जीवन का अधिकारी होता है। सुकृत करने वाला स्वर्ग को प्राप्त करता है। तत्त्व का ज्ञान हमें अपनी अन्तरात्मा से होता है : आत्मानमात्मना वेत्सि (कुमारसम्भव २.१०; भगवद्गीता १०.१५)। ब्रह्म वेद्य और वेदिता दोनों है : वेद्यं च वेदिता चासि (कुमारसम्भव २.१५; भगवद्गीता ११.१७)। यमक्षरं वेदविदो विदुस्तं आत्मानमात्मन्यवलोकयन्तम् (कुमारसम्भव ३.५०)। ब्रह्म का जीवन तपोमय है। वह दूसरों को तप का फल देता है, किन्तु स्वयं तप करता है : स्वयं विधाता तपसः फलानां केनापि कामेन तपश्चचार (कुमारसम्भव १.५७)।

ब्रह्म कदापि तम से व्याप्त नहीं होता। वह जड़ और चेतन के भेद से परे है। वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् है। वह ब्रह्मा, विष्णु और शिव, इन तीन मूर्तियों में प्रकट होता है जो विश्व के क्रमशः उत्पत्तिकर्ता, पालनकर्ता और संहारकर्ता हैं। ये तीनों देवता समान पद रखते हैं और उपासना के हेतु इनमें से किसी भी एक को लिया जा सकता है। दैनिक जीवन में कालिदास शिव के उपासक थे। उनके तीनों नाटकों के प्रारम्भ में शिव की स्तुति की गयी है।

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री।
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्॥
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः।
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः॥
—शाकुन्तल

'जो (अग्नि) स्रष्टा की प्रथम सृष्टि है और विधिपूर्वक हवन की हुई आहुति का वहन करती है, जो हवि है और जो होत्री (पुरोहित) है, जो दो (सूर्य और चंद्रमा) काल का विधान करती है, जो शब्द-गुण से युक्त होकर (आकाश) सारे विश्व को व्याप्त किये है, जिसे (पृथिवी) सारे बीजों का मूल कहा जाता है, और जिसके कारण (वायु) प्राणी प्राण धारण करते हैं, भगवान् शिव प्रसन्न होकर अपनी इन आठ मूर्तियों के द्वारा तुम्हारी रक्षा करें।'

वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी।
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः॥
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते।
स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः॥
—विक्रमोर्वशीय

'जिसे वेदान्त में परम पुरुष कहा गया है, जो (पृथ्वी और आकाश दोनों को) व्याप्त करके भी शेष है, जो अकेला यथार्थाक्षर ईश्वर-नाम को धारण करता है, मोक्ष चाहने वाले प्राण इत्यादि का संयम करके जिसे अपने अन्तर में ढूंढ़ते हैं, वह स्थिर भक्तियोग से सहज ही प्राप्त होने वाला स्थाणु तुम्हें निःश्रेयस् प्रदान करें।'

यहां ईश्वर-प्राप्ति के तीन उपायों, ज्ञान, योग और भक्ति का उल्लेख हुआ है और भक्ति को सबसे सरल उपाय बताया गया है।

एकैश्वर्ये स्थितोऽपि प्रणतबहुफले यः स्वयं कृत्तिवासाः।
कान्तासम्मिश्रदेहोऽप्यविषयमनसां यः पुरस्ताद्यतीनाम्॥

अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाभिमानः।
सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः॥
—मालविकाग्निमित्र

'जो अपने भक्तों को प्रभूत फल देने वाले परम ऐश्वर्य में स्थित होकर भी स्वयं गजचर्म का वस्त्र पहिनता है, जो कान्ता से मिश्रित देह वाला होकर भी विषयों से हीन मन वाले यतियों का अग्रणी है, जो अपनी आठ देहों से सम्पूर्ण जगत् को धारण करके भी अभिमान से शून्य है, वह ईश (शिव) तुम्हें सन्मार्ग दिखाने के लिए तुम्हारी तामसी वृत्ति को दूर करे।'

रघुवंश का प्रथम श्लोक इस प्रकार है :

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

मालविकाग्निमित्र में ईश्वर से हमें सन्मार्ग पर लाने की प्रार्थना की गयी है, विक्रमोर्वशीय में ईश्वर को भक्ति-योग-सुलभ कहा गया है, शाकुन्तल में ईश्वर अपनी आठ मूर्तियों में दिखायी देता है। धर्म का लक्ष्य ईश्वर का साक्षात्कार है।

कालिदास ने भगवान् की शिव के रूप में उपासना की है। फिर भी वे प्रकारान्तर से उपासना करने वालों के प्रति अनुदार नहीं थे। हिन्दुओं[1] की जो परम्परागत धार्मिक सहिष्णुता प्रसिद्ध है वह कालिदास में भी दिखायी देती है। मतान्तरों के प्रति भी उन्होंने अत्यधिक आदर प्रकट किया है। रघुवंश में देवता विष्णु

---

[1] युवान च्वांग ने लिखा है कि प्रयाग के महोत्सव में हर्ष प्रथम दिन एक मूर्ति बुद्ध को अर्पित करता था, दूसरे दिन अपने पिता के उपास्य देवता सूर्य को, और तीसरे दिन शिव को।

के पास जाकर उनकी स्तुति करते हैं। कुमारसम्भव (२.३.४, ९, १०) में ब्रह्मा की देवाधिदेव के रूप में स्तुति की गयी है और उन्हें विश्व का आदि, मध्य और अन्त कहा गया है।

अथ सर्वस्य धातारं ते सर्वे सर्वतोमुखम्।
वागीशं वाग्भिरर्थ्याभिः प्रणिपत्योपतस्थिरे॥
नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने।
गुणत्रयविभागाय पश्चाद्भेदमुपेयुषे॥
जगद्योनिरयोनिस्त्वं जगदन्तो निरन्तकः।
जगदादिरनादिस्त्वं जगदीशो निरीश्वरः॥
आत्मानमात्मना वेत्सि सृजस्यात्मानमात्मना।
आत्मना कृतिना च त्वं आत्मन्येव प्रलीयसे॥

कालिदास को धर्म के सभी रूपों से सहानुभूति है और पक्षपात तथा धर्मान्धता से वे मुक्त हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी पसन्द के मार्ग का अनुसरण कर सकता है (कुमारसम्भव १०.२६), क्योंकि सभी देवता एक ही परमात्मा की अभिव्यक्तियाँ हैं जो कि सब रूपों का आधार होते हुए भी स्वयं अरूप है।

त्वमेव हव्यं होता च भोज्यं भोक्ता च शाश्वतः।
वेद्यं च वेदिता चासि ध्याता ध्येयं च यत्परम्॥
—कुमारसम्भव २.४,१५

एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा।
—कुमारसम्भव ७.४४

धर्म का लक्ष्य काल की अधीनता से, पुनर्जन्म से मुक्ति पाना है, जिसकी प्रार्थना दुष्यन्त ने शाकुन्तल के अन्तिम श्लोक में की है।

ममापि च क्षपयतु नीलकण्ठः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः।

अज को सिंहासन देने के पश्चात् रघु वानप्रस्थ ग्रहण करते

हैं, चिन्तन का जीवन बिताते हैं और जो अन्धकार के परे है उसका लाभ करते हैं।

तमसः परमापदव्ययं पुरुषं योगसमाधिना रघुः।
- रघुवंश ८.२४

जब तक धर्म का लक्ष्य, परम पुरुष का साक्षात्कार, काल-बन्ध से मोक्ष, प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक हमें अपने साध्य की ओर प्रगति करते रहने के अवसर प्राप्त होते रहेंगे। इस महायात्रा में हम कर्म के नियम के शासन में रहेंगे। कालिदास ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को माना है।

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकी भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वम्
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥

जब राम सीता को वनवास देते हैं तब सीता यह प्रार्थना करती है कि दूसरे जन्म में उसे पति-वियोग की पीड़ा न हो, इस हेतु वह तपस्या करेगी।

यह जीवन पूर्णता के मार्ग का एक सोपान है। जिस प्रकार यह जीवन पिछले जन्म के कर्मों का फल है, उसी प्रकार अगला जन्म भी इस जन्म का फल होगा और इसलिये इस जीवन में प्रयत्न करके हम अपने भविष्य को सुधार सकते हैं। संसार एक नैतिक शासन के अधीन है। अन्त में शुभ की विजय निश्चित है। कालिदास के नाटक दुःखान्त नहीं हैं, और इसका कारण यह है कि वे समरसता और सौभाग्य को अन्तिम सत्य मानते हैं। इस विश्वास के साथ वे बहुसंख्यक जनों के दुर्भाग्य के प्रति हमारी सहानुभूति जगाते हैं।

नीति

कालिदास के ग्रन्थों से यह भ्रम दूर हो जाता है कि हिन्दू लोग केवल लोकोत्तर बातों को ध्यान में रखते थे और इस लोक की बातों की उपेक्षा करते थे। कालिदास के अनुभव का क्षेत्र बहुत व्यापक था। उन्होंने जीवन का उपभोग किया, मनुष्यों, तस्वीरों और पुष्पों से मन बहलाया। उन्होंने मनुष्यों को विश्व से और धर्म की शक्तियों से पृथक् नहीं किया। मनुष्य के दुःख और इच्छा के, अल्प सुख और अनन्त आशा के पूरे विस्तार की उन्हें जानकारी है। उन्होंने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की एकता की ओर संकेत किया है। अर्थ और काम पर धर्म का शासन होना चाहिए। साधन और साध्य परस्पर जुड़े हैं। जीवन जीने के योग्य केवल तब बनता है जब सम्बन्ध सही हों। कालिदास का कार्य उन सम्बन्धों को शुद्ध करना और उज्ज्वल करना था।

रघुवंश में प्रथम राजा दिलीप का वर्णन करते हुए कालिदास ने कहा है कि उसके अर्थ और काम धर्म में स्थित थे।

> अप्यर्थकामौ तस्यास्तां धर्म एव मनीषिणः।
>
> —रघुवंश १.२५

कालिदास ने ऐसा अनुभव नहीं किया कि धर्म और प्रगति में से एक ही का चुनाव हो सकता है। ये परस्पर विरोधी नहीं हैं।

इतिहास प्राकृतिक नहीं बल्कि नैतिक चीज है। वह घटनाओं का अनुक्रम मात्र नहीं है। उसका सार एक आध्यात्मिक चीज है जो घटनाओं के नीचे गतिमान रहती है। इतिहासकार को अन्दर प्रवेश करके उस आन्तरिक नैतिक शक्ति को पकड़ना चाहिए। इतिहास मनुष्य की नैतिक इच्छा की सृष्टि है। मनुष्य की नैतिक इच्छा स्वतंत्रता और सृजनशीलता में प्रकट होती है।

रघुवंश के राजा जन्म से पवित्र थे और उन्होंने पृथिवी से समुद्र तक फैले हुए विस्तृत प्रदेश पर राज्य किया—आसमुद्र-क्षितीशानाम् (रघुवंश १.५)। उन्होंने दान के हेतु धन-सम्पत्ति का संग्रह किया, सत्य का पालन करने के हेतु मितभाषण किया, यश-प्राप्ति के हेतु विजय की कामना की तथा सन्तानोत्पत्ति के हेतु विवाह किया। उन्होंने बाल्य-काल में ही ज्ञान का अर्जन किया, यौवन में जीवन के सुखों का उपभोग किया, वृद्धावस्था में संन्यास ग्रहण किया और अन्त में योग से शरीर-त्याग किया।

त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्॥
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥
—रघुवंश १.७-८

एक समय गुरु के पास रहकर विद्याभ्यास करने का होता है, एक समय गार्हस्थ्य का होता है और जीवन के अन्त का समय शाश्वत वस्तुओं में ध्यान लगाने का होता है। विक्रमोर्वशीय में राजा अपने पुत्र को समझाता है कि यह ब्रह्मचर्य-आश्रम की समाप्ति के पश्चात् गार्हस्थ्य में प्रवेश करने का समय है।

अयि वत्स उषितं त्वया पूर्वस्मिन्नाश्रमे द्वितीयमध्यासितुं तव समयः।
—रघुवंश ५

रघुवंशी राजा अपनी प्रजा की समृद्धि के हेतु कर लेते थे—प्रजानामेव भूत्यर्थम् (रघुवंश १.१८), जिस प्रकार सूर्य पानी का शोषण उसका कई-गुना वापस देने के लिए करता है। शासकों को धर्म और न्याय का पालन करना चाहिए। राजा प्रजा का सच्चा पिता होता है, वह उसे शिक्षा देता है, उसकी रक्षा करता है और

उसको आजीविका देता है, जबकि जो पिता कहलाते हैं वे केवल जन्म ही देते हैं।

> प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि।
> स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः॥
> —रघुवंश १.२४

अज के राज्य में प्रत्येक व्यक्ति यह सोचता था कि वह राजा का व्यक्तिगत मित्र है।

> अहमेव मतो महीपतेरिति सर्वः प्रकृतिष्वचिन्तयत्।
> —रघुवंश ८.८

शाकुन्तल में दुष्यन्त को यह उपदेश दिया गया है: 'तुम्हारा शस्त्र दुःखियों की रक्षा के लिए है, निरपराधों की हत्या के लिए नहीं।' आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुं अनागसि (शाकुन्तल १.१०)। भरत को, जो कि दुष्यन्त और शकुन्तला का पुत्र है और जिससे इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा, सर्वदमन कहा गया है—अर्थात् वह जिसने न केवल वन के सब हिंस्र पशुओं का दमन कर दिया है बल्कि आत्म-दमन भी किया है। शासक के लिये आत्म-दमन आवश्यक है।[1]

रघुवंश (१९) में अग्निवर्ण अत्यधिक विलासी बन गया। उसकी रखैलों की संख्या इतनी है कि उसे हरेक का नाम भी याद नहीं रहता। उसको एक घातक बीमारी लग जाती है और चूंकि उस हालत में भी वह विषय-सुखों को नहीं छोड़ सकता, इस-लिए वह मर जाता है।

कालिदास ने ऋषि-मुनियों के, [illegible] के तथा

[1] कौटिल्य में [illegible] इति लोकस्य भरणात्। इसका नाम भरत इसलिए है कि वह लोक का भरण करता है। [illegible]

उनके उदार चरित्र के चित्र उपस्थित किये हैं। ये सभ्यता के संचालक मस्तिष्क हैं। उदारता और आत्म-संयम उनके विशिष्ट गुण हैं। अच्छे जीवन के लिए अनुशासन आवश्यक है। कालिदास ने कहा है : 'हे कल्याणि, खान से निकला हुआ मणि जब तक काटा-छांटा नहीं जाता तब तक उसका सोने से संयोग नहीं हो सकता।'

अप्याकरसमुत्पन्ना मणिजातिरसंस्कृता।
जातरूपेण कल्याणि न हि संयोगमर्हति॥
—मालविकाग्निमित्र ५.१८

देश की परम्परा के अनुसार कालिदास ने संन्यास की प्रशंसा की है।

शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः।

शम जिनका प्रधान गुण है और तप जिनका धन है, ऐसों के अन्दर दाहात्मक तेज छिपा हुआ है (शाकुन्तल २.७)। कालिदास ने तप की प्रशंसा और ऋषि-मुनियों की पूजा अवश्य की है, किन्तु भिक्षा-वृत्ति का समर्थन नहीं किया है।

धर्म के नियम गतिहीन और अपरिवर्तनशील नहीं हैं। भूतकाल से जो परम्परा चली आ रही है उसकी अपनी अन्तर्दृष्टि और ज्ञान के बल पर व्याख्या करनी चाहिए। परम्परा और व्यक्तिगत अनुभव एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। हम अतीत से प्राप्त करते हैं और भविष्य को दान करते हैं। प्रत्येक के व्यवहार को सही रास्ता दिखाने वाली उसकी ही अन्तरात्मा होनी चाहिए। जब भगवद्गीता के प्रथम अध्याय में अर्जुन युद्ध करने के क्षत्रियोचित धर्म से विमुख होकर समाज की मांग को ठुकरा देता है, जब सुकरात एथेंस के लोगों को पुकार कर कहता है कि 'मैं तुम्हारा आदेश नहीं

बल्कि ईश्वर का आदेश मानूंगा', तब ये बाह्य नियम की अपेक्षा अपनी अन्तरात्मा की आवाज का ही अनुसरण करते हैं।

कालिदास ने कहा है कि जब हमें कर्तव्य का निश्चय न होता हो तब अपने अन्तःकरण की आवाज के अनुसार काम करना चाहिए।

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु।
प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥[1]
— शाकुन्तल १. १९

प्रकृति-प्रेम

प्राचीन वैदिक साहित्य में सारी जड़-चेतन-मय सृष्टि की एकता का संकेत मिलता है और अनेक वैदिक देवता प्रकृति की प्रमुख शक्तियों के ही पुरुषीकृत रूप हैं। प्राचीन काल से ही हम ब्रह्म के साक्षात्कार के लिए प्रकृति की शरण में जाने की, पर्वत-शिखर या वन में आश्रम-वास करने की सोचते रहे हैं। हम प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं और प्रकृति से प्रभावित होते रहते हैं। रात, दिन और ऋतुओं के परिवर्तन के साथ हमारी मनोदशाएं बदलती रहती हैं और हमारे जीवन में तब्दीलियां होती रहती हैं। कालिदास ने प्रकृति को यांत्रिक और जड़ चित्रित नहीं किया है। कालिदास प्रकृति पर मुग्ध हैं। उनके पात्र पेड़-पौदों, पर्वतों और नदियों के प्रति अत्यधिक संवेदनशील हैं और पशुओं के लिये उनके हृदय में भ्रातृ-भाव है। कालिदास ने अपने ग्रन्थों में खिलते हुए पुष्पों, उड़ते हुए पक्षियों और कूदते हुए पशुओं को चित्रित किया है। रघुवंश (२)

[1] मनुस्मृति का यह श्लोक भी देखिये:
श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक् संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्॥
कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक में कालिदास के श्लोक का उद्धरण किया है।

में गाय के प्रेम का आकर्षक वर्णन है। ऋतुसंहार में छः ऋतुओं का मनोहर वर्णन किया गया है। इससे प्रकट होता है कि कालिदास को प्रकृति के सौन्दर्य का कितना अधिक अनुभव था और मानवीय मनोभावों और इच्छाओं का उन्हें कितना सूक्ष्म ज्ञान था। शाकुन्तल में यवनिका के उठते ही यह दृश्य दिखायी देता है कि शकुन्तला अपनी दो सखियों के साथ कण्व के आश्रम के पेड़ों और लताओं को सींच रही है, जहां कि आकाश के तारे और वर्ण, सुन्दर पुष्प और चंचल पशु मानव-जीवन के अभिन्न अंग हैं। शकुन्तला पौधों को सींचती हुई क्लान्ति का अनुभव नहीं करती बल्कि उसमें आनन्द प्राप्त करती है।

न केवलं तातनियोगः अस्ति ममापि सोदरस्नेह एतेषु।

'मैं केवल अपने पिता की आज्ञा का पालन नहीं कर रही हूं, बल्कि मेरा इन पर सहोदर का सा स्नेह है।'

कालिदास के लिए नदी, पर्वत, वन और पेड़ पशुओं, मनुष्यों और देवताओं के समान सचेतन हैं।

शकुन्तला प्रकृति-पुत्री है। जब उसकी अमानुषी माता मेनका ने उसे छोड़ दिया तब गगन में उड़ने वाले पक्षियों ने उसे उठाया और तब तक उसका पालन किया जब तक कण्व ऋषि उसे उठाकर अपने आश्रम में न ले गये। शकुन्तला आश्रम में पेड़-पौधों को सींचती थी, उनको बढ़ते और फलते-फूलते देखती थी और ऐसे अवसरों पर उत्सव मनाती थी। पालतू पशुओं और पौधों की देख-रेख करने में शकुन्तला माता का सा स्नेह प्रदर्शित करती थी। कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि वे भी उसे स्नेह का प्रतिदान करते थे। शकुन्तला के विवाह के अवसर पर पेड़ों ने भेंटें दीं, वन-देवताओं ने आशीर्वाद दिये और कोयलों ने गाकर आनन्द प्रदर्शित किया।

शकुन्तला की विदाई के अवसर पर सारा आश्रम शोकाभिभूत हो गया। हरिणों ने चरना छोड़ दिया, मयूरों ने नाचना छोड़ दिया, लताओं ने आंसू गिराये। कण्व ने शकुन्तला के बारे में कहा है :

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या।
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्॥
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः।
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्॥
—शाकुन्तल ५

'जो कभी भी तुम्हारे पीने से पहले जल पीने को उद्यत नहीं होती, जो आभूषणों से प्रेम करती हुई भी स्नेह के कारण तुम्हारे पत्ते नहीं तोड़ती, जो तुम्हारे प्रथम पुष्पों के आने पर उत्सव मनाती है, ऐसी वह शकुन्तला पति-गृह को जा रही है; उसे अनुज्ञा दो।'

जब सीता का परित्याग होता है तब मयूर एकाएक नृत्य बन्द कर देते हैं, पेड़ पुष्प गिराने लगते हैं और हरिण अपने मुँह से आधी चबायी हुई दर्भ को गिरा देते हैं :

नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान् विजहुर्हरिण्यः।
तस्याः प्रपन्ने समदुःखभावमत्यन्तमासीद्रुदितं वनेऽपि॥
—रघुवंश १४

कालिदास जिस वस्तु को लेते हैं उसका प्रत्यक्ष दर्शन करा देते हैं। उनकी दृष्टि-शक्ति बड़ी पैनी थी। तनिक दौड़ते हुए हरिण के वर्णन को देखिये जिसका पीछा दुष्यन्त कण्व के आश्रम में कर रहे हैं :

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः।
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्॥
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा।
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति॥

'वह ग्रीवा को सुन्दर तरीके से मोड़कर बार-बार पीछे आते हुए रथ पर दृष्टि डाल रहा है। बाण के लगने के भय से उसके शरीर का पिछला भाग अगले भाग के अन्दर बहुत सा प्रविष्ट हो गया है। थकावट के कारण उसके मुँह से आधी चबायी हुई घास गिरकर रास्ते पर बिखर रही है। वह इतनी छलांग भर रहा है कि पृथ्वी पर दौड़ने की अपेक्षा आकाश में उड़ता अधिक दिखायी दे रहा है।'

कालिदास का प्रकृति का ज्ञान न केवल यथार्थ था बल्कि सहानुभूतिपूर्ण भी था। उनके निरीक्षण में कल्पना का पुट था। हिमालय के हिम का, गंगा के शक्तिशाली प्रवाह के संगीत का, विभिन्न प्रकार के पशुओं का उन्हें जो ज्ञान था वह उनके मानवीय हृदय और प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रेम का परिचायक है।

कोई भी आदमी तब तक अपनी पूर्णता को नहीं पहुँच सकता जब तक वह अमानुषी जीवन के गौरव और मूल्य को नहीं समझता। जीवन के सभी रूपों के प्रति हमारे अन्दर सहानुभूति पैदा होनी चाहिए। दुनिया केवल आदमी के लिए नहीं बनी है।

विवाह का प्रेम

स्त्री-पुरुष के प्रेम ने कालिदास को आकर्षित किया और उन्होंने विभिन्न प्रकार के प्रेम का वर्णन करने में अपनी कल्पना का प्रचुर उपयोग किया। इस मामले में उन्होंने संयम से काम नहीं लिया। उनके स्त्री-पात्र पुरुष-पात्रों की अपेक्षा अधिक चित्ताकर्षक हैं, क्योंकि वे एक कालातीत सार्वभौम गुण को प्रकट करते हैं जबकि पुरुष अनाकर्षक और अस्थिर हैं। पुरुष धरातल पर रहते हैं जबकि स्त्रियां गहराई में। पुरुषों की प्रतियोगिताप्रियता और अभिमान दफ्तर, कारखाने या युद्ध-भूमि में उपयोगी हो सकते हैं,

किन्तु इनसे सुसंस्कृतता, आकर्षण और शान्ति की कमी पूरी नहीं हो सकती। स्त्रियाँ अपने व्यवस्था और सामंजस्य के प्रेम से परम्परा को जीवित रखती हैं।

स्त्री-सौन्दर्य का वर्णन करने में कालिदास पुरानी प्रथा को अपनाते हैं और अंगों का उत्तेजक वर्णन करने लगते हैं। कभी-कभी उनके वर्णन आवश्यकता से अधिक विस्तारयुक्त हो जाते हैं। मेघदूत में यक्ष मेघ के सामने अपनी स्त्री का वर्णन इस प्रकार करता है :

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी,
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः,
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्याम्
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः॥[1]

'विधाता की प्रथम स्त्री-सृष्टि के समान तन्वी (कृश देह वाली) श्यामा, नुकीले दांत वाली, पके बिम्बा-फल के समान लाल है निचला ओंठ जिसका ऐसी, क्षीण कटि वाली, डरी हुई हरिणी के समान नेत्र वाली, गहरी नाभि वाली, नितम्बों के भार से

[1] शृंगार-तिलक में, जिसे कि कुछ लोग कालिदास-कृत मानते हैं, निम्नलिखित श्लोक मिलता है :

इन्दीवरेण नयनं मुखमम्बुजेन।
कुन्देन दन्तमधरं नवपल्लवेन॥
अंगानि चम्पकदलैः स विधाय वेधाः।
कान्ते कथं घटितवानुपलेन चेतः॥

'तेरी आँखें इन्दीवर से, मुख अम्बुज से, दांत कुन्दन से, अधर नवपल्लव से और अंग चम्पक के दलों से बनाकर ब्रह्मा ने, हे कान्ते, तेरा हृदय पत्थर से क्यों बनाया?'

मन्द-मन्द चलने वाली और स्तनों के भार से कुछ झुकी हुई वह वहां होगी।'

मालविका का राजा ने जो वर्णन किया है उसे भी देखिये :

दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहू नतावंसयोः।
संक्षिप्तं निबिडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव॥
मध्यः पाणिमितोऽमितं च जघनं पादावरालंगुली।
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसि श्लिष्टं तथास्या वपुः॥

'उसका मुख दीर्घ नेत्रों और शरत् के चंद्रमा की कान्ति से युक्त है, बाहु कन्धों से नीचे झूलती हैं, उसका उर भरे हुए और उठे हुए स्तनों से युक्त और संक्षिप्त है, पार्श्व मानों प्रमृष्ट हैं, उसकी कटि हाथ से मापी जा सकती है, उसके नितम्ब बड़े हैं, उसके पैरों की उँगलियां झुकी हुई हैं और उसका शरीर ऐसा बना हुआ है जैसा ठीक एक नर्तक की कल्पना के अनुसार होना चाहिए।'

यहां कालिदास ने एक आदर्श नर्तकी का शब्द-चित्र प्रस्तुत किया है जो एक चित्रकार के हृदय में ईर्ष्या जाग्रत् करेगा।[१]

कालिदास ने जितनी स्त्रियों का वर्णन किया है उनमें अनेक रोचक प्ररूप दिखायी देते हैं। उनमें से अनेक ऐसी हैं जिन पर समाज के दिखावे और संरक्षण का कोई प्रभाव नहीं है। उनकी संवेदनशील प्रकृति सामाजिक आकांक्षाओं के विपरीत थी। उनके अन्तर्द्वंद्वों और तनावों में सामंजस्य पैदा करने की आवश्यकता थी। कालिदास के पुरुष-पात्र संशयहीन और सुरक्षित थे। उन्होंने बहुविवाह को एक साधारण नियम माना। किन्तु कालिदास के स्त्री-पात्र कल्पनाशील और विवेकी थे और इसलिए संशय और निर्णय-शक्ति के

---

[१] मेघदूत २.७, कुमारसम्भव में पार्वती का वर्णन और विक्रमोर्वशीय में उर्वशी का वर्णन भी देखिये।

अभाव से ग्रस्त थे। वे प्रायः अस्थिर चित्तवाली नहीं हैं बल्कि विश्वसनीय, निष्कपट और प्रेमी स्वभाव वाली हैं।

रघुवंश में दिलीप अपनी पत्नी सुदक्षिणा के साथ गृहस्थ-जीवन के उच्चतम आदर्श का पालन करते हैं। रघुवंश का अन्तिम राजा अग्निवर्ण विलासी है और नैतिक पतन का शिकार है। इनके मध्य रघु, अज और इन्दुमती, दशरथ और उसकी तीन रानियां, राम और सीता तथा कई और भी आते हैं। इन्दुमती ने स्वयंवर में अज का वरण करके उससे विवाह किया था।

प्रेम के हेतु कठिनाइयों और आपत्तियों को झेलने से प्रेम गहरा हो जाता है। जिस प्रकार नदी का प्रवाह विषम शिलाओं से अवरुद्ध होकर अधिक बलवान् हो जाता है, उसी प्रकार प्रेम के मार्ग में रुकावटों के आने से प्रेम की तीव्रता सौगुनी बढ़ जाती है।

नद्या इव प्रवाहो विषमशिलासंकटस्खलितवेगः—
विघ्नितसमागमसुखो मनसिशयः शतगुणो भवति ॥
—विक्रमोर्वशीय ३. ८

अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते।
—शाकुन्तल २. १

विरह की वेदना की मेघदूत में, कुमारसम्भव के रति-विलाप में और रघुवंश के अज-विलाप में मर्मस्पर्शी व्यंजना हुई है।

संयोगावस्था के प्रेम का वर्णन विक्रमोर्वशीय में हुआ है।

मालविकाग्निमित्र में नारी को धारिणी कहा गया है, क्योंकि वह प्रत्येक वस्तु को धारण करती है। उसमें प्रतिष्ठा और सहनशीलता है। जब मालविका विदूषक द्वारा रचे हुए नृत्य के दृश्य में राजा का ध्यान आकर्षित करती है, तब वह कठोर व्यंग्यात्मक शब्दों में राजा को प्रताड़ित करती हुई कहती है कि यदि राजकार्यों में भी इस प्रकार की उपाय-निपुणता प्रदर्शित की जाती तो

अधिक श्रेयस्कर होता : यदि राजकार्येष्वपि ईदृशी उपायनिपुणता आर्यपुत्रस्य ततः शोभनं भवेत् (१.१९-२०)। जब राजा का प्रेम पहिले इरावती पर और फिर मालविका पर केंद्रित होता है तब भी रानी का प्रेम अपने पति के लिए पूर्ववत् बना रहता है। परिव्राजिका कौशिकी कहती है : 'ये साध्वी स्त्रियां अपनी इच्छा के विपरीत भी अपने पति से प्रेम और उसकी सेवा करती हैं।'

प्रतिकूलेनापि पतिं सेवन्ते भर्तृवत्सलाः साध्व्यः।

अनेक आपत्तियों के आने के कारण कौशिकी परिव्राजिका बन जाती है। वह धारिणी को सांत्वना देती है। परिव्राजिका होने पर भी वह नृत्य-कुशल और सर्पदंश की चिकित्सा में दक्ष है।

इरावती विलासिनी, वेगवती, सन्देहशील, अधिकार की मांग करने वाली और आदेश देने वाली है। जब राजा उसका त्याग करके मालविका को स्वीकार करता है तब वह बड़ा असन्तोष प्रकट करती और राजा को प्रताड़ित करती है। अहो! अविनीत-हृदयोऽयं आर्यपुत्रः। 'आर्यपुत्र कितने अविनीत हृदय वाले हैं!' शठ अविश्वसनीयहृदयोऽसि। 'दुष्ट, तुम नितान्त अविश्वसनीय हो।' अहो! अविश्वसनीयाः पुरुषा, आत्मनो वंचनावचनं प्रमाणी-कृत्य आक्षिप्ततया व्याधजनगीत-गृहीतचित्तया हरिण्या इव एतत्र विज्ञातं मया। 'अहो! पुरुष अविश्वसनीय होते हैं। हम शिकारी के गीत से फँसी हरिणी के समान उनके झूठे वचनों में फँस जाती हैं और कुछ समझती नहीं हैं।'

मालविका के प्रति अग्निमित्र का प्रेम कामुक है। वह उसके सौन्दर्य से मुग्ध हो जाता है।

विक्रमोर्वशीय में मानवीय और अतिमानवीय का मेल है। परिव्राजिका काशिराजपुत्री पहिले अशान्त और उत्तेजित होती है।

जब उसे मालूम होता है कि उर्वशी स्वर्ग की अप्सरा है, तब वह अपनी स्थिति से सन्तुष्ट हो जाती है। रानी औशीनरी को एक आदर्श हिन्दू पत्नी के रूप में चित्रित किया गया है जो अपने पति की प्रसन्नता के हेतु अपनी प्रसन्नता को त्याग देती है। विदूषक कहता है कि रानी का यह त्याग त्याग नहीं है बल्कि मजबूरी है। रानी उसको प्रताड़ित करती हुई कहती है: 'मूर्ख, मेरे स्वामी मुझे इतने प्रिय हैं कि अपने सुख को तिलांजलि देकर भी मैं उन्हें सुखी करना चाहती हूं।' अहं खल्वात्मनः सुखावसानेनार्यपुत्रं निर्वृतशरीरं कर्तुमिच्छामि। उसने उर्वशी के साथ सद्भाव रखा और इसका उसे प्रतिदान भी मिला, क्योंकि उर्वशी ने उसका सम्मान किया और उसे श्रेष्ठ माना। उर्वशी ने अपने पुत्र को गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश के अवसर पर ज्येष्ठ माता मानकर उसकी अभिवन्दना करने को कहा—एहि वत्स, ज्येष्ठमातरमभिवन्दस्व। उर्वशी का चरित्र साधारण से कुछ अलग है। उसमें अदृश्य होकर अपने प्रेमी की गति-विधि को देखने और उसके वार्तालाप को सुनने की शक्ति है। उसमें माता के सन्तति-प्रेम का अभाव है, क्योंकि वह अपने पति को छोड़ने के बजाय अपनी सन्तान को ही छोड़ देती है। उसका प्रेम स्वार्थपूर्ण है और उसका रूपान्तरित होना अत्यधिक ईर्ष्यालुता का फल है।

पुरुरवस् आनन्द-मग्न होकर प्रेम की प्रशंसा में गाता है और कहता है कि संसार का सम्राट् होना भी इतना मधुर और आनन्द-प्रद नहीं है जितना प्रेमिका का अनुवर्तित्व (३.१९)। दुनिया उसके लिए शून्य है जिसे प्रेमिका का प्रेम प्राप्त नहीं है, किन्तु जिसे प्रेम प्राप्त है उसके लिए वह उज्ज्वल और आनन्दमय है।

गेटे ने शाकुन्तल की प्रशंसा में जो गीत रचा वह सर्वविदित है। इस नाटक में हम कली को फल में परिणत होते हुए देखते हैं,

पृथ्वी को स्वर्ग बनते हुए देखते हैं, शारीरिक आकर्षण से उत्पन्न वासना को नैतिक सौन्दर्य और आध्यात्मिक ज्ञान पर आधारित प्रेम में विकसित होते हुए देखते हैं। शकुन्तला को अपनी माता मेनका से सौन्दर्य और प्रफुल्लता की प्राप्ति हुई है और अपने पिता प्रसिद्ध ऋषि विश्वामित्र से धैर्य और क्षमाशील प्रेम की प्राप्ति हुई है। प्रणय-स्वातंत्र्य और तपस्या से उसका जन्म हुआ है। उसके अपने जीवन में ये दो, स्वातंत्र्य और संयम, पृथ्वी और स्वर्ग मिले-जुले हैं।

प्रथम अंक में हमें यौवन की आवेगशीलता के दर्शन होते हैं। भोली-भाली आश्रम-कन्या राजा के ऊपर पूर्ण विश्वास करके प्रेम के प्रथम वेग में ही बह जाती है। उसने प्रकृति का निश्चित मार्ग अपनाया क्योंकि उसने भावनाओं का संयम और आदर्शों से जीवन का नियंत्रण करना नहीं सीखा था।

कई उच्च वंश की कन्याओं के गान्धर्व-विवाह करने का उल्लेख है और उनके विवाह को उनके पिताओं की अनुमति प्राप्त हुई।[१] कण्व ने जब शकुन्तला के गान्धर्व-विवाह की बात सुनी तब उन्होंने उसे अपनी अनुमति प्रदान की और आशीर्वाद दिया। कालिदास ने शकुन्तला का आश्रम से पतिगृह जाने का बड़ा कारुणिक वर्णन किया है। आश्रम के वृक्ष तक करुणार्द्र होकर उसको बिदाई देते हैं। कण्व शोक से अभिभूत हो जाते हैं :

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया।
कण्ठः स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्॥

---

[१] ३.२२; देखिये मनुस्मृति ३.३२; यह विवाह काम-सम्भव होता है और अन्योन्येच्छा पर आधारित होता है। यह संस्कार के बिना और माता-पिता की जानकारी के बिना सम्पन्न होता है।

वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः।
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः॥

'यह सोचकर कि शकुन्तला आज चली जायेगी मेरा हृदय शोक से व्याप्त हो गया है, रुके हुए आंसुओं के कारण मेरा गला रुँध गया है और मेरी आंखें चिन्ता से जड़ हो गयी हैं। जब स्नेह के कारण मुझ वनवासी को इतनी वेदना हो रही है तो पुत्री के वियोग के नये-नये दुःख से गृहस्थों को कितनी वेदना होगी।'

कण्व शकुन्तला को यह उपदेश देते हैं :

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने।
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः॥
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी।
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥
—शाकुन्तल ४.१८

'गुरुओं की सेवा करना, सौतों के साथ सौहार्द रखना, पति के द्वारा विप्रकृत होकर भी रोष में आकर उल्टा व्यवहार न करना, सेवकों पर कृपादृष्टि रखना, सौभाग्य से अभिमान न करना। इन उपदेशों पर चलकर युवतियां गृहिणी का पद प्राप्त करती हैं और प्रतिकूल चलनेवाली कुल के लिये अभिशाप बनती हैं।'

दुष्यन्त विस्मृति के कारण, जिसको कि कवि शाप का फल कहता है, उसे नहीं पहिचान पाता। वह कहता है कि पर-स्त्री की ओर देखना अधर्म है: अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्। शकुन्तला ने एक साध्वी पत्नी को मिल सकने वाले सभी दुःखों को झेला। पति ने उसका परित्याग कर दिया और उसका अपमान किया। शकुन्तला का मन क्षुब्ध हो जाता है और वह वहां भय, पीड़ा और निराशा की दशा में स्तम्भित खड़ी रहती है। कवि ने वियोग में उसकी दृढ़ता

का, दुःख में उसके धैर्य का और पति के पुनर्मिलन-पर्यन्त उसके तपस्वी जीवन का विस्तार से वर्णन किया है। प्रेम एक शरीर का व्यापार मात्र नहीं है बल्कि दो आत्माओं का मिलन है। दुष्यन्त और शकुन्तला दोनों को बहुत कष्ट उठाना पड़ा, दुःख की आग में उनके जीवन तपे और अन्त में उनको संयोग का वरदान प्राप्त हुआ। जब यौवन का उन्माद समाप्त हो जाता है तब वासना का वेग भी रुक जाता है। एक उच्चतर भूमि पर प्रेम का लाभ होता है और अल्प इंद्रिय-सुख अनन्त आनन्दमय जीवन में परिणत हो जाता है। वासना जीवन की पवित्रता से जुड़ जाती है। प्रकृति और ईश्वरीय अनुग्रह मिलजुलकर एक हो जाते हैं।

कालिदास प्रेमियों के प्रथम मिलन को नैतिक दोष नहीं मानते। प्रेमी पापी नहीं हैं, किन्तु उनको कष्टों में से होकर आगे बढ़ना है।

जब पार्वती शिव को पति-रूप में प्राप्त करने के लिए तपस्या करती हैं और उनकी नाना रूप से सेवा करती है, तब शिव अविचल रहते हैं।

प्रत्यर्थिभूतामपि तां समाधेः शुश्रूषमाणां गिरिशोऽनुमेने।
विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः॥

कुमार का जन्म इसलिये आवश्यक था कि तारक-नामक दैत्य के भय और उत्पीड़न से संसार की रक्षा करनी थी, और इसके लिए शिव-पार्वती का विवाह आवश्यक था। अतः इंद्र ने शिव की समाधि भंग करने के लिये कामदेव को भेजा। जब कामदेव शिव के निकट आया तब शिव वृष्टिहीन मेघ, उर्मिहीन सागर और निष्कम्प प्रदीप के समान नेत्र मूंदकर समाधि-लीन थे।

अवृष्टिसंरम्भमिवाम्बुवाहमपामिवाधारमनुत्तरंगम्।
अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निवातनिष्कम्पमिव प्रदीपम्॥

—कुमारसम्भव ३.४८

जब शिव की समाधि में कुछ विघ्न हुआ, तब उन्होंने अपने नेत्र खोले और उनके तीसरे नेत्र से जो आग निकली उसने कामदेव को भस्म कर दिया। इसी समय पार्वती को अपना रूप व्यर्थ जान पड़ा।

व्यर्थं समर्थ्यललितं वपुरात्मनश्च।
(३.७५)

उसने शिव के समान तपस्या करके शिव को प्रसन्न करने का निश्चय किया।

इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
(५.२)

उसने शिव को जीतने की इच्छा की, लेकिन अपनी देह के सौन्दर्य से नहीं बल्कि हृदय के समर्पण से। अर्थ और काम से उसकी आस्था उठ गयी और केवल धर्म में उसकी आस्था अडिग रही।

अनेन धर्मः सविशेषमाद्य मे त्रिवर्गसारः।[१]
—कुमारसम्भव ५.३८

जब एक ब्राह्मण ने पार्वती को शिव के असामान्य व्यवहार की बात बतायी तब पार्वती ने यह कहकर उसे दुत्कार दिया कि महात्माओं का असामान्य व्यवहार अचिंत्य होता है और मन्द लोग उसका कारण न समझकर उस पर हँसते हैं।

अलोकसामान्यमचिन्त्यहेतुकं द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम्।
—कुमारसम्भव ५.७५

---

[१] यह श्लोक भी देखिये :

अनातुरोत्कण्ठितयोः प्रसिद्ध्यता समागमेनापि रतिर्न मां प्रति।
परस्परप्राप्तिनिराशयोर्वरं शरीरनाशोऽपि समानुरागयोः॥
—मालविकाग्निमित्र ३.१५

वह ब्राह्मण स्वयं शिव थे।

उन्होंने उमा से कहा :

"हे युवती ! आज से मैं तुम्हारा तप से क्रीत दास हूं।" चंद्रमौलि के इतना कहने पर उमा की तपोजन्य क्लान्ति मिट गयी। फल प्राप्त होने पर उसके लिए किया हुआ कष्ट दूर हो ही जाता है।

अद्यप्रभृत्यवनतांगि तवास्मि दासः।
क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौली॥
अह्लाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज।
क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते॥

यहां इस सत्य को समझाया गया है कि बाह्य आकर्षण से उत्पन्न प्रेम को तपस्या और संयम के आधार पर प्रतिष्ठित करना चाहिए। स्वर्ग प्राप्त करने के प्रयत्न में पार्वती और शकुन्तला दोनों को पाताल के किनारे से गुज़रना पड़ा।

काम-प्रवृत्ति का आध्यात्मिक सिद्धि से कोई विरोध नहीं है। उससे वास्तविक विरोध है असंयत वासना का। धर्म और संयम के साथ काममय जीवन बिताना निष्पाप है। मनुष्य गृहस्थ का जीवन बिताते हुए भी स्वभाव से संन्यासी हो सकता है। उपनिषत् में कहा है : त्यक्तेन भुञ्जीथाः—त्याग के साथ भोग करो।

जीवन का लक्ष्य आनन्द है, सुख नहीं। आनन्द मानव-जीवन का परमोत्कर्ष है। आवश्यकता पड़ने पर हमें सारे संसार के विरुद्ध खड़े होकर अपने अस्तित्व को प्रकट करना होगा। जब सुकरात को मृत्यु-दण्ड दिया गया या ईसा को क्रॉस पर लटकाया गया, तब उन्होंने मृत्यु को अपनी पराजय नहीं माना बल्कि अपने आदर्शों की पूर्ति माना। प्रेम का लक्ष्य स्त्री और पुरुष का आनन्दमय समागम है। अर्धनारीश्वर का आदर्श इसी बात को बताता है।

पत्नी पति की सम्पत्ति नहीं है बल्कि उससे मिलकर एक समष्टि का निर्माण करती है।

पत्नी सब धर्म-क्रियाओं का मूल कारण है।

क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम्।

पत्नी सह-धर्म-चारिणी होती है।

इयं चोर्वशी यावदायुस्तव सहधर्मचारिणी भवतु (विक्रमोर्वशीय ५)। वह सभी कर्तव्यों को करने में उसके साथ रहती है। इन्दुमती अज की पत्नी थी, परामर्शदात्री थी, सखी थी, उसके रहस्यों की जानकार थी और ललित कलाएं सीखने में उसकी प्रिय शिष्या थी।

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।

कालिदास विवाह की परिणति सन्तानोत्पत्ति में मानते हैं। शारीरिक आकर्षण से उत्पन्न प्रेम ग़लतफ़हमी, वियोग, परित्याग, क्रूरता इत्यादि से जनित कष्टों से उदात्त बनता है और सन्तान में पूर्ति पाता है। शिव और पार्वती का विवाह कुमार के जन्म के लिए हुआ था। इस देश का नाम भारतवर्ष दुष्यन्त और शकुन्तला के पुत्र भरत के नाम से हुआ। रघुवंश में कहा गया है कि दिलीप और सुदक्षिणा का प्रेम पुत्र के द्वारा विभक्त होने पर और भी वृद्धि को प्राप्त हुआ।

रथांगनाम्नोरिव भावबन्धनं बभूव यत्प्रेम परस्पराश्रयम्।
विभक्तमप्येकसुतेन तत्तयोः परस्परस्योपरि पर्यचीयत॥
—रघुवंश ३.२४

रघुवंश ३.२३ में कालिदास ने कहा है कि दिलीप और सुदक्षिणा को पुत्र-जन्म से वैसा ही हर्ष हुआ जैसा उमा और शिव को

कार्त्तिकेय के जन्म से, शची और इंद्र को जयन्त के जन्म से हुआ था। दुष्यन्त और शकुन्तला के विवाह को पुत्र भरत के जन्म से पूर्णता प्राप्त हुई। कालिदास बालकों से स्नेह करते हैं जैसा कि भरत, आयुस्, रघु और कुमार के वर्णन से प्रकट होता है।

कालिदास की दृष्टि में समझदारी का रास्ता यही है कि जीवन के विभिन्न लक्ष्यों की संगतिपूर्ण तरीके से प्राप्ति की जाय और एक समन्वयपूर्ण व्यक्तित्व का विकास किया जाय। उन्होंने अपनी कविता के जादू से, कल्पना की प्रचुरता से, मनुष्य-स्वभाव के अपने सूक्ष्म ज्ञान से और उसके कोमलतम संवेगों के सूक्ष्म वर्णनों से इन आदर्शों को हमारे मन में जमाया।

७

स्वामी विवेकानन्द

(९२वीं जन्म-तिथि, नई दिल्ली, सभापति का भाषण

२१ फ़रवरी १९५४)

स्वामी विवेकानन्द के जीवन और उपदेशों ने हमें आज़ादी के इस नये युग के लिए तैयार किया है। उनसे हमको यह शिक्षा मिलती है कि हाल में हमने जो आज़ादी हासिल की है उसे हम अच्छे से अच्छे तरीक़े से कैसे पुष्ट करें। स्वामी विवेकानन्द भारतीय पुनर्जागरण के एक महान् नेता थे।

भारत के सभी महान् उपदेशकों के समान विवेकानन्द ने भी एक नये मत को चलाने का दावा नहीं किया। उन्होंने हमारे और दुनिया के कल्याण के लिए भारत की धार्मिक चेतना की, उसके अतीत ज्ञान-कोष की ही व्याख्या की। उनके लेख और भाषण भारतीय धर्म-शास्त्रों और अपने गुरु, परम सिद्ध श्री रामकृष्ण के जीवन और उपदेशों से लिये गये उद्धरणों से भरे पड़े हैं।

हमारे युग की दो प्रमुख विशेषताएं विज्ञान और लोकतंत्र हैं। ये दोनों टिकाऊ हैं। हम शिक्षित लोगों को यह नहीं कह सकते हैं कि वे तार्किक प्रमाण के बिना धर्म की मान्यताओं को स्वीकार कर लें। जो कुछ भी हमें मानने के लिये कहा जाय उसे उचित और तर्क के बल से पुष्ट होना चाहिए। अन्यथा हमारे धार्मिक विश्वास इच्छापूर्वक विचार मात्र रह जायेंगे। आधुनिक मानव को एक ऐसे धर्म के अनुसार जीवन बिताने की शिक्षा देनी चाहिए जो उसकी विवेक-बुद्धि को जँचे, विज्ञान की परम्परा के अनुकूल

हो। इसके अतिरिक्त, धर्म को लोकतंत्र का, जो कि वर्ण, विश्वास, संप्रदाय या जाति का विचार न करते हुए प्रत्येक मनुष्य के बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास के ऊपर जोर देता है, पोषक होना चाहिए। कोई भी ऐसा धर्म जो मनुष्य-मनुष्य में भेद करता है अथवा विशेषाधिकार, शोषण, युद्ध का समर्थन करता है, आज के मानव को नहीं रुच सकता।

आज हम जो धर्म के लोप, दिव्य प्रकाश के तिरोभाव के युग में से गुज़र रहे हैं, तो इसका कारण यह है कि प्रचलित धर्म विज्ञान और लोकतंत्र के प्रतिकूल मालूम पड़ते हैं।

विवेकानन्द ने यह सिद्ध किया कि हिन्दू-धर्म विज्ञान-सम्मत भी है और लोकतंत्र का समर्थक भी, प्रचलित हिन्दू-धर्म नहीं जो कि दोषों से भरपूर है, बल्कि वह हिन्दू-धर्म जो कि हमारे महान् प्रचारकों को अभिप्रेत था।

जीवन की यदि कोई बात बिल्कुल निर्विवाद है तो वह है उसकी अस्थिरता। इस संसार की हरेक वस्तु, लिखित शब्द, चित्र, प्रस्तर-प्रतिमा, वीरता-पूर्ण कार्य, नाशवान् है। बड़ी-बड़ी सभ्यताएं काल-कवलित हो जाती हैं। एक दिन आयेगा जब सूर्य की आयु-वृद्धि और स्थिति-परिवर्तन से हमारी पृथ्वी आदमी के रहने के क़ाबिल नहीं रहेगी। हमारे कार्य और विचार, हमारे वीरतापूर्ण कारनामे, हमारे राजनीतिक ढांचे इतिहास के अंग हैं, परिवर्तनशील हैं। ये सब काल के अधीन हैं, नाश को प्राप्त हो जाते हैं। भारत की परम्परा में जन्म और मृत्यु काल के प्रतीक हैं। क्या यह लोकक्षयकृत काल, यह शून्य, यह माया, यह संसार ही सब कुछ है, या कोई अन्य चीज़ भी है? क्या यह दुनिया जो घटनाओं की एक अनन्त शृंखला है, आत्म-निर्भर है, स्वयं अपना आधार है, या कोई ऐसी भी चीज है जो इसे प्रेरित करती है, इसके

नीचे रहती है, इसको एकता देती है और इसमें व्याप्त भी है? क्या परिवर्तन ही सब कुछ है, या परिवर्तन के पीछे स्थायित्व भी है?

क्या आदमी शून्य को समाप्त कर देगा या शून्य आदमी को समाप्त कर देगा? यह समस्या ही, यह भय, यह चिन्ता जो हमें सता रही है, दुनिया के बारे में यह अनिश्चय की अनुभूति ही इस बात की साक्षी है कि एक दूसरी दुनिया भी है। यह काल के मध्य रहते हुए एक अमर जीवन की कामना को प्रकट करती है। पारमार्थिक सत्ता की अव्यक्त अनुभूति के कारण ही हमें इस दुनिया के प्रति निराशा होती है।

तार्किक मीमांसा और व्यक्तिगत अनुभव से हमारे महान् विचारक इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि एक विश्वातीत सत्ता है और यह विश्व उसी की अभिव्यक्ति है। उपनिषदों ने इस मौलिक समस्या का समाधान प्रस्तुत किया है। उनमें तार्किक युक्तियों का और उन लोगों के अनुभवों का भी उल्लेख है जिन्होंने ब्रह्म का साक्षात्कार किया है। जिन्हें हम वेद कहते हैं वे महान् ऋषियों के आध्यात्मिक अनुभवों के भाण्डार हैं। विवेकानन्द ने लिखा है: 'वेद कोई पुस्तकें नहीं हैं। वे उन आध्यात्मिक नियमों के संचित कोष हैं जो अलग-अलग पुरुषों ने अलग-अलग समय पर मालूम किये हैं।' अतः वे निरन्तर विस्तार करने वाले हैं। विवेकानन्द की दृष्टि में धर्म योग है। यह वैयक्तिक परिवर्तन, समायोजन और समन्वय का नाम है। किसी सिद्धान्त को मानना धर्म नहीं है। धर्म अपनी प्रकृति का पुनर्निर्माण है। धर्म बौद्धिक कट्टरता नहीं है। आध्यात्मिक जीवन का मनुष्य के अन्दर उदय होना धर्म है। विवेकानन्द ने ज्ञान-योग, राज-योग, भक्ति-योग, कर्म-योग के ऊपर ग्रन्थ लिखे और कहा कि आध्यात्मिक सिद्धि की प्राप्ति इन विभिन्न साधनों में से किसी भी एक की सहायता से हो सकती है।

जब हम आध्यात्मिक जीवन के सत्यों को बौद्धिक रूपों में व्यक्त करते हैं, तब ये बौद्धिक रूप अनुभवों की सजीवता से हीन होते हैं। आध्यात्मिक जीवन की विशालता और रहस्यमयता का इनसे ठीक-ठीक अनुमान नहीं होता। अगर हम धर्म-विशेष को सार्वभौम सत्यों से अधिक महत्त्व देते हैं तो हमारी प्रवृत्ति असहिष्णुता की हो जाती है। एस० टी० कोलरिज का निम्नलिखित प्रसिद्ध वाक्य यही बताता है : 'जो ईसाइयत को सत्य से अधिक प्रेम करता है वह आगे चलकर अपने संप्रदाय-विशेष को ईसाइयत से अधिक प्रेम करेगा, और अन्त में स्वयं अपने को सबसे अधिक प्रेम करेगा।' असहिष्णुता धार्मिक अहंकार का प्रकाशन है, विनय का नहीं।

आज हम अपनी धर्मनिरपेक्षता की चर्चा करते हैं। हम धर्मनिरपेक्ष इस अर्थ में नहीं हैं कि हम धर्म के प्रति उदासीन हैं। हम धर्मनिरपेक्ष इसलिये हैं कि हम सब धर्मों को पवित्र मानते हैं। हम अन्तःकरण की स्वतंत्रता में विश्वास करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपना रास्ता आप चुनने का और ईश्वर को अपने ही तरीक़े से पाने का अधिकार है। धर्मनिरपेक्षता-वाद हमें न केवल सहिष्णु बनना सिखाता है बल्कि अन्य धर्मों को समझना और प्रेम करना भी सिखाता है। श्री रामकृष्ण के अनुभव को ध्यान में रखते हुए विवेकानन्द ने कहा था : 'हम हिन्दू लोग केवल सहिष्णु ही नहीं हैं। हम प्रत्येक धर्म से स्वयं को एकाकार कर देते हैं। हम मुसलमानों की मस्जिद में प्रार्थना करते हैं, हम पारसियों की अग्नि को पूजते हैं, हम ईसाइयों के क्रॉस के सम्मुख झुकते हैं।'

विदेशों में भ्रमण करते हुए विवेकानन्द को कई बातों में भारत के पिछड़े होने से पीड़ा हुई। भारत में जिस तरह से धर्म का अर्थ सुधार का विरोध और अन्धविश्वास माना जाता है, उससे उनको

विशेष कष्ट हुआ। उन्होंने धर्म के दुरुपयोग का, स्पृश्यास्पृश्य पर ज़ोर देने का ज़बर्दस्त विरोध किया। यह सब हमारे धर्म के उस महान् सिद्धान्त के विरुद्ध है जिसके अनुसार ईश्वर हम सबके अन्दर सक्रिय और जीवित है और प्रथम उपयुक्त अवसर मिलने पर ऊपर आने के लिये तैयार रहता है। यह अन्तर्ज्योति जो दुनिया में आने वाले प्रत्येक मनुष्य को दीप्त करती है, बुझायी नहीं जा सकती। चाहे हम इसे पसन्द करें चाहे न करें, हम इसे जानें या न जानें, ईश्वर हमारे अन्दर है और आदमी का लक्ष्य ईश्वर से एक होना है।

सच्चे धर्म की अन्तिम कसौटी यह है कि वह सत्य को पहिचानता हो और मनुष्यों से मैत्री करना सिखाता हो। शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए हमारे अन्दर अहिंसा का, घृणा के परित्याग का होना आवश्यक है जो कि शत्रु-भाव से कहीं ऊंची चीज़ है।

विवेकानन्द ने काम को उपासना का महत्त्व दिया है और हमें आदमी के अन्दर रहने वाले ईश्वर की सेवा करके मोक्ष प्राप्त करने का उपदेश दिया है। यदि इस देश के वासी विवेकानन्द के उपदेशों से लाभान्वित होना चाहते हैं, तो यह आवश्यक है कि हम सब न केवल रचनात्मक कार्य में रुचि लें, बल्कि एक ऐसे आध्यात्मिक धर्म की स्थापना का भी व्रत लें जो प्रचलित संप्रदायगत धर्मों और सैद्धान्तिक वाद-विवादों से ऊपर हो, जो मानव-समाज का रूपान्तरण कर दे और उसे हमारे महापुरुषों के रामराज्य या ईश्वरीय राज्य के आदर्श के निकट ले आवे।

८

महात्मा गान्धी

('गान्धी जी के उपदेश और संयुक्त-राष्ट्र-संघ' विषय पर आयोजित भाषण-शृंखला का उद्‌घाटन-भाषण, ४ अक्टूबर १९५५)

गान्धी असल में एक धर्मनिष्ठ व्यक्ति हैं। मनुष्य-जाति की एकता में उनकी आस्था है, हमारा वर्ण और लिंग, धर्म और देश चाहे जो हो, हम सब एक ही परमात्मा की सन्तान हैं। प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति यह विश्वास करता है कि उसका सारी मानव-जाति से रक्त-सम्बन्ध है। उदाहरणार्थं सुकरात ने मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए यह घोषित किया था कि वह न तो अथीनियन है और न यूनानी बल्कि विश्व का नागरिक है। सच्चा धर्मनिष्ठ व्यक्ति हमेशा सारी दुनिया को अपना परिवार समझता है। धर्म की मूल विशेषताएं हैं अभय और अहिंसा। अहिंसा का अर्थ है वैर का त्याग। सभी धर्म अभय यानी भय से मुक्त होना और अहिंसा सिखाते हैं। बुद्ध ने इन्हें प्रज्ञा और करुणा कहा है। 'आदमी अक्रोध से क्रोध को जीते, वह बुराई को भलाई से जीते, वह कदर्य को दान से जीते, वह असत्य को सत्य से जीते।'[1] ईसा ने इन्हें सत्य और स्वतंत्रता कहा है। सत्य से हम स्वतंत्र हो जायेंगे। हमारा व्यवहार तभी सम्यक् होगा जब वह अहिंसा पर आधारित हो। प्रेम की विजय होती है और घृणा विनाशकारी होती है।

---

[1] धम्मपद १७.३; महाभारत का यह श्लोक भी देखिये :

अक्रोधेन जयेत्क्रोधं असाधुं साधुना जयेत्।
जयेत् कदर्यम् दानेन सत्येनालीकवादिनम्॥

अहिंसालक्षणो धर्मः
हिंसा चाधर्मलक्षणा।
दया धर्म का मूल है।

अगर हम सब एक ही ईश्वर की सन्तान हैं तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सभी युद्ध गृह-युद्ध हैं और सब ग़लतफ़हमियों को हिंसा से नहीं बल्कि शान्तिपूर्ण तरीक़ों से दूर करना होगा। 'तुमने सुना है और तुमसे कहा गया है कि अपने पड़ोसी से प्रेम करो और शत्रु से घृणा करो। लेकिन मैं तुमसे कहता हूं कि अपने शत्रुओं से प्रेम करो।' गान्धी ने हमसे बुराई को पहिचानने के लिए और उससे लड़ने के लिए कहा है लेकिन वे किसी को शत्रु नहीं मानते, क्योंकि सब मनुष्य भाई-भाई हैं। इसलिए गान्धी ने शान्तिपूर्ण समझौते का तरीक़ा अपनाया। उन्होंने अहिंसा की, मृदुता की शक्ति दिखायी।

मृदुना दारुणं हन्ति मृदुना हन्त्यदारुणम्।
नासाध्यं मृदुना किंचित् तस्मात् तीक्ष्णतरं मृदुः॥

यद्यपि हम बहुत समय से शक्ति पर विश्वास करते आये हैं, तथापि धीरे-धीरे हम शक्ति के स्थान में समझौते को और बाध्यता के स्थान में सहमति को अपना रहे हैं। पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य, संरक्षक-संरक्षित, स्वामी-सेवक के सम्बन्धों में हम अपने विचारों को सुधार रहे हैं और बलपूर्वक मनवाने की जगह सहानुभूतिपूर्ण समझौते का प्रयोग कर रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में झगड़ों को निबटाने का आम तरीक़ा हिंसा रही है। सैनिक शक्ति में विश्वास शक्तिशाली राष्ट्रों की अन्तर्राष्ट्रीय नीति का आवश्यक अंग रहा है। लड़ाई के शस्त्रों में हाल में जो उन्नति हुई है वह हमें अपने परम्परागत विचारों पर पुनर्विचार करने को बाध्य कर रही

है। आज हम उस्तरे की धार पर खड़े हैं जो भूत को भविष्य से विभक्त करता है (क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया—कठोपनिषत् १. ३)। हमारा सैनिक रास्ता अवरुद्ध हो गया है। अगर हम सैनिक तरीक़े इस्तेमाल करते हैं तो हम सभ्यता का अन्त कर देंगे। दो केंद्रों में सैनिक शक्ति, अणु-बम और उद्‌जन-बमों को ज़ोर-शोर के साथ इकट्ठा किया जा रहा है और यह आशंका हो रही है कि इस सन्दर्भ में जो लड़ाई होगी उससे किसी राष्ट्र, विचार-धारा या मानवीय आदर्श को लाभ नहीं होगा। अगर हम इस नयी दुनिया में पुराने तरीक़े इस्तेमाल करें तो हम मिट जायेंगे।

यह स्पष्ट है कि शान्ति बलवान् के लिए नहीं बल्कि न्यायी के लिए है। यतो धर्मस्ततो जयः। शान्ति तब तक क़ायम नहीं होगी जब तक लोग न्यायी बनना नहीं सीखेंगे और वे न्यायी बनना तब तक नहीं सीखेंगे जब तक वे शक्ति पर विश्वास करना नहीं छोड़ेंगे।

संयुक्त-राष्ट्र-संघ हमें सन्धि, समायोजन और समझौते के शान्तिपूर्ण तरीक़े अपनाने के लिए कहता है। संयुक्त-राष्ट्र-संघ और उसकी विशिष्ट संस्थाएं युद्ध के कारणों को मिटाने की कोशिश कर रही हैं। जब विज्ञान ने हमको सारी मनुष्य-जाति की सभ्यता के लाभ पहुँचाने में समर्थ बना दिया है, तब ग़रीबी और सम्पन्नता के, भूख और भोजन के, असुरक्षा और शक्ति के, ग़ुलामी और आज़ादी के ये वैषम्य क्यों मौजूद हैं? हम आशा करते हैं कि आधार-भूत परिवर्तनों से ये वैषम्य दूर हो जायेंगे। ग़रीबी और ग़लतफ़हमियों को दूर करना तथा आदमी की आत्मा को मुक्त करना संयुक्त राष्ट्रों का लक्ष्य है।

अगर संयुक्त-राष्ट्र अपने उद्देश्यों को पूरा करने में असमर्थ हैं तो इसकी वजह यह है कि जिन राष्ट्रों ने संयुक्त-राष्ट्र-संघ के चार्टर को माना है वे अपने कर्तव्यों को निभाने के अनिच्छुक हैं या

उसके लिए तैयार नहीं हैं या उसकी सामर्थ्य नहीं रखते। संयुक्त-राष्ट्र-संघ को सन्धि और शान्ति का साधन बनाने की अपेक्षा वे शीत-युद्ध को चलाने का साधन बना रहे हैं। जब कहीं आक्रमण होता है तब कभी-कभी तो सामूहिक कार्यवाही को प्रोत्साहन दिया जाता है और कभी उसका विरोध किया जाता है। कुछ देशों के साथ गुटबन्दी करके उन्हें सैनिक सहायता देना उचित माना जाता है और कुछ देशों को शस्त्र बेचना तक अनुचित माना जाता है। यह दुर्भाग्य की बात है कि उसूलों को छोड़कर युद्ध की बातों पर ज्यादा ध्यान दिया जाता है। इससे संयुक्त-राष्ट्र-संघ का नैतिक प्रभुत्व निर्बल हो जाता है। संयुक्त-राष्ट्र-संघ का बहुत कुछ महत्त्व इसलिए भी जाता रहता है कि कई देशों को जिन्हें कि उसका सदस्य होना चाहिए था, उसमें प्रवेश नहीं दिया गया है। लाखों आदमी अब भी गुलाम हैं और उनके प्रतिनिधि उसमें नहीं हैं। भेद-भाव के कारण संयुक्त-राष्ट्र-संघ की सार्वभौमता को हानि पहुँची है। बहुत से देश जाति-भेद और उपनिवेशों पर शासन करने की नीति बरत रहे हैं और यद्यपि यह मानवीय अधिकारों के विरुद्ध है तथापि संयुक्त-राष्ट्र-संघ उन्हें चार्टर के उसूलों पर चला सकने में असमर्थ है। अल्जीरिया के प्रश्न पर संयुक्त-राष्ट्र-सभा में आज जो झगड़ा चल रहा है वह इसका एक सबूत है। यह सब इसलिए होता है कि पश्चिम के शक्तिशाली राष्ट्र वाद-विवाद का नेतृत्व करते हैं और उसके निर्णयों को प्रभावित करते हैं और एशिया के सबसे बड़े राष्ट्र का उसमें कोई स्थान नहीं है।

मानवीय इतिहास में प्रायः यह होता है कि महान् संकट और गहरी निराशा के समय के बाद जागृति का समय आता है। हमारी निराशा जितनी बढ़ चुकी है उससे यह धारणा पक्की हो जाती है कि अपनी राष्ट्रीयता और अपनी भौतिक उपलब्धियों के घमण्ड

से हमने दुनिया को महानाश के किनारे पर ला दिया है। हम अन्धे आत्म-विश्वास से ग़लत रास्ते पर चले हैं।

आज दुनिया को राजनीतिक या फ़ौजी एकीकरण की ज़रूरत नहीं है बल्कि नयी शिक्षा की ज़रूरत है। व्यक्ति को यह सिखाने की ज़रूरत है कि वह इस या उस गुट की या देश की बात न सोच-कर सारी मानवता की बात सोचे। यातायात के आधुनिक साधन अन्तःसांस्कृतिक और अन्तर्जातीय सम्पर्क और सहानुभूति के क्षेत्र का विस्तार कर चुके हैं। वह समय समाप्त हो चुका है जब विभिन्न जातियां और राष्ट्र अपने अलग-अलग क़ानूनों और संस्थाओं के साथ अपने को अन्यों से अपेक्षाकृत पृथक् रखते थे। हमें नयी दुनिया में अपने को समायोजित करना है। हमको अपने भेदों को नहीं मिटाना है।

अपनी कमियों के बावजूद संयुक्त-राष्ट्र-संघ शान्ति क़ायम करने का एक अपूर्व साधन है। दुनिया जिन दो गुटों में बँटी हुई है उनको मिलाने के लिए यह एक पुल का काम करता है। जो समस्याएं लोगों को विभक्त किये हुई हैं उन पर विचार-विमर्श करने के लिए यह एक मंच है और जिन प्रश्नों के बारे में एकता है उनके सम्बन्ध में सहयोग करने के लिए यह इकट्ठा होने का एक केंद्र है। आपसी समझौते को बढ़ाना इसका लक्ष्य है। हमें लोकतंत्र की और समाज की प्रगति में आस्था रखते हुए इसे एक विश्व-संगठन के निकट लाने का प्रयत्न करना चाहिए। सच्चे लोकतंत्र का और शान्ति का अंगांगी-सम्बन्ध है। विश्व के वर्तमान इतिहास में गान्धी ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अहिंसा की नीति को अपना कर स्वयं को मानव-जाति का सबसे बड़ा सेवक सिद्ध किया।

९

इक़बाल

(इक़बाल-दिवस-मुशायरा, २७ अप्रैल १९५६)

मैं अपने को इस मुशायरे का उद्‌घाटन करने योग्य नहीं समझता। न मैं फ़ारसी जानता हूं, न उर्दू और न मैं कवि ही हूं। फिर भी मैं जो यहां मौजूद हूं उसका कारण यह है कि मैं इक़बाल के कुछ ग्रन्थों को अंग्रेजी में पढ़ चुका हूं और उनका प्रशंसक हूं।

१९३७ में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर हम दोनों ही को सम्मानसूचक उपाधियां दी गयी थीं, और एक अन्य समानता हमारे मध्य यह थी कि हम दोनों उस समय जब अन्धविश्वास और सुधार-विरोध का बोलबाला था तब एक तर्कोचित और आध्यात्मिक धर्म की आवश्यकता महसूस करते थे।

आज हमारे हाथों में अपना विनाश करने की असीम शक्ति मौजूद है, और अगर विवेक और मनुष्यता से काम न लेकर हम इस शक्ति का मनुष्य के हित में उपयोग न कर पावें, तो मनुष्य-जाति का भविष्य खतरे में होगा। यदि औद्योगिक शक्ति और नैतिक पतन का साथ हो जाय तो अन्धकार का दूसरा युग हमारे लिए अपना प्रवेश-द्वार खोल देगा। हमारी दुनिया भय और सन्देह से ग्रस्त है; इसमें विद्वेष इतना फैल गया है कि युद्ध के न होने पर भी इसमें शान्ति नहीं है। नयी दुनिया के उदय के लिए हमें एक नये तरह के आदमी की जरूरत है जिसका मन उदार हो और जिसका दृष्टिकोण सहानुभूति का हो। लोगों के अन्दर सहिष्णुता और उदारता भरना इंजीनियरों और

कारीगरों का काम नहीं है बल्कि कवियों और कलाकारों का काम है।

इक़बाल ने धार्मिक अनुशासन को हमारी एक महान् आवश्यकता बताया और यह ठीक ही है। इक़बाल ने कहा, 'यह दावा विज्ञान का दुराग्रह है कि उसने सत्ता का जो पक्ष चुना है केवल वही अध्ययन के योग्य विषय है।' आदमी के अस्तित्व का एक अन्य पहलू भी है। इक़बाल की दृष्टि में ईश्वर सर्वोच्च पुरुष है जो एक दिमाग़ी ख़याल मात्र नहीं है, जो एक निरपेक्ष तत्त्व या दुनिया का भाग्यविधाता नहीं है। वह एक जीवित सत्ता है और हम उसका साक्षात्कार कर सकते हैं। जिसका जीवन ईश्वर में केंद्रित है वह नयी और अज्ञात वस्तुएं पैदा कर सकता है। धर्म का लक्ष्य आदमी को एक स्वतंत्र आत्मा बनाना है। इक़बाल ने क़ुरान की एक आयत को उद्धृत किया है: 'हमने आसमान, ज़मीन और पहाड़ों को एक अमानत सौंपना चाहा, लेकिन उन्होंने इस भार को लेने से इंकार कर दिया और इसे लेने में उन्हें डर हुआ। इंसान ने इसे लेना स्वीकार किया' (३३.७२)। इस पर इक़बाल ने यह टीका की है: 'आदमी स्वतंत्र आत्मा-रूपी अमानत को अपने पास रखता है जिसे उसने ख़तरा मोल लेकर स्वीकार किया है।' स्वतंत्र व्यक्ति वे हैं जिनकी चेतना तीव्रता के चरम बिन्दु पर पहुँच जाती है। इस तरह की स्वतंत्र आत्मा ईश्वर के सृजन-कार्य में सहायता करती है। क़ुरान की एक अन्य आयत है: 'ईश्वर धन्य है जो स्रष्टाओं में सर्वोत्तम है।' जैसा इंसान इस वक़्त है उस रूप में नहीं बल्कि उस रूप में जब वह आज्ञाकारिता, आत्म-संयम और वैराग्य के अभ्यास से शुद्ध हो जाता है, ईश्वर के सहकारी का उच्च पद प्राप्त कर सकता है। इक़बाल ने निकोल्सन को लिखा था: 'भौतिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से आदमी एक स्वयं-पर्याप्त केंद्र

है, लेकिन फिर भी वह एक पूर्ण व्यक्ति नहीं है। ईश्वर से वह जितना ही दूर है उतना ही कम उसका व्यक्तित्व है। जो ईश्वर के सबसे निकट पहुँचा हुआ है वह पूर्ण व्यक्ति है। आत्मा को स्वतंत्रता तब प्राप्त होती है जब उसके रास्ते की सब बाधाएं दूर हो जाती हैं। वह अंशतः स्वतंत्र है और अंशतः परतंत्र, और पूर्ण स्वतंत्रता तब प्राप्त करता है जब सर्वाधिक स्वतंत्र व्यक्ति अर्थात् ईश्वर के निकट आ जाता है' (दि सीक्रेट्स ऑव दि सेल्फ़, भूमिका, पृष्ठ १५)। सभी महान् धर्मों की तरह इस्लाम भी ईश्वर-साक्षात्कार के लिए स्वयं को मिटाने पर ज़ोर देता है। ईश्वर की सेवा में लगने के लिए हमें दुनियावी ज़िन्दगी से विरक्त हो जाना चाहिए। सभी लोग पैग़म्बर हैं, आध्यात्मिक उपलब्धि के योग्य हैं।

कविता का काम है दिव्य दर्शन को अभिव्यक्ति प्रदान करना। महान् काव्य दिव्य दर्शन की महत्ता का फल है। इससे आदमियों को नयी दृष्टि मिलती है। इसके अन्दर राष्ट्र के घावों को भरने की शक्ति होती है।

इक़बाल की कविताएं एक वर्गहीन समाज-व्यवस्था का प्रचार करती हैं जिसमें ऊंच-नीच और अमीर-ग़रीब का कोई भेद न हो। सच्चे इंसान को ग़रीब और नीच से अपना अभेद करना चाहिए। निरपराध पर हमें अत्याचार नहीं करना चाहिए। यही लोकतंत्र का अर्थ है। लोकतंत्र की यही भावना हमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई या यहूदी सबको एक ही पिता की सन्तान के रूप में देखने को कहती है।

इस अँधेरे और खतरनाक समय में हमें उन महत्त्वपूर्ण सत्यों को, विचार और व्यवहार के उन ऊंचे आदर्शों को, उन महान् नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों को, ईश्वर की एकता और आदमी के भ्रातृभाव को दुबारा खोजना है जिनका इस्लाम प्रचार करता

है। दुर्भाग्य से शताब्दियों के बीत जाने पर ये महत्त्वपूर्ण सत्य विस्मृत हो गये हैं और इस्लाम ने जो सीधा-सादा सन्देश दिया था उसकी जगह पर बाहरी कर्म-काण्ड और धर्मान्धता का बोलबाला हो गया। हरेक पीढ़ी के विचारकों का यह कर्तव्य है कि वे इस प्राचीन सन्देश की मूल शुद्धता और गतिशील स्फूर्ति को दुबारा पकड़ें और अपने युग की भाषा में उसे फिर व्यक्त करें। इक़बाल ने अपने ग्रन्थ 'इस्लाम के धार्मिक विचारों का पुनर्निर्माण' में नये सिरे से व्याख्या करने के इसी काम को किया। उन्होंने मार्क्स के भौतिकवाद और अस्तित्ववाद के विरुद्ध धर्म की पुष्टि की। इक़बाल ने कहा: 'मार्क्स-वाद में एक आस्थावान् हृदय और एक अनीश्वरवादी मस्तिष्क है।' उनका भारतीयता से बड़ा प्रेम था और एक महत्त्वपूर्ण अवसर पर उन्होंने कहा था: 'मैं भी उसी नस्ल से पैदा हुआ हूं। भारत हिन्दुत्व और इस्लाम दोनों से पुराना है और तब भी रहेगा जब हम और हमारे मत नहीं रहेंगे।' उन्हें भारत से प्रेम था, इस्लाम से प्रेम था और सबसे अधिक मानवता से प्रेम था। वे उस समय के इन्तजार में थे जब हम सारी दुनिया के कल्याण के लिए स्वतंत्रता-पूर्वक सहयोग करने के क़ाबिल हो जायेंगे।

इक़बाल को रूमी की शिक्षाओं से बहुत प्रेरणा मिली और उनके ग्रन्थों में उन्हीं शिक्षाओं की प्रतिध्वनि सुनायी पड़ती है। रूमी ने कहा था: 'दीपक अनेक हैं लेकिन प्रकाश एक ही है।' इक़बाल ने कहा: 'धर्म एक ही है लेकिन उसके वर्णन अनेक हैं।' यह ऋग्वेद की इस प्रसिद्ध उक्ति की टीका मालूम पड़ती है: एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति। क़ुरान ने भी कहा है कि कोई भी देश ऐसा नहीं है जिसमें ईश्वर ने अपना दूत न भेजा हो।

भारतीय नारी

(शारदादेवी-स्मारक-ग्रन्थ की भूमिका, १९५३)

भारतीय परम्परा में महिलाओं को प्रायः सम्मान की दृष्टि से देखा गया है, हालांकि कभी-कभी उनके लिए असम्मान-सूचक शब्दों का प्रयोग भी किया गया है। ईश्वर को यहां अर्धनारीश्वर कहा गया है अर्थात् आधा पुरुष और आधा स्त्री माना गया है। मनु ने कहा है कि जहां नारी की पूजा होती है वहां देवता प्रसन्न होते हैं और जहां उनका अनादर होता है वहां सारे कार्य विफल हो जाते हैं (मनुस्मृति ३.५६)।

महिलाएं मनुष्य हैं और पूर्ण विकास का जो अधिकार पुरुषों को है वही महिलाओं को भी है। बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास के लिए अवसर देने में जैसे हम पुंलिंग पर ध्यान नहीं देते वैसे ही स्त्रीलिंग पर भी ध्यान नहीं देना चाहिए। हमारे मनुष्य होने का हमारे लिंग-सम्बन्धी भेदों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व है। सभी मनुष्यों के अन्दर, उनका लिंग चाहे जो हो, पार्थिव और आत्म-तत्त्व का, ससीम और असीम का वही नाटक चलता है।

कुछ काम जिन्हें पुरुष कर सकते हैं, महिलाएं नहीं कर सकतीं। उनकी शरीर-रचना इसमें बाधक है। लेकिन इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वे हीन हैं। हमें उन्हीं कामों को करना चाहिए जिनके लिए हम बने हुए हैं और उनको अच्छी तरह से करना चाहिए।

पुराने जमाने में स्त्रियों की शिक्षा को प्रोत्साहन दिया जाता था। शिक्षा की देवी सरस्वती है। महानिर्वाण-तंत्र में कहा गया है:

'कन्या के पालन-पोषण और शिक्षा में भी बड़ा प्रयत्न और सावधानी रखनी चाहिए' (८,४७)।

देवी-माहात्म्य में कहा गया है: 'सभी प्रकार की विद्याएं तेरे ही रूप हैं; सारे विश्व की नारियां तेरे रूप हैं (२.६)। मैत्रेयी, गार्गी, अरुन्धती, लीलावती और अन्य महिलाओं का उल्लेख पुराने ग्रन्थों में हुआ है।

वैदिक युग में महिलाओं को शिक्षा और काम के समान अवसर प्राप्त थे। उनका उपनयन होता था और वे ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर सकती थीं।

हमारे इतिहास के कुछ युगों में नारी-शिक्षा दुर्भाग्य से उपेक्षित रही जिससे स्त्रियां निरक्षर और अन्धविश्वासी बन गयीं। स्वामी विवेकानन्द ने २९ जुलाई १८९७ को मार्गरेट नोबल (भगिनि निवेदिता) को लिखा था:

'मैं तुमसे स्पष्ट कहता हूं कि भारत की कर्म-भूमि में तुम्हारे लिए बड़ा उज्ज्वल भविष्य है। आवश्यकता है एक महिला की, पुरुष की नहीं, जो भारतीयों, खास तौर से महिलाओं के लिए काम करने में सचमुच एक सिंहिनी हो। अभी भारत महान् नारियों को जन्म देने की स्थिति में नहीं है, उसे महान् नारियों को अन्य देशों से उधार लेना होगा। अपनी शिक्षा, सचाई, पवित्रता, विशाल प्रेम, संकल्प और सबसे ज्यादा, अपने अंग्रेज रक्त के कारण तुम्हीं वह महिला हो जिसकी आवश्यकता है।'

स्वामी विवेकानन्द ने जो यह कहा कि 'भारत अभी महान् नारियों को जन्म देने की स्थिति में नहीं है' उसका कारण यह था कि पिछले कुछ दिनों में भारतीय नारियों की अवस्था बहुत गिर गयी है। पिछले दिनों में हमने यह भुला दिया कि नारियां भी मनुष्य हैं और उचित परिस्थितियों के मिलने पर वे भी बड़े-बड़े काम

सफलता-पूर्वक कर सकती हैं। फलतः हमने नारियों की प्रतिभा का निरादर किया।

आज जो भारतीय नारियों में जागृति दिखायी दे रही है उसका श्रेय रामकृष्ण-आन्दोलन को तथा गान्धी जी के परिश्रम को है। यह सत्य है कि रामकृष्ण परमहंस ने अपने पुरुष-भक्तों को नारी और धन के त्याग का उपदेश दिया, लेकिन इसका कारण केवल यह था कि पुरुष स्त्रियों के मामले में बड़ा कमजोर होता है जिससे उसके साधना के मार्ग से च्युत होने की सम्भावना हो जाती है। इसी तरह से उन्होंने स्त्री-भक्तों को भी पुरुष और धन के त्याग का उपदेश दिया था। रामकृष्ण का नारियों के प्रति कितना आदर का भाव था, इसका पता शारदा देवी और अन्य महिलाओं के साथ उनके व्यवहार से चलता है। उन्होंने भैरवी ब्राह्मणी नामक एक नारी को अपना गुरु बनाया था। जिस प्रकार पुरुष स्वभाव से बुरा नहीं होता उसी प्रकार नारी भी स्वभाव से बुरी नहीं होती। गान्धी जी ने कई नारियों को देश की राजनीतिक स्वतंत्रता के युद्ध में लगाया। इससे भारतीय नारियों की मुक्ति को बल मिला।

× × ×

आध्यात्मिक जीवन और सामाजिक सेवा का रास्ता तो नारियों के लिए खुला हुआ है, लेकिन विवाह और मातृत्व उनके स्वाभाविक काम माने जाते हैं। आधुनिक मानवविज्ञान स्पष्ट बतलाता है कि मानव-समाज में, चाहे वह आदिम युग का हो चाहे सभ्य हो, विवाह और परिवार किसी न किसी रूप में आधारभूत संस्थाएं रही हैं। किसी ऐसी सामाजिक व्यवस्था की कल्पना करना कठिन है जिसमें ये संस्थाएं न पायी जाती हों। पुरुष और नारी का सम्बन्ध एक से दो होने की इच्छा का प्रकाशन है। प्रत्येक को अपनी

पूर्ति के लिए दूसरे की आवश्यकता होती है। लिंग-भेद एक प्राकृतिक तथ्य है, जाति-भेद और वर्ग-भेद की तरह एक कृत्रिम बात नहीं। स्त्री और पुरुष साधारणतया एक आधारभूत इकाई का निर्माण करते हैं।

भारतीय परम्परा में विवाह की बड़ी प्रशंसा है। नारियों को अपना पति चुनने की आज़ादी थी। समन-नामक लोकप्रिय उत्सव के वर्णनों से नारी की स्वतंत्रता का प्रमाण मिलता है। इस उत्सव में स्त्री-पुरुष स्वतंत्रता के साथ मिलते-जुलते थे। सप्तशती में एक रोचक प्रसंग है जिसमें दुर्गा जो कि कुमारी है, विवाह के इच्छुक दैत्यों से कहती है : 'मेरा पति वही हो सकेगा जो युद्ध में मुझे हरा देगा, जो मेरे गर्व को भंग कर देगा, जो इस जगत् में मेरी बराबरी करेगा।' नारियां विलासिनी नहीं थीं। विवाह का प्रयोजन आध्यात्मिक साहचर्य है। महाभारत में कहा गया है : 'मेरा हृदय तुम्हारा बने और तुम्हारा हृदय मेरा बने' (१,३,९)। फिर भी सम्भोग-सुख की निन्दा नहीं की जाती थी। मानवीय विकास के लिए यह महत्त्वपूर्ण माना जाता था।

पुरुष की प्रवृत्ति नारी को दिल-बहलाव और सुख का साधन बनाने की रही है। नारी को कहा जाता है कि वह पुरुष को अपने अस्तित्व की सार्थकता और औचित्य के रूप में माने। इसी बात को प्रकट करनेवाली एक कहावत है, 'पुरुष केवल ईश्वर के लिए और नारी पुरुष-रूपी ईश्वर के लिए है।' प्रायः यह कहा जाता है कि पूर्व की नारी ग़ुलाम है। इसका अर्थ केवल यही है कि उसके अन्दर आत्म-गौरव का गुण नहीं है। आन्तरिक स्वभाव की दृष्टि से पूर्व की नारी अन्य नारियों से बहुत भिन्न नहीं है। वह अपनी सामाजिक और धार्मिक संस्कृति के कारण अपने नारी-सुलभ गुणों को बनाये रखती है। वह दान करती है लेकिन प्रतिदान नहीं मांगती। सारी

दुनिया की नारियां प्रेममयी और आज्ञाकारिणी होती हैं। जहां पुरुष डरता है वहां वे साहस दिखाती हैं।

स्त्री-पुरुष दोनों ही, खास तौर से स्त्रियां सन्तानोत्पादन की जबर्दस्त इच्छा रखती हैं। यह सामाजिक आदतों का फल नहीं है। मातृत्व से मिलने वाला सन्तोष प्रसिद्ध ही है। एक नारी प्रसव की वेदना सहन करती है, किन्तु सर्जन के आनन्द में वह उस वेदना को भूल जाती है। नारी का पुरुष की वासना की वस्तु होना एक आकस्मिक बात है। मातृत्व, स्रष्टृत्व, नेतृत्व उसका असली रूप है। अपनी सन्तान को पालना, उसके विविध शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक गुणों का विकास करना उसका विशेषाधिकार है। मातृदेवो भव—अपनी माता को देवी समझो—यह सन्तान के लिए एक प्राचीन उपदेश है। मनु ने कहा है: 'एक आचार्य का महत्त्व दस उपाध्यायों से बढ़कर है; एक पिता का महत्त्व सौ आचार्यों से बढ़कर है; लेकिन एक माता का महत्त्व एक हजार पिताओं से बढ़कर है' (मनुस्मृति २·१४५)। जिस विवाह का फल मातृत्व नहीं वह अपूर्ण है।

विवाह-बन्धन का और परिवार का आजकल कमज़ोर पड़ जाना एक बड़ी चिन्ता की बात है। यह कोई सौभाग्य की बात नहीं है कि अभी हमारे देश में इतनी बुराई पैदा नहीं हुई जितनी अन्य देशों में है। स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध हमारे देश में भी धीरे-धीरे शिथिल पड़ता जा रहा है। इसे रोकने का उपाय यह है कि हम न केवल नारियों के लिए बल्कि पुरुषों के लिए भी सामान्य शिक्षा और नैतिक शिक्षा के मानदण्डों को ऊंचा उठावें। सफल विवाह के लिए व्यक्तिगत समायोजन की जरूरत होती है जो कि आसान काम नहीं है। व्यक्तिगत समायोजन तभी सम्भव है जब हम कुछ नैतिक और धार्मिक प्रतिमानों को अपनावें।

× × ×

भारतीय संस्कृति नारी के लिए आध्यात्मिक विकास या बौद्धिक उत्कर्ष का निषेध नहीं करती। जो नारियां साधुता या विद्वत्ता की ओर प्रवृत्ति रखती हैं वे भावना से संन्यासिनी हो जाती हैं, यद्यपि शरीर से हमेशा नहीं। उनसे यह मांग की जाती है कि वे अपने उद्देश्यों के प्रति एकान्त रूप से सच्ची बनी रहें। श्री शारदा देवी इसकी एक श्रेष्ठ उदाहरण हैं। जिन लोगों को उनसे मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है वे जानते हैं कि वे दया, पवित्रता और सरलता की साक्षात् प्रतिमा थीं।

भगिनि निवेदिता ने उनके बारे में कहा था :

मुझे सदैव ऐसा प्रतीत हुआ है कि वे (श्री शारदा देवी) भारतीय नारीत्व के आदर्श के बारे में श्री रामकृष्ण की अन्तिम कल्पना हैं। लेकिन क्या वे एक प्राचीन परम्परा में अन्तिम हैं या एक नयी परम्परा में प्रथम? एक महात्मा ने उनमें साधारण से साधारण स्त्री जिस ज्ञान और माधुर्य को प्राप्त कर सकती है उसके दर्शन किए। और मेरे लिए तो उनका सौजन्य और उनकी उदारता उतनी ही आश्चर्यजनक है जितनी उनकी साधुता। उनसे पूछा जाने वाला प्रश्न चाहे कितना ही नया और जटिल क्यों न हो, मैंने कभी उन्हें अपना उदार निर्णय देने में झिझकते नहीं देखा। उनका जीवन एक दीर्घ और शान्त प्रार्थना है। उनका सारा जीवन उस सभ्यता का है जिसमें ईश्वर राजा और धर्म क़ानून माना जाता था। फिर भी वे प्रत्येक परिस्थिति के मूल पर पहुँच जाती हैं। अगर वे अपने आस-पास की किसी बुराई से पीड़ित होती हैं तो इसका एकमात्र चिह्न यह होता है कि उनके अन्दर एक विचित्र शान्ति और गम्भीरता आ जाती है। अगर कोई उनके ज्ञान के दायरे के बाहर किसी सामाजिक घटना से उत्पन्न उलझन या अपमान को उनके सामने ले जाता है तो अपने निर्भ्रान्त सहज ज्ञान के बल पर

वे समस्या के मूल तक पहुँच जाती हैं और पूछने वाले को सही रास्ते पर ले आती हैं। भावुकता उनको सही रास्ते से विचलित नहीं कर सकती। अगर किसी नये चेले को वे वर्षों तक भीख मांगने के लिए निन्दा करती हैं तो वह उनके पास से एक घण्टे के अन्दर चला जायेगा। जिसने उनके शिष्टाचार और सम्मान के आदर्श का उल्लंघन कर दिया वह उनके सामने फिर कभी नहीं आयेगा। फिर भी, जैसा कि उनके एक शिष्य ने कहा है, वे 'संगीतमय' हैं, सीधी और विनोदप्रिय हैं। और जिस कमरे में वे पूजा करती हैं वह माधुर्य से ओत-प्रोत रहता है।

किन्तु पुरुषों की तरह अधिकतर नारियां वैराग्य, विज्ञान या विद्या के जीवन की अपेक्षा वैवाहिक और मातृत्व का जीवन पसन्द करती हैं। वे हमारी संस्कृति की संरक्षिकाएं हैं। जिन परिवारों में उन्हें आधुनिक शिक्षा प्राप्त हुई है उनमें भी वे घरेलू काम करती हैं, गीत और लोकप्रिय कविता को आश्रय देती हैं। इनमें एक निश्चित जीवन-दर्शन पाया जाता है। अपनी स्वभावगत विशेषता के कारण नारियां सभ्यता की प्रचारिकाएं होती हैं। अपने आत्म-बलिदान के अनन्त सामर्थ्य के कारण वे अहिंसा की नेत्री हैं। उनको अभी युद्ध में रत विश्व को शान्ति की कला सिखानी है।

११

भारतीय धार्मिक दृष्टिकोण

(कोलम्बिया विश्वविद्यालय की दो शताब्दियां पूरी होने के अवसर पर प्रसारित भाषण, अक्टूबर १९५४)

कोलम्बिया विश्वविद्यालय में दुनिया की विभिन्न संस्कृतियों और दुनिया के विभिन्न भागों से आने वाले छात्रों का संगम होता है, और इससे हमें मानवीय संस्कृति के लक्ष्य को नये सिरे से निश्चित करने का तथा मनुष्य की बृहत्तर विरासत को दुबारा खोजने का सुअवसर प्राप्त होता है। जो लोग इन भाषणों का आयोजन कर रहे हैं उन्हें इस बात का यक़ीन है कि हमारी आज की महान् आवश्यकता दूसरे लोगों और उनकी सभ्यताओं का, विशेष रूप से उनकी नैतिक और आध्यात्मिक उपलब्धियों का, उचित मूल्यांकन और गहरा विचार है। आदमी के बारे में पुराना एशियाई दृष्टिकोण पुराने यूरोपीय दृष्टिकोण से बहुत भिन्न नहीं है। मैं 'राष्ट्रों या महाद्वीपों का मनोविज्ञान' नाम के झूठे विज्ञान में आस्था नहीं रखता जो यह कहता है कि एशियावासी ऐसे हैं और यूरोपवासी वैसे हैं। किसी भी राष्ट्र का इतिहास उससे अधिक जटिल होता है जिसका सुझाव राष्ट्रों के बारे में किये गये व्यापक कथनों से मिलता है। सच्चाई यह है कि एशियाई और यूरोपीय लोगों की शुरुआत एक ही मूल से हुई है, उन्होंने उस मूल से अपेक्षाकृत स्वतंत्र दृष्टिकोणों का विकास किया और कुछ ऐसी विशेषताएं अर्जित कीं जिनसे वे अलग-अलग पहिचाने जाते हैं।

अलग-अलग तरीक़ों से विकास करने के बावजूद एशिया के

लोगों की अनेक विशेषताएं समान हैं, और यही हमारा आदमी के बारे में एशियाई दृष्टिकोण की चर्चा करने का औचित्य है। आदमी के बारे में पुराना एशियाई दृष्टिकोण तत्त्वत: एक धार्मिक दृष्टिकोण है। जो धर्म आज जीवित हैं उन सबका प्रारम्भ एशिया में हुआ था; कन्फ्यूशियन और ताओ-धर्म चीन में पैदा हुए; हिन्दू, बौद्ध, जैन और सिक्ख-धर्म भारत में पैदा हुए; पारसी-धर्म ईरान में पैदा हुआ; यहूदी और ईसाई-धर्म फ़िलिस्तीन में; तथा इस्लाम अरब में पैदा हुआ। पाश्चात्य लोगों ने जिन धर्मों को अपनाया वे सब एशिया में उत्पन्न हुए। इस छोटे से प्रवचन में अलग-अलग धर्मों के विकास का विस्तार से वर्णन सम्भव नहीं है। मैं केवल भारतीय दृष्टिकोण का कथन करके ही सन्तोष करूंगा, जिससे कि मैं कुछ-कुछ परिचित हूं। इसके अलावा यह भी है कि भारतीय संस्कृति ने एशिया की विचार-धारा और कला के एक बृहत् भाग को प्रभावित किया है और दुनिया के अन्य हिस्सों पर भी असर डाला है। भारत-भूमि में विभिन्न नस्लों, भाषाओं और संस्कृतियों के लोगों का समागम हुआ; और, यद्यपि समय-समय पर उनके बीच संघर्ष होने की बात भी सुनी जाती है, तथापि वे एक समान सभ्यता के अंग बनकर एक साथ बस गये। इस समान सभ्यता की मुख्य विशेषताएं हैं : एक अदृश्य सत्ता में, सब प्राणी जिसकी अभिव्यक्ति हैं, विश्वास; आध्यात्मिक अनुभव को प्राधान्य देना; नैतिक आदर्शों का कठोर अनुसरण; और परस्पर विरोधी मालूम पड़ने वाली बातों में सामंजस्य स्थापित करने की चिन्ता।

भारतीय संस्कृति का एक सिद्धान्त जिससे बाहरी दुनिया बहुत अच्छी तरह से परिचित है, 'तत्त्वमसि' का है। अमृत हमारी आत्मा में ही मौजूद है। जो सभी बाह्य वस्तुओं का आन्तरिक तत्त्व है वह हमारी आत्मा का भी तत्त्व है। जिस महात्मा की वासनाएं बिल्कुल

शान्त हो गयी हैं वह अपने अन्तस्तल में ही परम तत्त्व के दर्शन कर लेता है। चूंकि आदमी में ईश्वर का प्रतिबिम्ब है, इसलिए आदमी पवित्र है। अगर हम स्थूल देह को या मन को मनुष्यत्व समझते हैं तो हम यह समझने में असमर्थ रहते हैं कि आदमी तत्त्वतः आत्मा है जिसमें ईश्वर प्रतिबिम्बित होता है, जो ईश्वर से सादृश्य रखता है, और जो प्राकृतिक कारणों की उपज नहीं है। आदमी प्रकृति के चक्र से अकस्मात् विच्छिन्न होने वाली कोई चीज नहीं है। एक आध्यात्मिक सत्ता के रूप में वह प्राकृतिक और सामाजिक दुनिया के स्तर के ऊपर है। वह तत्त्वतः एक द्रष्टा है, दृश्य नहीं। आदमी के अन्दर रहने वाला तत्त्व उन बाहरी गुणों से जिनसे हम आदमी को पहिचानते हैं और उन बाह्य सम्बन्धों से जिनसे वह बँधा हुआ है, बिल्कुल भिन्न है। हम आत्मा को जानते हैं, लेकिन उस रूप में नहीं जिस रूप में वस्तु को जानते हैं। जब हम अन्दर की ओर दृष्टिपात करते हैं तब हमारा अपने अन्तर का ज्ञान एक सीमा से आगे नहीं बढ़ता। आत्मा संवित्, विचार और अनुभूति से भी गहरा है। हम उसे न तो देख सकते हैं और न उसका लक्षण बता सकते हैं, क्योंकि आत्मा स्वयं ही देखने वाला और लक्षण बताने वाला है। यह चक्षु है जो हमारे ज्ञान का कर्म नहीं बल्कि कर्ता है। इसको विचार के द्वारा नहीं पकड़ा जा सकता, बल्कि अपने सम्पूर्ण अस्तित्व के द्वारा पकड़ा जा सकता है। केवल तभी हमें प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर सर्वोच्च सत्ता के निवास का ज्ञान होता है।

प्रसिद्ध भारतीय ग्रन्थ भगवद्गीता में मनुष्य की आत्मा को अमर कहा गया है। शस्त्र आत्मा का छेदन नहीं कर सकते, आग उसे नहीं जला सकती, जल उसे नहीं भिगो सकता, और न वायु ही उसे सुखा सकता है। वह अछेद्य, अदह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है;

वह नित्य, विभु, अपरिणामी, अचल है; वह सदैव समान बना रहता है।

आत्मा एक नट के समान है। नट बनावटी चेहरा लगाकर मंच पर आता है और तरह-तरह के खेल करता है। उसके असली चेहरे को दर्शक नहीं देख पाते और वह नाटक की बातों से वस्तुतः तटस्थ रहता है। जिन दुःख-सुख इत्यादि भावों का वह प्रदर्शन करता है उनसे वह अस्पृष्ट रहता है। उसका स्वरूप नाटक के छद्मवेश में छिपा रहता है। जो छद्मवेश आत्मा ने धारण कर रखा है उसको तोड़कर उसके सच्चे अस्तित्व की गहराई में प्रवेश करने के लिए साधना की आवश्यकता होती है। बाह्य व्यक्तित्व की परतों को तोड़कर व्यक्ति सांसारिक जीवन का अभिनय करने वाले उदासीन नट के पास पहुँचता है। आदमी जो कुछ दिखायी देता है उससे कहीं अधिक है। जब क्रीटो ने सुकरात से पूछा कि 'ऐ सुकरात, तुम्हारी अन्तिम क्रिया हम कैसे करें?' तो सुकरात ने जवाब दिया : 'जैसा तुम चाहो वैसा करो, लेकिन पहिले मेरे असली 'मैं' को पकड़ लेना। प्यारे क्रीटो, हँसो और कहो कि तुम मेरे शरीर मात्र को दफ़ना रहे हो, मेरे शरीर के साथ तुम वही करो, जो होता आया है और जो तुम सबसे अच्छा समझते हो।'

भारतीय विचारकों ने प्रकृति को आत्मा का विरोधी नहीं माना है। जब आदमी के प्राकृतिक जीवन की मूर्च्छा दूर हो जाती है तब उसकी आध्यात्मिक सत्ता प्रकट होने लगती है। आदमी का अन्तिम विकास स्वयं उसके अधीन है। उसका भविष्य अन्य प्राणियों की तरह केवल उसके भौतिक अतीत के द्वारा निर्धारित नहीं होता। विकास के लिए उसकी अपनी जो योजनाएँ होती हैं उन्हीं से उसका भविष्य शासित होता है। आदमी जड़ जगत् का एक महत्त्वहीन कण नहीं है। जब हम आदमी के अन्तर्वर्ती आत्मा

की उपेक्षा कर देते हैं, संसार के साथ अपना अभेद कर देते हैं, तब हम अपनी संग्रह की हुई वस्तुओं को ही आत्मा समझने लगते हैं; हम वस्तुओं के अँधेरे और दम घोटने वाले दलदल में छटपटाते रहते हैं, अपनी शक्तियों को जीवन के लिए नहीं बल्कि वस्तुओं के लिए नष्ट करते रहते हैं। अपने मकान, धन-सम्पत्ति इत्यादि को अपना दास बनाने के बजाय हम स्वयं उनके दास बन जाते हैं। इस प्रकार हम आध्यात्मिक जीवन से च्युत हो जाते और आत्मा-हीन बन जाते हैं। हमारे आध्यात्मिक गौरव के साथ अगर किसी चीज़ की असंगति है तो प्रकृति में लिप्त होने की। प्रकृति के बन्धनों का त्याग करना हमारे लिए आवश्यक नहीं है। हमारी देह ईश्वर का मन्दिर है। यह धर्म का साधन है। जब आदमी प्रबुद्ध हो जाता है, पूरी तरह जाग उठता है, तब उसे अनुभव होता है कि किसी रूप में, जिसको पूरी तरह से स्पष्ट नहीं किया जा सकता, वह आध्यात्मिक सत्ता को व्यक्त करने का साधन है। जब हम यह जान लेते हैं, तब हम इस संकीर्ण व्यक्तित्व की सीमाओं को पार कर जाते हैं, हम देख लेते हैं कि हम और सभी मनुष्य एक ही आत्मा की अभिव्यक्तियां हैं; तब जाति और रंग, धर्म और राष्ट्र के भेद आकस्मिक बातें हो जाते हैं। सुकरात ने मृत्यु से पहिले कहा था : 'मैं एथेंस का वासी या यूनानी नहीं हूं बल्कि विश्व का नागरिक हूं।' संस्कृत में एक श्लोक है : '[illegible] कम्'। अर्थात् उदार हृदय वालों के लिए सारा जगत् अपना परिवार है। भगवद्गीता में कहा गया है कि एक सच्चा धार्मिक व्यक्ति सुख-दुःख में समान रूप से हरेक चीज़ में अपनी आत्मा की छाया देखता है।

मनुष्य के अन्दर जो ईश्वर के निवास पर जोर दिया गया है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कोई भी व्यक्ति, चाहे वह कितना

ही पापी क्यों न हो, ऐसा नहीं है जो मुक्ति का अधिकारी न हो। कोई भी स्थान ऐसा नहीं है जिसके द्वार पर ऐसा लिखा हो कि 'ऐ प्रवेश चाहने वालो, अन्दर आने की आशा छोड़ दो।' कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जो बिल्कुल बुरा हो। प्रत्येक व्यक्ति के चरित्र को उसके जीवन के सन्दर्भ में समझना चाहिए। सम्भवतः अपराधी वे रुग्ण व्यक्ति होते हैं जिनका प्रेम उचित लक्ष्य से हट गया है। सभी मनुष्य 'अमृत के पुत्र' हैं। परमात्मा हरेक के अन्दर उसकी आत्मा का अंश बनकर, उसके अस्तित्व के मूल आधार का अंश बनकर निवास कर रहा है। सम्भव है कि कुछ ऐसे हों जिनके अन्दर वह पाशविकता और हिंसा के नीचे इस तरह दबा पड़ा हो जैसे खँडहरों के नीचे खज़ाना दब जाता है। किन्तु फिर भी वह वहां सक्रिय और जीवित रहता है और ऊपर आने के लिए किसी उपयुक्त अवसर की तलाश में रहता है। जो रोशनी दुनिया में पैदा होने वाले हर इंसान को रोशन करती है वह कभी बुझ नहीं सकती। हम चाहें या न चाहें, हम मानें या न मानें, ईश्वर हमारे अन्दर मौजूद है और ईश्वर के साथ सचेतन एकता प्राप्त करना ही मनुष्य का लक्ष्य है। जापान के एक ज़ेन बौद्ध-उपदेशक ने कहा है : 'कोई भी गांव ऐसा नहीं है जहां उज्ज्वल चंद्रमा की किरणें न पहुँचती हों। न ऐसा कोई आदमी ही है जो अपने विचार की खिड़कियों को खोल-कर ईश्वरीय सत्य का दर्शन न कर सके और उसे अपने हृदय में स्थान न दे।'

प्रकाश के लोक और अन्धकार के लोक का भेद, स्वर्ग और नरक का भेद सामान्य है। शाश्वत पुरुष की सर्वशक्तिमत्ता, उसका सर्व-लोक-प्रेम निष्फल नहीं हो सकता : हिन्दू और बौद्ध धर्मों का लक्ष्य सबकी मुक्ति है। महायान बौद्ध-धर्म के अनुसार बुद्ध ने दूसरों की निर्वाण-प्राप्ति में सहायता करने के लिए स्वयं आत्म-

बूझकर निर्वाण-प्राप्ति नहीं की। उन्होंने यह व्रत धारण किया है कि जब तक प्रत्येक अस्तित्ववान् पदार्थ को अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती तब तक मैं निर्वाण-लाभ नहीं करूंगा।

इसका यह मतलब नहीं है कि हिन्दू और बौद्ध-धर्म भले-बुरे, सत्-असत् का भेद नहीं मानते। इसका मतलब केवल यही है कि जो बुरा है उसको भी अपने सुधार के हेतु अन्य अवसर प्राप्त होते हैं। ईश्वर जीवात्मा को एक के बाद एक आध्यात्मिक उन्नति के अवसर देता रहता है। यदि मनुष्य को केवल एक ही अवसर प्राप्त हो तो इस जीवन की समाप्ति के बाद वह भलाई के लिए स्वर्ग का और बुराई के लिए नरक का भोग करेगा। इस तरह का सिद्धान्त ईश्वर को अनन्त प्रेम और अनन्त दया मानने के विरुद्ध है। भारत सदैव एक ऐसे आदर्श का समर्थक रहा है जो मनुष्य को मात्र काल का दास, भौतिक परिस्थितियों और साधनों मात्र पर जीवित, और उनके अन्दर सीमित नहीं बनाता। हमने यह घोषणा की है कि संसार ऋत् अर्थात् नैतिक नियम के अधीन है, कि यह जीवन धर्म का क्षेत्र है। आदमी किसी भी अवस्था में हो, वह प्रयत्न करके पूर्णता प्राप्त कर सकता है। हिन्दू और बौद्ध धर्म को नव-जीवन देने वाला अनुभव मानते हैं। धर्म ईश्वर का सैद्धान्तिक ज्ञान नहीं है बल्कि आध्यात्मिक चेतना तत्त्व का दर्शन है। विश्वास और व्यवहार, धार्मिक कृत्य और अनुष्ठान, उपदेश और गुरु आत्म-लाभ और ईश्वर-प्राप्ति के साधन मात्र हैं। जब आदमी अपनी आत्मा को सब दुनियावी बातों से खींच लेता है, अन्तर्मुखी हो जाता है, ध्यानस्थ होकर प्रयत्न करता है, तब उसके अन्दर एक ऐसे पवित्र, विचित्र और अनोखे अनुभव का प्रकाश होता है जो उसको अभिभूत करके उसके अस्तित्व के साथ एकाकार हो जाता है। ऐसे अनुभव का होना ईश्वर की सत्ता का सबसे बड़ा प्रमाण है। विज्ञान और तर्क

के समर्थकों को भी मौलिक और भावात्मक आध्यात्मिक अनुभव की सत्यता के सामने नतमस्तक हो जाना पड़ता है। हम धार्मिक सिद्धान्तों को मानने से इंकार कर सकते हैं, किन्तु तथ्यों से इंकार करना हमारे वश की बात नहीं है। आग के चारों ओर बैठे हुओं की कल्पनाओं से इंकार किया जा सकता है, प्रत्यक्ष जलने वाली आग से कौन इंकार कर सकता है ?

आध्यात्मिक सिद्धि एक तथ्य है, लेकिन सत्ता-विषयक सिद्धान्त एक अनुमान है। तत्त्व के दर्शन और तत्त्व की कल्पना में अन्तर है, ईश्वर के रहस्य और ईश्वर के विश्वास में भेद है।

बुद्धि को अपने में पूर्ण मानना खतरे से भरा है। धार्मिक चिन्तन की प्रगति में रुकावट मनुष्य की बुद्धि के इस विश्वास से होती है कि सत्य की खोज हो चुकी है, उसका कथन हो चुका है, वह अपने प्रतिमान को पहुँच चुका है, और अब आदमी के लिए इसके अलावा और कुछ करना शेष नहीं है कि वह उस शाश्वत पूर्णता की किसी अमूल्य विशेषता को जो उसकी पहुँच से बहुत दूर है अपने दुर्बल चरित्र में उतारे। धर्म तो एक आध्यात्मिक साधना है। धार्मिक ग्रन्थों के आधार पर यह दावा करना कि असन्दिग्ध सत्य का ज्ञान हो चुका है, इस बात से संगति नहीं रखता। मनुष्य के जीवन की परिपूर्णता उस आध्यात्मिक अनुभव में होती है जिसमें मनुष्य के अस्तित्व का प्रत्येक पहलू चरम उत्कर्ष को प्राप्त हो जाता है; जिसमें समग्र चेतना केन्द्रीभूत हो जाती है और समग्र बुद्धि एक लघु क्षण में अनिर्वचनीय बातों को ग्रहण कर लेती है। तब आत्मा की लालसा और प्रेम, उसकी इच्छा और क्रिया, उसके प्रयत्न और विचार परमात्मा में व्याप्त हो जाते हैं, जिनका वाणी और मन से प्रकाशन नहीं हो सकता। यही धर्म है। इसके बारे में मात्र तर्क करना धर्म नहीं है।

जब हम धार्मिक सिद्धान्त बनाते हैं तब उस चीज को जिसका पहिले हमारे अस्तित्व पर अधिकार था, एक ऐसी चीज में बदल देते हैं जो हमारे अधिकार में है। इस प्रकार समग्र अनुभव एक ज्ञान की वस्तु बन जाता है। ये ज्ञान की वस्तुएं ही हमारे संप्रदायगत वाद-विवाद के विषय हैं। इन वाद-विवादों की गहराई में, खामोशी और वाचालता के नीचे धर्म सर्वत्र एक ही है। विभिन्न धार्मिक परम्पराएं एक ही आधार-भूमि पर खड़ी हैं। इस आधार-भूमि पर हम सबका अधिकार है, क्योंकि इसका मूल कोई ऐतिहासिक पुरुष नहीं बल्कि शाश्वत आत्मा है। इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि आधार-भूत बातें सर्वत्र एक-सी हैं और इन्हीं बातों पर भविष्य की आशा टिकी है। इन बातों की सार्वभौमता से ही धार्मिक एकता और सांस्कृतिक समझौता सम्भव है। जीवन के प्रति एशियाई दृष्टिकोण में जो आवश्यक बातें हैं, जो कि पश्चिम की महान् आध्यात्मिक परम्परा में भी पायी जाती हैं, वे हमको आने वाली नयी दुनिया के लिए सम्बल प्रदान करती हैं। ये आवश्यक बातें हैं : आत्मा में छिपी हुई ईश्वरीयता, लोकतंत्र में आस्था, सारे जीवन और सत्ता की एकता, मानव-जाति की एकता की वृद्धि के लिए विभिन्न विश्वासों और संस्कृतियों के सक्रिय समन्वय पर जोर।

आधुनिक सभ्यता जो कि उत्तरोत्तर अधिक औद्योगिक होती जा रही है, सत्य के एक सीमित रूप पर बल देती है। वह परीक्षण और प्रयोग से प्रमाणित बातों को ही कार्य का आधार बनाती है। कुछ वैज्ञानिक और उद्योग-विशेषज्ञ जो हमारे युग के नेता बन गये हैं, आदमी को एक विशुद्ध यांत्रिक, भौतिक वस्तु और स्वयं-चालित प्रतिक्षेपों से निर्मित जन्तु बताते हैं। वे स्त्री-पुरुषों की पार्थिव प्रवृत्तियों पर जोर देते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि आदमी के अन्दर रहने वाली उच्च दैवी शक्ति के प्रति वे अन्धे बन गये हैं। जो लोग

इस युग में पैदा हुए हैं वे धार्मिक आस्थाओं की हानि महसूस कर रहे हैं; वे आध्यात्मिक दृष्टि से विस्थापित हैं, वे सांस्कृतिक दृष्टि से उखड़े हुए हैं; वे परम्पराहीन हैं। आदमी की एकमात्र आशा उसके आध्यात्मिक जागरण में है, इस बुद्धि के उदय में है कि वह एक अपूर्ण पशु है और उसका लक्ष्य ईश्वरीय राज्य में पहुँचना है जो कि उसके अन्दर ही छिपा हुआ है। 'वे सभी युग जिनमें किसी न किसी शक्ल में धार्मिक आस्था की प्रधानता रहती है, सुख और समृद्धि से युक्त रहते हैं और आगे होने वाली सन्तति के लिए शुभ फल पैदा करते हैं। वे सभी युग जिनमें किसी न किसी शक्ल में धार्मिक अनास्था का आधिपत्य रहता है, भावी सन्तति के द्वारा उपेक्षित रहते हैं, क्योंकि कोई भी निष्फल बातों के ऊपर अपने जीवन को घसीटना पसन्द नहीं करता।' शायद ही कोई होगा जो गेटे (प्रसिद्ध जर्मन महाकवि) के उपर्युक्त कथन से इंकार करेगा या इसे धार्मिक अविश्वास का युग नहीं मानेगा। यह युग विश्वास की ज्योति से हीन उतना नहीं है जितना विश्वास की क्षमता के अभाव से ग्रस्त है। आज का समाज चीज़ों के परस्पर सम्बन्धित होने की समझ को खो चुका है। आज के आदमी के दिमाग़ में एक खोखलापन घर कर गया है जिसे भरने की शक्ति कट्टर धर्मों में नहीं है। जब पुराने देवता, पुराने सत्य, पुराने मूल्य धुँधले पड़ते जा रहे हैं, जब जीवन ही धुँधला पड़ गया है और उसकी सूरतें कड़ी पड़ती जा रही हैं, तब हमेशा की तरह ऐसे अनुभूतिशील चरित्र भी हैं जिनको नये और महत्तर विश्वासों का अभाव असह्य लगता है। धर्म हमारे स्वरूप की इतनी गहराई में प्रविष्ट है कि इस द्विविधाजनक परिस्थिति को हम बर्दाश्त नहीं कर सकते।

जब यूनानी और रोमन सभ्यता का आधिपत्य था, तब वह विजित लोगों को एक धर्म देने में असफल रही, और बजाय उन्हें

धर्म देने के, उनसे धर्म लेकर वह स्वयं पराजित हुई। क्या यह सम्भव नहीं है कि आज एशिया के लोग नयी दुनिया का, जो कि विज्ञान और यंत्रों पर आधारित है, आध्यात्मिक नेतृत्व करें ? अपने भौतिक और राजनीतिक साधनों के द्वारा पश्चिम व्यवस्था का एक ऐसा सुरक्षित ढांचा दे सकता है जिसके अन्दर विभिन्न सभ्यताएं घुल-मिल सकें और उनके मध्य एक ऐसा सफल समागम हो सके जिससे दुनिया की आध्यात्मिक दरिद्रता जाती रहे। आध्यात्मिकता के अभाव में हमें वैज्ञानिक उपलब्धियों से बराबर विनाश का भय बना हुआ है। दुनिया या तो युद्ध की ज्वाला में नष्ट हो जायेगी या शान्ति से रहने लगेगी। यह इस बात पर निर्भर करता है कि हम अपने युग की समस्याओं का कितनी गम्भीरता के साथ मुक़ाबला करते हैं। एक ऐसे मनुष्य-समाज का जो कि हमारे विज्ञान और दुनिया के विवेकशील लोगों की समझ के अनुकूल हो, निर्माण किया जा सकता है, बशर्ते कि वे लोग जिनके हाथ में शक्ति है और जो उच्च स्थितियों में हैं, कठिनाइयां सहने के इच्छुक हों—ये कठिनाइयां इतनी ज़बर्दस्त नहीं हैं जितनी युद्ध की होती हैं।

अन्त में मैं एक प्राचीन प्रार्थना के साथ समाप्त करता हूं : सब सुखी हों, सब नीरोग हों, सबका कल्याण हो, किसी को दुःख प्राप्त न हो, सर्वत्र शान्ति हो।

सर्वे भवन्तु सुखिनः
सर्वे सन्तु निरामयाः
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु
मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्।
शान्तिः! शान्तिः! शान्तिः!

भारतीय धार्मिक विचार-धारा और आधुनिक सभ्यता

(अन्नामलै विश्वविद्यालय में अखिल भारतीय प्राच्य-विद्या-सम्मेलन के सभापति-पद से दिया गया भाषण, २६ दिसम्बर १९५५)

प्राच्य-विद्या-सम्मेलन के इस अधिवेशन का सभापतित्व करने का निमंत्रण देकर आपने मुझे बहुत बड़ा सम्मान दिया है। मुझे इससे आश्चर्य भी हुआ है क्योंकि प्राच्य-विद्या-सम्मेलन की कार्यवाहियों में मैंने कोई सक्रिय भाग नहीं लिया है। मैं १९२२ के कलकत्ता-सम्मेलन में मौजूद था और १९४३ में बनारस-सम्मेलन का स्वागत करने का मुझे श्रेय प्राप्त है। अतः आपकी बड़ी कृपा है कि आपने मुझे सम्मेलन के इस सम्मानित पद के योग्य समझा है।

अगर आप इस आशा में हैं कि मैं पिछले सम्मेलन के बाद प्राच्य-साहित्य में जो काम किया गया है उसका संक्षिप्त विवरण दूंगा तो आपको निराश होना पड़ेगा। न तो मैं इतना योग्य हूं और न मुझे इतना ज्ञान ही है कि मैं ऐसा कर सकूं। मैं केवल भारतीय धर्म और दर्शन के विषय में ही कह सकूंगा और उसमें भी कुछ ही बातें समसामयिक महत्त्व की होंगी।

जिन विचारों के आधार पर सभ्यता का निर्माण होता है उनका उद्गम कोई देश-विशेष, यूनान या रोम, चीन या भारत या कोई अन्य देश माना जाता है। एक पुरानी यहूदी कहावत है : रब्बियों ने पूछा, क़ानून बियाबान में क्यों उतारा गया ? और इसका उत्तर

दिया गया : ताकि कोई देश उस पर अपना दावा न कर सके। यह सभी विचारों पर लागू होता है। विचार स्वभावतः सार्वभौम होते हैं। वे व्यक्तियों के अन्दर पैदा होते हैं और समुदायों के अन्दर अपनी शक्ति का विकास करते हैं। लेकिन हम उनको किसी व्यक्ति-विशेष या समुदाय-विशेष की चीज नहीं कह सकते। अगर हम उनको वैसा कहें तो यह विचारों के स्वभाव के विरुद्ध होगा। विचार मृत चीजें नहीं हैं। उनके हाथ-पांव होते हैं। वे जीवित होते हैं और चुनौती देते हैं। उनके अन्दर शक्ति होती है। प्रत्येक प्रभाव को पहिले से नहीं जाना जा सकता।

× × ×

शायद इस महान् धार्मिक केंद्र में भारतीय परम्परा के आधार-भूत आध्यात्मिक मूल्यों का उल्लेख करना अनुचित न होगा, जो कि विश्व की एकता को बढ़ाने में सहायक हो सकते हैं। फिर भी मैं चेतावनी देता हूं कि इस संक्षिप्त और सामान्य विवेचन को विभिन्न धार्मिक परम्पराओं का पर्याप्त वर्णन नहीं समझना चाहिए।

धर्म की समस्या आदमी के अधूरेपन को समझने से पैदा होती है। जीवन एक भौतिक घटना या एक जैविक प्रक्रिया मात्र नहीं है। 'मुझे इस मृत्यु के शरीर से, इस दुनिया के खतरों और जंजालों से कौन बचायेगा?' मुक्ति की आवश्यकता ही यह बताती है कि ऐसी अवस्थाएं और परिस्थितियां मौजूद हैं जिनसे हम भागना या मुक्त होना चाहते हैं।

भारतीय धार्मिक जीवन के आधारभूत सिद्धान्त संक्षेप में ये हैं। जीवन का लक्ष्य ब्रह्म का साक्षात्कार है। जब आदमी पूर्ण स्वातंत्र्य प्राप्त कर लेता है और साधारण लौकिक अनुभव का अन्धानुसरण करना छोड़ देता है तब उसका ईश्वर से आन्तरिक साक्षात्कार होता है। इस अवस्था में आध्यात्मिक जगत् की वस्तुओं से उसका सूक्ष्म

सम्पर्क हो जाता है। ब्रह्म-साक्षात्कार इंद्रियानुभव से प्राप्त सामग्री के विश्लेषण से या तर्क-वितर्क से प्राप्त ज्ञान नहीं है। यह प्लैटो के उस दिव्य अनुभव के सदृश है जिसमें वह अपने अन्तर के दिव्य तत्त्व से प्रेरित होकर दुनिया की आन्तरिक सत्ता के साथ अपनी एकता महसूस करता है।

अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद परोक्षं ज्ञानमेव तत्;
अस्मि (अहं) ब्रह्मेति चेद्वेद अपरोक्षं तत्तु कथ्यते।

इससे बौद्धिक ज्ञान और आध्यात्मिक अनुभव का अन्तर प्रकट होता है। हम अपने को शरीर के बन्धनों से मुक्त कर सकते हैं और एक अल्प क्षण में सत्य का दर्शन करके उसके वशीभूत हो सकते हैं। हम ईश्वर को इतनी तीव्रता के साथ देखते हैं कि जितनी हमारी बाहरी आंख दिन के प्रकाश के प्रभाव में होती है उससे कहीं अधिक हमारी आत्मा ईश्वर-दर्शन के प्रभाव में हो जाती है।

तद्विष्णोः परमं पदम्।
सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम्।

बृहदारण्यकोपनिषत् में कहा गया है कि श्रवण, मनन और निदिध्यासन से हमें आत्म-दर्शन करना चाहिए :

आत्मदर्शनमुद्दिश्य वेदान्तश्रवणमनननिदिध्यासनं कर्तव्यमित्यर्थः।

मुण्डकोपनिषत् कहता है :

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते;
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

श्वेताश्वतर उपनिषत् कहता है :

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।

मैत्रेयोपनिषद् कहता है :

अन्तःशुद्धिं विना मूढो वृथा ब्रह्मणि मोदते।

अपरोक्षानुभव संवेग नहीं है बल्कि ज्ञान है। इससे हमको ईश्वर का असन्दिग्ध और प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। ईश्वर का ज्ञान द्रष्टा की चेतना में प्रवेश करता है लेकिन यह दिन के प्रकाश की तरह कहीं बाहर से नहीं आता। उस समय द्रष्टा और ईश्वर के बीच का परदा हट जाता है। द्रष्टा का लक्ष्य इस अनुभव के प्रकाश में इससे प्रेरणा लेते हुए जीवन बिताना है, ईश्वर से शाश्वत एकता प्राप्त करना है।

इन अनुभवों के भाण्डार वेद हैं जो 'सदा एक रहते हैं फिर भी सदा परिवर्तनशील हैं।' वेद भारत की सारी आध्यात्मिक परम्परा के मूलाधार हैं और उनका आधार अपरोक्षानुभव है। 'वेद' शब्द 'विद्' धातु से निकला है जो यह बताता है कि उसकी विद्या न आस्था पर आधारित है और न ईश्वर-वचन पर बल्कि अपरोक्षानुभव या दर्शन से प्राप्त उच्च ज्ञान पर आधारित है। वेदों का ऋषियों ने, प्राचीन द्रष्टाओं ने, दर्शन किया था। वेदों में मत या सिद्धान्त नहीं हैं। वेद-मंत्रों में उस चेतना का प्रतिबिम्ब झलकता है जो विश्वातीत सत्ता से अपना तादात्म्य किये हुए है। वैदिक देवता कल्पना मात्र नहीं हैं बल्कि वे शक्तियां हैं जो मनुष्य में, प्रकृति में या उसके बाहर प्रत्यक्ष दिखायी देती हैं। वेद न तो अचूक हैं और न सर्वज्ञ। आध्यात्मिक सत्य शास्त्रों से कहीं बड़ी चीज है। अवैदिक धर्माचार्यों ने जो कुछ कहा है उसमें बहुत कुछ ऐसा है जो सत्य और महत्त्वपूर्ण है और बाद की शताब्दियों के अनेक धार्मिक प्रवक्ताओं की सूझ-बूझ की भी हम प्रशंसा करते हैं। वेद गहरी सूझ और आन्तरिक अनुभव के भाण्डार हैं।[१]

---

[१] तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्।
— वैशेषिक सूत्र

भारतीय धर्मों का दूसरा आधारभूत सिद्धान्त है मनुष्य के ईश्वरीय अंश पर जोर। 'तत्त्वमसि' इसी सत्य को प्रकट करता है। परमात्मा मनुष्य की आत्मा में निवास करता है। उपनिषदों की तरह प्लैटो और फ़िलो भी मनुष्य के अन्दर देवत्व का निवास मानते हैं।

ईश्वर का वर्णन और प्राप्ति के कई विभिन्न तरीक़े हैं। हिन्दू विचारक परमात्मा को अपरिमेय, अनन्त, अक्षय और अज्ञेय मानते हैं। इस प्रकार ईश्वर का निषेध-सूचक शब्दों में वर्णन किया जाता है। ब्रह्म एक ऐसी सत्ता है जो देशकालातीत है और इसलिए जितना मनुष्य की बुद्धि समझ सकती है उससे कहीं बड़ी है। शान्तोऽयमात्मा। ब्रह्म मौन है। फिर भी ब्रह्म एक शाश्वत शक्ति है जो विश्व में व्याप्त है और उसे धारण करती है। वह सत्य का भी सत्य है और विश्व का आधार है। वह मुक्त है। उसकी सृजन, धारण और संहार की शक्तियों को ब्रह्मा, विष्णु और शिव के रूप में कल्पित किया गया है। शेष हिन्दू देवता इनमें से एक या दूसरे से सम्बन्धित हैं। परमात्मा की विभिन्न धारणाओं और रूपों का वर्णन करने में हिन्दू विनय से काम लेता है और मानवीय अज्ञता का गहरा बोध रखता है। धर्म अपने को दिव्य ज्ञान का परिणाम बताते हैं, फिर भी उनकी धारणाएं तो मानवीय बुद्धि की ही उपज हैं।

> एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
> हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥
>
> —श्वेताश्वतर० ४. १७

धर्म ईश्वर और मनुष्य दोनों को प्रतिबिम्बित करता है। चूंकि धर्म का अर्थ एक सिद्धान्त या विश्वास को मानना नहीं है बल्कि

एक प्रकार का जीवन व्यतीत करना है, इसलिए वह ईश्वर के विभिन्न दृष्टिकोणों को स्थान देता है और उन्हें सही मानता है। ईश्वर विभिन्न रूपों में प्रकट हो सकता है लेकिन हैं वे उसी के रूप। यदि हम आत्मा को राष्ट्रीय अभिमान, जातीय श्रेष्ठता, कड़े विश्वास और वर्ण या वर्ग की खोखली कल्पनाओं के अन्दर क़ैद कर देते हैं तो हम आत्मा का दम घोटते हैं। उपनिषदों ने स्पष्ट कहा है कि तेज एक ही है यद्यपि दीपक अनेक हो सकते हैं। गाएं अनेक हैं लेकिन उनका दूध सफ़ेद ही होता है; सत्य एक है लेकिन उसकी अभिव्यक्तियां अनेक हैं।[१] भागवत में कहा गया है कि जैसे इंद्रियां एक वस्तु के विभिन्न गुणों को ग्रहण करती हैं वैसे ही विभिन्न शास्त्र ईश्वर के विभिन्न रूपों का वर्णन करते हैं।[२]

उपनिषदों में आत्मा को चतुष्पाद बताया गया है। ब्रह्म, ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराज् उसके चार पाद हैं। जगत् परमात्मा का रूप है (विश्वरूप) और उसका कारण तीन पाद वाला है। पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि (ऋग्वेद)।

मनुष्य की समस्या उसके अन्दर होने वाला देव और अदेव का संग्राम है। योगसूत्रभाष्य में कहा गया है कि चित्तवृत्ति दो मार्गों में प्रवाहित होती है, एक कल्याण का मार्ग है और दूसरा पाप का : चित्तनाड़ी नाम उभयतो वाहिनी, वहति कल्याणाय, वहति च पापाय (१.१२)। इस संग्राम में विजय पाना तथा व्यक्तित्व को अखण्ड बनाना ही धर्म का लक्ष्य है। जैसा कि अरस्तू ने कहा है,

---

[१] गवामनेकवर्णानां क्षीरस्यास्त्येकवर्णता।
क्षीरवत्पश्यते ज्ञानं लिंगिनस्तु गवां यथा॥

[२] यथेन्द्रियैः पृथग्द्वारैरर्थो बहुगुणाश्रयः।
एको नाना ईयते तद्वद्भगवान् शास्त्रवर्त्मभिः॥

यह समस्या पशु और देवता की नहीं है। यह विशेषतया मानवीय है।[1]

मनुष्य के अन्दर के द्वैत को दूर करने और पूर्णता प्राप्त करने के कई मार्ग स्वीकार किये गये हैं। दिव्य सृष्टि को देखने के लिए हमें जड़ सृष्टि की ओर आंखें बन्द कर देनी होंगी। कठोपनिषत् में कहा गया है कि मनुष्य अपनी इंद्रियों के कारण बहिर्मुखी हो जाता है और इसलिए अपनी अन्तरात्मा से उसका सम्पर्क छूट जाता है। उसकी आत्मा लौकिक वस्तुओं में, शक्ति और सम्पत्ति में लीन हो जाती है। सही रास्ते पर आने के लिए और जिन तत्त्वों को वह भूल चुका है उन्हें पुनः प्राप्त करने के लिए उसे पीछे मुड़ना होगा (२. १. १)। आत्मा के नाद को सुनने के लिए उसे जगत् के कोलाहल से दूर जाना होगा। इसका अर्थ यह नहीं है कि हमें दृष्टि, श्रवण और वाणी का त्याग करना होगा। इसका अर्थ है अन्तश्चक्षु को खोलकर आत्मा का दर्शन करना, आत्मा की आवाज़ को सुनना, परमात्मा की स्तुति में मौन गीत गाना।

सच्चा धर्मनिष्ठ जीवन अपने को प्रेम में अभिव्यक्त करता है और मानव-जाति की एकता को अपना लक्ष्य बनाता है। रुद्राक्ष, तुलसी, त्रिपुंड्र, भस्म, यात्रा, स्नान, होम, जप या देव-दर्शन मनुष्य

---

[1] द्वावेव चिन्तया मुक्तौ परमानन्दे आप्लुतौ
यो विमूढो जडो बालो यो गुणेभ्यः परं गतः॥

दो ही चिन्ता से मुक्त और आनन्द में मग्न हैं; एक वह जो मूढ़, जड़ और बाल है और दूसरा वह जो त्रिगुणातीत है।

शंकराचार्य ने कहा है :

निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः।

को पुनीत नहीं करते बल्कि प्राणियों की सेवा मनुष्य को पुनीत करती है।[१]

हिन्दू लोग सार्वभौम शान्ति का स्वप्न देखते थे और उन्होंने अपने स्वप्नों को अमर वाणी में व्यक्त किया है।

> माताच पार्वती देवी पिता देवो महेश्वरः।
> बान्धवाः शिवभक्ताश्च स्वदेशो भुवनत्रयम्।
> उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्।
> वाराणसी मेदिनी।

विश्व की एकता का लक्ष्य अहिंसा से ही प्राप्त हो सकता है। हिन्दू, बौद्ध और जैन सब अहिंसा में विश्वास करते हैं।

प्रसिद्ध तमिल ग्रन्थ तिरुक्कुरल को विभिन्न धार्मिक संप्रदाय अपना बताते हैं जिससे उसकी लोकप्रियता प्रकट होती है। उसमें अहिंसा पर ज़ोर दिया गया है और उसे नैतिक, आर्थिक और सामाजिक समस्याओं में लागू किया गया है। इससे प्रकट होता है कि प्राचीन तमिल संस्कृति में अहिंसा को कितना महत्त्व दिया गया है। बौद्ध, जैन, शैव और वैष्णव-मत तिरुक्कुरल का उपयोग करते हैं। इसे पोदुमुरै अर्थात् सबका शास्त्र कहा गया है।

तमिल-साहित्य के अन्य दो ग्रन्थ सिलप्पधिकारम् और मणिमेखलै ब्रह्मचर्य और त्याग की प्रशंसा करते हैं।

मनु ने भी भारत के सन्देश को सर्वजनीन बनाने की कोशिश की थी।

---

[१] रुद्राक्षं तुलसीकाष्ठं त्रिपुण्ड्रं भस्मधारणम्।
यात्रास्नानानि होमाश्च जपा वा देवदर्शनम्।
न एते पुनन्ति मनुजं यथा भूतहिते रतिः॥

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।

विश्व के सब लोग इस देश के नेताओं से आचरण की शिक्षा लेंगे।

लोगों में एक भ्रम फैला हुआ है कि हम भारतीय जगत् को माया समझते हैं और इस मत का प्रतिपादक शंकराचार्य को माना जाता है। ब्रह्मसूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि जगत् अभावरूप नहीं है (नाभाव उपलब्धेः) और कि यह स्वप्नवत् नहीं है (न स्वप्नादिवत्)। निश्चय ही शंकर ने कहा है कि जगत् ब्रह्म नहीं है। जगत् ब्रह्म की अभिव्यक्ति है लेकिन इसकी सत्ता व्यावहारिक मात्र है। जगत् नितान्त मिथ्या नहीं है। प्रातिभासिक सत्ता से यह भिन्न है। शंकर ने बताया है कि जगत् ब्रह्म की उत्तरोत्तर अधिक अभिव्यक्ति करता है :

एकस्यापि कूटस्थस्य चित्ततारतम्यात् ज्ञानैश्वर्याणां।
अभिव्यक्तिः परेण परेण भूयसी भवति।

इस पवित्र स्थान में मैं निम्नलिखित श्लोक को उद्धृत करता हूं :

जगत्त्रयं शाम्भवनर्तनस्थली
नटाधिराजोऽत्र परः शिवः स्वयम्।
सभा नटो रंग इति व्यवस्थितिः।
स्वरूपतः शक्तियुतात्प्रपंचिता।
(भोमस्तवराज ४०)

तीन जगत् शिव की नृत्य-स्थली हैं। शिव स्वयं नटराज हैं। शिव ने अपनी शक्ति से संयुक्त होकर अपने ही स्वरूप से दर्शक, नर्तक और रंगमंच की व्यवस्था की है।[1]

---

[1] श्रीहर्ष ने नैषध-चरित में कहा है : तदेव रूपं रमणीयतायाः क्षणे क्षणे यन्नवतां विधत्ते : रमणीय रूप क्षण-क्षण में नवीन दिखायी देता है।

हिन्दुओं ने अपने धर्म को फैलाने की, दूसरों को हिन्दू बनाने की कोई चेष्टा नहीं की। लेकिन फिर भी हिन्दू-धर्म का प्रभाव जावा, बाली इत्यादि देशों में फैला। उक्त देशों में अब भी हिन्दुओं की बस्ती है। हीलियोडोरस जैसे यूनानी हिन्दू-धर्म के अनुयायी बन गये थे। दूसरे धर्म अपना प्रचार करते हैं और अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाने की कोशिश करते हैं, लेकिन हिन्दू-धर्म ऐसा नहीं था, हालांकि अपनी उन्नति के समय में यह विदेशियों के हिन्दू-धर्म स्वीकार करने का विरोध नहीं करता था।

× × ×

बौद्ध-धर्म जो भारत में पैदा हुआ वह हिन्दू-धर्म को शुद्ध करने के प्रयत्न का फल था। उसे हिन्दू-धर्म की एक विद्रोही शाखा या हिन्दू-धर्म का सुधार कहा जा सकता है। बौद्ध-धर्म के निर्माणात्मक वर्ष हिन्दू धार्मिक वातावरण में व्यतीत हुए। इसकी अनेक आधार-भूत मान्यताएं हिन्दू-धर्म की ही हैं। यह हिन्दू धार्मिक आचार-विचार की उपज है। लेकिन शीघ्र ही यह एक पृथक् धार्मिक परम्परा के रूप में स्थापित हो गया। शुरू में यह दो शाखाओं में विभक्त हुआ, हालांकि इसके विचार और शिक्षाओं की प्रकृति इसके सभी रूपों में समान है। हीनयान दक्षिणी, पाली या थेरावाद बौद्ध-मत है; महायान उत्तरी, मुख्यतया संस्कृत बौद्ध-मत है। दोनों ही बुद्ध के उपदेशों के सच्चे अनुयायी होने का दावा करते हैं। महायान ने लोगों की धार्मिक आकांक्षाओं का अधिक ख़याल किया है हीनयान व्यक्ति के स्वयं अपने निर्वाण प्राप्त करने पर ज़ोर देता है लेकिन महायान दैवी कृपा पर ज़ोर देता है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि बुद्ध ने पाली में जिस सत्य का उपदेश दिया था महायान उससे उच्चतर सत्य का उपदेश देता है और कि बुद्ध के समकालीन

लोग इस उच्चतर सत्य को हृदयंगम करने के लिए उपयुक्त आध्यात्मिक प्रौढ़ता की अवस्था में नहीं थे।

'बुद्ध' शब्द की उत्पत्ति 'बुध्' धातु से हुई है जिसका अर्थ है जागना। बुद्ध वह है जिसे आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त हो गयी हो। बुद्ध ने जो रास्ता बताया वह स्पष्ट ज्ञान पर, बोध पर आधारित है। बौद्ध-धर्म आध्यात्मिक सिद्धि का मार्ग है। व्यक्तिगत सिद्धि इसका प्रारम्भ बिन्दु है। बुद्ध का धार्मिक अनुभव बौद्धों के धार्मिक ज्ञान का मूल स्रोत है। उदान ने कहा है कि जो अन्तिम ज्ञान प्राप्त करता है वह ब्रह्मचर्य-व्रत को पूरा करता है और वही सत्य का उपदेश देने का अधिकारी ब्राह्मण है।[1]

बुद्ध को बोधि प्राप्त हुआ और उसी से उन्होंने अपने सिद्धान्त लिये। बौद्ध-धर्म के चार सत्य, मनुष्य की प्रकृति और संसार का स्वभाव, दुःख का कारण, दुःख-निरोध का उपाय और संसार के बन्धनों से निर्वाण प्राप्त करने की अवस्था, बुद्ध के व्यक्तिगत अनुभव की उपज हैं। बुद्ध ने अपने अनुभव की वे बातें लोगों को बतायीं जिन्हें कि शब्दों से प्रकट किया जा सकता है। निर्वाण की अवस्था अनिर्वचनीय है। बुद्ध ने लोकातीत सत्ता के स्वरूप के बारे में ऊहापोह करने का निषेध किया। हममें से हरेक को बुद्ध के पद-चिह्नों पर चलना चाहिए। हरेक व्यक्ति को अपने ही प्रयत्न से निर्वाण का अनुभव प्राप्त करना है। केवल तभी व्यक्ति सत्य का ज्ञाता या बुद्ध कहला सकता है जब उसे स्वयं बोध प्राप्त हो। तब वह संसार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है और देवत्व प्राप्त कर लेता है। पाली त्रिपिटक बुद्ध के उपदेशों के भाण्डार हैं और इसलिए सत्य के ज्ञान के स्रोत हैं। वे बुद्ध के वचन हैं। बुद्ध

---

[1] वेदान्तगू वुषितब्रह्मचरियो धर्मेण स ब्रह्मवादं वदेय्य।

को बताये हुए रास्ते पर चलकर और बुद्ध में श्रद्धा रखकर भूत और वर्तमान के अनेक सत्यान्वेषी निर्वाण प्राप्त कर चुके हैं।

बुद्ध ने प्रत्येक व्यक्ति की निर्वाण-प्राप्ति की सम्भावना और आवश्यकता पर ज़ोर दिया है। हीनयान के अनुसार बुद्ध ने जो निर्वाण प्राप्त किया था अन्य व्यक्ति भी उसे प्राप्त कर सकते हैं यदि वे बुद्ध के पद-चिह्नों पर चलें। प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर अर्हत् अर्थात् जो कालातीत है और संसार का विजेता है वह बनने की शक्ति मौजूद है। महायान बोधिसत्व के आदर्श को अपनाता है जो स्वयं निर्वाण प्राप्त कर चुकने के बाद भी मनुष्यों के प्रेम से प्रेरित होकर उनको रास्ता दिखाने के लिए संसार में रहा। महायान सर्व-मुक्ति का प्रचार करता है। हीनयान में बौद्ध-धर्म के संस्थापक को देवता मानकर उपासना की जाती है। लोगों के अन्य उपास्य देवता बुद्ध की पूजा करते हैं। बुद्ध को न केवल मनुष्यों का बल्कि देवताओं का भी शिक्षक माना जाता है। सत्य को अपने जीवन में चरितार्थ करके बुद्ध मनुष्यों के उद्धारकर्ता बने हैं। महायान में पार्थिव बुद्ध शाश्वत बुद्ध हैं जो सभी लोकों में स्वयं को अभिव्यक्त करते हैं। शाश्वत बुद्ध अनन्त जगतों में निवास करते हैं और गौतम शाक्य मुनि उनके पार्थिव अवतार हैं। सभी वस्तुएं उनके अधीन हैं। सब चीज़ों को उन्होंने ही पैदा किया है। महायान में ईश्वरविषयक धारणाओं का विकास वैसे ही है जैसे हिन्दू-धर्म में। त्रिकाय-सिद्धान्त के अनुसार धर्मकाय आदि तत्त्व है जिससे सब चीजें उत्पन्न होती हैं और जिसमें वे अन्त में लीन हो जाती हैं। वह ब्रह्म है और संसार से नितान्त परे है। दूसरा तत्त्व सम्भोगकाय है। यह ईश्वर है जो जगत् का स्रष्टा और धारण करने वाला है। यह मनुष्यों का उपास्य देवता है। निर्माणकाय पृथ्वी पर ईश्वर की अभिव्यक्ति है। यह मानव-जीवन और इतिहास में अवतरित

ईश्वर है जिसका उद्देश्य ईश्वर का मनुष्य को ज्ञान कराना है। महायान-धर्म में माना गया है कि ईश्वर अनुग्रह करके जीव का उद्धार कर सकता है। मनुष्य केवल अपने प्रयत्न से नहीं बल्कि ईश्वर के अनुग्रह से निर्वाण प्राप्त करता है।

बुद्ध ने सत्य को प्राप्त करने के विभिन्न उपाय स्वीकार किये हैं। लेकिन जब सत्य की प्राप्ति हो जाती है तब उपाय का कोई महत्त्व नहीं रहता। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि यही सत्य-प्राप्ति का एकमात्र उपाय है। बुद्ध ने बेड़े का दृष्टान्त दिया है। आदमी एक भयानक नदी को पार करने के लिए एक बेड़ा बनाता है, लेकिन अगर वह नदी पार कर लेने के बाद बेड़े को अपने कन्धों पर लादकर आगे चलने लगे तो वह निश्चय ही महामूर्ख होगा।[1] चीन में जब कन्फ्यूशियस, ताओ और बुद्ध के अनुयायी मिलते हैं और अपने-अपने धर्मों की प्रशंसा करते हैं तब अन्त में वे इस सामूहिक गान के साथ समाप्त करते हैं : 'धर्म अनेक हैं, सत्य एक है; हम सब भाई हैं।' (कारपेण्टर : दि प्लेस ऑव क्रिश्चियनिटी इन दि रिलीजन्स ऑव दि वर्ल्ड, पृष्ठ ६०)। जापान के युवराज शोतुको (सातवीं शताब्दी ईस्वी) ने शिण्टो, कन्फ्यूशियन और बौद्ध मतों में इस प्रकार समझौता किया है :

> शिण्टो मार्ग का स्रोत और मूल है, ... वह आदमी को पहिला मार्ग बताता है; कन्फ्यूशियन धर्म मार्ग की टहनी

---

[1] मज्झिम निकाय २२; उपनिषद् की यह उक्ति भी देखिये :

शास्त्राण्यभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद्ग्रन्थानशेषतः॥

बुद्धिमान् पुरुष ज्ञान-विज्ञान की इच्छा से शास्त्र पढ़ता है, लेकिन जब उसका उद्देश्य पूरा हो जाता है तब वह ग्रन्थों को इस प्रकार छोड़ देता है जैसे धान्यार्थी धान्य प्राप्त करके भूसे को छोड़ देता है।

और पत्ता है, . . . वह आदमी को मध्यम-मार्ग सिखाता है; बौद्ध-धर्म मार्ग का पुष्प और फल है, और जब आदमी की मानसिक शक्तियों का परिपाक हो जाता है तब प्रकट होकर वह उसे अन्तिम मार्ग बताता है। अतः एक के मुक़ाबले में दूसरे को पसन्द करके आदमी अपनी स्वार्थपूर्ण भावना प्रदर्शित करता है। . . . वास्तव में हरेक नया धर्म अपने पूर्ववर्ती का उन्नत रूप होता है। (इनाज़ो नितोबे : जापान १९३१, पृष्ठ ३७०)।

बुद्ध के चार आर्य सत्यों के अनुसार मनुष्य का अस्तित्व नश्वर है। इसका मतलब यह नहीं है कि बुद्ध ने संसार का निषेध किया और लौकिक बातों की उन्हें कोई चिन्ता न थी। बुद्ध ने न केवल सत्य का अनुसन्धान किया बल्कि उन्होंने मनुष्य-जाति को सत्य का उपदेश भी दिया। उन्होंने जिस सत्य का दर्शन किया उसको लोगों को बताया भी। उन्होंने लोगों को सत्य की प्राप्ति का उपाय बताया। उपाय और लक्ष्य अवियोज्य हैं। अगर कोई लोग संसार से घृणा करते हैं तो उनके लिए संसार को समृद्धि प्रदान करने वाली कला और संस्कृति पैदा करना सम्भव नहीं है। बौद्ध-धर्म लोगों को अपने लौकिक कर्तव्यों से विमुख नहीं करता।

बौद्ध-धर्म एक सार्वभौम धर्म है। महायान अपनी व्यक्तिगत मुक्ति पर नहीं बल्कि सबकी मुक्ति पर जोर देता है। निर्वाण-प्राप्ति के लिए सचेष्ट मानव-जाति के लिए असीम प्रेम से प्रेरित होकर बोधिसत्व अपने को स्वेच्छापूर्वक निर्वाण के चरम आनन्द से वंचित रखते हैं ताकि वे सबकी आत्माओं के उद्धार के लिए प्रयत्न करते रहें। सबको अन्त में बुद्धत्व प्राप्त करना है।

बुद्ध ने अपने मत के प्रचार का भार अपने अनुयायियों के ऊपर छोड़ दिया। अशोक कलिंग के जन-संहार से अनुतप्त होकर बुद्ध

का अनुयायी बना और उसका संरक्षण प्राप्त करके बौद्ध-धर्म सारे भारत में फैल गया। अशोक ने स्तम्भों और चट्टानों पर बौद्ध-धर्म के उपदेश खुदवाये। उसने अपनी प्रजा को एक-दूसरे से प्रेम करने का, पशुओं पर दया करने का और सब धर्मों का आदर करने का आदेश दिया। इस उत्साही सम्राट् का जिसे 'देवानां प्रिय' कहा जाता है, भूमध्य-सागर के और पश्चिमी एशिया के देशों से सम्बन्ध था। उसने बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिए देश-देशान्तरों में दूत भेजे। सुनते हैं कि लंका में उसने स्वयं अपने पुत्र को भेजा था। बौद्ध-धर्म अफ़ग़ानिस्तान से लेकर जापान तक कई अन्य देशों में भी फैला। बौद्ध-धर्म ने अपना विस्तार करते हुए उन विभिन्न प्रदेशों की जिन्होंने उसके सन्देश को स्वीकार किया परम्पराओं और संस्कृतियों को आत्मसात् किया। उन प्रदेशों के वासियों के विश्वासों और आचार-व्यवहारों को स्वीकार करते हुए इसने उनका सुधार किया।

× × ×

जैन-धर्म के अनुसार तीर्थंकर वह है जो संसार-सागर को पार कराने के लिए नौका प्रदान करता है। यह नौका धर्म है। तीर्थंकर अर्हत् अर्थात् पूजा का विषय होता है। ऐसा पुरुष संसार के धर्म को पुनर्जीवन देता है। चार कर्मों का नाश करके वह अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख, इन चार प्रसिद्ध गुणों को धारण करता है। इन गुणों से युक्त होकर वह सर्वज्ञ हो जाता है और अपने शेष जीवन को मनुष्य-मात्र के कल्याण के लिए व्यतीत करता है। जब आत्मा अपने सच्चे स्वरूप को प्राप्त कर लेती है तब वह संसार से, पुनर्जन्म के बन्धन से, मुक्त हो जाती है। ऐसा पुरुष सिद्ध परमेष्टि हो जाता है। सिद्ध की पूजा इसलिए होती है कि वह आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त किये होता है। अर्हत्, सिद्ध, संघ और धर्म, ये चार वस्तुएं सर्वोच्च महत्त्व रखती हैं और इसलिए

श्रद्धा के योग्य हैं। जैन-धर्म मनुष्य के अव्यक्त दिव्य स्वरूप पर ज़ोर देता है और उसकी शिक्षाएं सर्वजनीन हैं।

× × ×

पारसी-धर्म में द्वैतवाद है, दो शक्तियों का खुला संघर्ष है। ये संघर्षशील शक्तियां अहुरमज़्द और अन्ग्रमैन्यु हैं और इनका संघर्ष ही सारे संसार और मानवीय इतिहास का आधार है। इनमें से पहिला प्रकाश, न्याय और पुण्य का प्रतीक है और दूसरा अन्धकार, अन्याय और पाप का। इनके युद्ध का अन्त पुण्य की विजय से होता है। प्रकाश की अन्धकार पर पूर्ण विजय होने से पहिले विश्व और मनुष्य-जाति को अनन्त यंत्रणा और सतत संघर्ष में से गुज़रना पड़ता है। आदमी को इन दोनों में से एक को चुनना है। चूंकि उक्त दो शक्तियों का युद्ध सब देशों और सब कालों में होता है, इसलिए आदमी को संसार के किसी विशेष भाग की सीमाओं के अन्दर चुनाव नहीं करना है। वास्तव में जिन्हें अहुरमज़्द के अनुयायी बनने के लिए कहा जाता है वे आपस में आध्यात्मिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं और यह सम्बन्ध उनके सांसारिक सम्बन्धों के ऊपर, जाति, राजनीति इत्यादि की एकता के ऊपर निर्भर नहीं होता। पारसी-धर्म सर्वजनीन है। अवेस्ता में कहा गया है :

> हम आर्य, तूरानी, सारनेशियन, सीरियन, डेशियन, सभी देशों के धर्मनिष्ठ स्त्री-पुरुषों की आत्माओं का आदर करते हैं।

इसमें एक सर्वजनीन धार्मिक समुदाय का स्पष्ट उल्लेख है जिसमें कि जाति, वर्ण और राष्ट्र का कोई भेद नहीं है। आस्था रखने वाला चाहे कहीं भी हो, वह आदर का विषय है। ज़रथुस्त्र के अनुसार आस्थावान् व्यक्ति वह है जो किसी भी देश में पैदा

हुआ हो और कोई भी राजनीतिक विचार रखता हो लेकिन न्याय और शान्ति के मार्ग का अनुसरण करने में अहुरमज़्द का अनुयायी हो।

जरथुस्त्र ने सिखाया है : 'और हम दुनिया के पुराने धर्मों की जो कि सदाचार के प्रेमी हैं, पूजा करते हैं।'

× × ×

मेराथोन और सालामिस के युद्धों में पराजित होने पर भी फ़ारस ने निर्वासनोत्तर-काल के हीब्रू नबियों और यूनानियों पर जबर्दस्त प्रभाव डाला। पारसियों की जल और स्थल-सेनाओं के ऊपर यूनान की दो महा-विजयों के तुरन्त बाद यूनानियों के धार्मिक जीवन में भारतीय और पारसी विचारों के प्रवेश के कारण विशाल परिवर्तन दिखायी देते हैं। प्राचीन मिस्री विद्याओं के एक महान् विद्वान् प्रो० फ़्लिण्डर्स पेट्री ने पुराने मिस्र की राजधानी मेम्फ़िस की खुदायी में उस नगर के पारसी-युग के स्तरों में भारतीय शैली की मूर्तियां, बर्तन और माला के दाने खोज निकाले हैं। इस पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा है : 'पारसी साम्राज्य के अधीन मेम्फ़िस की भारतीय बस्ती का महत्त्व इस बात में है कि पाश्चात्त्य दुनिया में ईसा का प्रभाव फैलने के पहिले वह वहां भारतीय विचारों को ले गयी और उसने वहां संन्यास-धर्म का प्रचार किया।' रेवरेण्ड फ़्रैंक नाइट ने लिखा है : '३४० ई० पू० तक मिस्र में आश्रमों की अर्थात् भारतीय नियमों का पालन करने वाले संन्यासियों के समुदायों की स्थापना हो चुकी थी। कई दृष्टियों से यह सम्भव लगता है कि यूनानियों की संन्यासवादी विचार-धारा यूनानियों की अपनी बुद्धि की उपज नहीं थी बल्कि वहां मिस्र से होते हुए भारतीय बौद्ध विचार-धारा के आगमन का परिणाम थी।'

× × ×

यहूदियों की बाइबिल यहूदियों से शुरू नहीं होती। वह आदम की कहानी से शुरू होती है जिसका हीब्रू में आदमी अर्थ है। जीनेसिस (५.१) में कहा गया है : 'यह आदमी की उत्पत्ति की किताब है।' वह लीवी यानी यहूदी पुरोहित या यहूदी की बात नहीं करती बल्कि मनुष्यों की बात करती है। इसमें सब मनुष्यों को एक परिवार माना गया है। उनकी एक ही पूर्वज से उत्पत्ति हुई है जो कि सबका पिता है। सब मनुष्य एक हैं और वर्ण, वर्ग, रक्त इत्यादि के भेद इस एकता से बड़े नहीं हैं। रब्बी पूछते हैं : 'मनुष्य क्यों एक ही पैदा किया गया ?' और इसका जवाब यह दिया गया है : 'ताकि कोई आदमी दूसरे से यह न कह सके कि मेरा बाप तेरे बाप से बड़ा था।

यद्यपि यहूदी दैनिक धार्मिक चर्या पर बहुत जोर देते हैं तथापि वे जीवन के एक भिन्न दृष्टिकोण पर भी ज़ोर देते हैं। आदमी ईश्वर की शक्ल पर बना है। आदमी के स्वभाव में ईश्वरीय अंश है। कहावतों में आदमी की रूह को ईश्वर का दिया बताया गया है जिसे दिव्य ज्योति से जलाने की आवश्यकता है।

आदमी 'ईश्वर की शक्ल' पर बनाया गया है। फिर भी 'आदमी का पतन' उस अवस्था को बताता है जिसमें वह ईश्वर से दूर हो जाता है। आदमी में ईश्वर की शक्ल है, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि आदमी जन्म से ही ईश्वर की तरह है बल्कि यह है कि वह ईश्वर की तरह बन सकता है। ईश्वर की आज्ञा का पालन करने के लिए व्यक्तिगत शुद्धीकरण आवश्यक है। हर इंसान की रूह में ईश्वरीय ज्योति जलनी चाहिए। 'ईश्वर ने ऐसा कहा। मैं तुम्हारे अन्दर एक नयी रूह रखूंगा; और मैं उनके अन्दर से पत्थर के दिल को निकालकर मांस का दिल रखूंगा।' 'हे ईश्वर, मेरे अन्दर एक शुद्ध हृदय पैदा कर, और मेरी रूह को नयी बना।' यहूदियों का

लक्ष्य एक टूटा हुआ और पश्चात्ताप से पूर्ण हृदय पैदा करना है क्योंकि ईश्वर उससे घृणा नहीं करेगा।

एक नया इंसान और नयी दुनिया बनाने के लिए रूह की तब्दीली आवश्यक है। इंसान की रूह 'ईश्वर का दिया है जो सब अन्दरूनी गुफाओं को ढूंढ़ता है।' ऐक्सोडस के अनुसार, ईश्वर ने मूसा से कहा : 'तुम मेरा चेहरा नहीं देख सकते, क्योंकि कोई इंसान मुझे देखकर जिन्दा नहीं रह सकता।' जब ईश्वर का वचन इन्सान के दिल पर लिखा जायगा तब जो बाहर है वह पूरी तरह से अन्दर आ जायगा। 'मैं कह चुका हूं, तुम देवता हो और तुम सब सर्वोच्च की सन्तान हो।'

हीब्रू बाइबिल बुतपरस्ती को नहीं मानती। 'तुम मेरे अलावा और किसी देवता की पूजा नहीं करोगे।' टैसिटस कहता है : 'यहूदी उन सबकी निन्दा करते हैं जो नाशवान् पदार्थों को आदमी की शक्ल देखकर ईश्वर की मूर्ति बनाते हैं। वे कहते हैं कि ईश्वर सबके ऊपर है, नित्य है और न उसमें तब्दीली होती है, न उसका क्षय होता है।' जुडिया के राजा अग्रिप्पा ने कालिगुआ को एक पत्र लिखा था जिसे फ़िलो ने उद्धृत किया है और जिसमें लिखा है :

> 'हे मेरे स्वामी, गैयूस, इस मन्दिर की स्थापना से लेकर अब तक इसमें किसी भी मनुष्य-निर्मित मूर्ति का प्रवेश नहीं हुआ है, क्योंकि यह ईश्वर का निवासस्थान है। जो देवता बाहरी ज्ञानेंद्रियों से दिखायी देते हैं तस्वीरें और प्रतिमाएं केवल उनकी ही नक़ल हैं; लेकिन हमारे पूर्वजों ने अदृश्य ईश्वर की तस्वीर या प्रतिमा बनाना ईश्वर की पूजा करने का उचित साधन नहीं समझा।'

यहूदी लोग मनुष्य-निर्मित मूर्ति या तस्वीर को यानी अदृश्य ईश्वर से सादृश्य रखने वाली किसी दृश्य वस्तु को अपने मन्दिर में

नहीं आने देते। वे ईश्वर के दुनिया से ऊपर होने पर जोर देते हैं।

यहूदियों का सबसे बड़ा ईश्वरीय आदेश है : 'अपने पड़ोसी को अपने समान प्यार करो।' लेविटिकस १९ में इस उसूल पर यह टीका मिलती है :

> अपने भाई के लिए अपने दिल में नफ़रत न रखो; लेकिन तुम अपने पड़ोसी से शिकायत कर सकते हो ताकि वह बुराई करने से रोका जा सके। अगर कोई तुम्हारी बुराई करता है तो उससे बदला लेने की कोशिश न करो या अपने लोगों की सन्तान के प्रति दुर्भावना न रखो, बल्कि अपने पड़ोसी को अपने ही समान प्यार करो। मैं ईश्वर हूं।

यह उसूल न केवल अपने भाई या रिश्तेदारों के साथ व्यवहार करने में बल्कि सबके साथ व्यवहार करने में लागू होता है। 'और अगर कोई विदेशी आदमी आपके देश में रह रहा हो तो उसकी जिन्दगी को मुश्किल मत बनाओ; उसके साथ अपने देशवासियों के समान व्यवहार करो और उसे अपनी ही तरह प्यार करो; क्योंकि तुम दूसरे देश में, मिस्र में, रह रहे थे। मैं तुम्हारा ईश्वर हूं।' मीकाह पूछता है : 'ईश्वर तुझसे इसके अलावा और क्या चाहता है कि तू न्यायपूर्वक काम करे, दया से प्यार करे और अपने ईश्वर के साथ विनयपूर्वक चले।' मूसा ने यह प्रार्थना की थी : 'मेरी कामना है कि ईश्वर के सभी बन्दे पैग़म्बर हो जायँ।' ईसइयाह कहता है : 'वह राष्ट्रों का निर्णय करेगा और वे अपनी तलवारों से हल के फल बना देंगे।...वे आइन्दा लड़ना नहीं सीखेंगे।' युद्ध के अस्त्रों को शान्ति की सेवा में लगा देना चाहिए। राष्ट्र एक परिवार के सदस्य हैं और एक-दूसरे के प्रति उत्तरदायी हैं।

× × ×

ईसाई-धर्म ईसा के अनुभव और जीवन पर आधारित धर्म है। क्रॉस की सार्थकता तब है जब हम उसे अपना बनावें, जब हम क्रॉस पर चढ़ें। ईसा ने हमें उस मार्ग पर चलने का उपदेश दिया है जिससे वे स्वयं चले हैं ताकि जिस ईश्वर को उन्होंने प्राप्त किया उसके साथ हम भी एक हो जायं। 'खोजो और तुम्हें मिलेगा।' अगर हमें प्राप्त करना है तो हममें से हरेक को खोजना होगा। हरेक आत्मा के अन्दर जो सत्य गूढ़ है उसे प्रबुद्ध आध्यात्मिक चेतना में प्रकट होना चाहिए। प्रकट सत्य 'लोगों के दिलों में उठा हुआ' ईसा है। तब हम 'नये जीवन में काम करने' के क़ाबिल बनेंगे। तब सब चीज़ें नयी हो जावेंगी। जो अपनी अनैतिक दशा से ऊपर उठ जाते हैं वे मनुष्य के रूप में देवता हैं और नयी सृष्टि के प्रकाशन हैं, मानव-जाति के भविष्य को उज्ज्वल बनाने वाले हैं। आध्यात्मिक पुनर्जन्म का एक तरीक़ा नहीं है। 'मेरे यह कहने पर आश्चर्य मत करो कि तुम्हें फिर जन्म लेना होगा।. . .हवा वहां चलती है जहां वह चाहती है और तू उसकी आवाज़ को सुनता है, लेकिन तू यह नहीं बता सकता कि वह कहां से आती है और कहां चली जाती है; इसी तरह वह भी है जो ईश्वर से पैदा होता है।' इसी भावना से यह कहा गया है: 'सब धर्म-शास्त्र ईश्वर से प्रेरित हैं और सदाचार की शिक्षा देने, डांटने, सुधारने तथा उपदेश के लिए लाभदायक हैं ताकि ईश्वर का बन्दा पूर्ण हो सके और हर अच्छे काम को करने के लिए तैयार हो सके।'

सन्त पॉल ने कहा है: 'तेरे अन्दर ईश्वर की जो रूह है तेरा शरीर उसका मन्दिर है।' 'क्या तू यह नहीं जानता कि तू ईश्वर का मन्दिर है और ईश्वर की रूह तेरे अन्दर रहती है?' 'तू जीवित ईश्वर का मन्दिर है।' ऑरिजेन ईश्वर और आदमी के बीच ख़ून का ताल्लुक़ बताता है। यद्यपि ईश्वर हमको पैदा करने वाला,

नित्य और हमसे परे है, तथापि वह हमारे हृदयों के निकट है और सबका पिता है जिसमें हम चलते-फिरते और रहते हैं। 'इसलिए तू वैसा ही पूर्ण बन जैसा तेरा स्वर्ग में रहने वाला बाप है।' पॉल ने कहा है : 'डरकर और कांपकर स्वयं अपनी मुक्ति प्राप्त करो; क्योंकि तुम्हारे अन्दर काम करने वाला, इच्छा करने वाला और इच्छा के अनुसार चलने वाला दोनों, ईश्वर ही है।' 'इसे बिल्कुल निश्चित समझो कि मानव-प्रकृति के पार्थिव और भ्रष्ट होने पर भी हरेक आदमी की आत्मा के अन्दर ईश्वर का प्रेम, आग और रोशनी है।' 'जो अपने अन्दर प्रवेश करता है वह अपने-आप से ऊपर और दूर पहुँच जाता है और सचमुच ईश्वर तक पहुँच जाता है।' मर्म की बात हमारे लिए यह है कि हम धर्म से न चिपके रहें बल्कि जिस अनुभव से उसका विकास हुआ उसमें प्रवेश करें। आदमी एक अपूर्ण सृष्टि है। उसे अपने को पूर्ण बनाने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया गया है। 'ईश्वर का पुत्र इस उद्देश्य से पैदा हुआ कि वह शैतान के काम को नष्ट कर सके।' सारी सृष्टि में लड़ाई चल रही है; आदमी की अन्तरात्मा के अन्दर लड़ाई चल रही है। ईश्वर का प्रेम मुक्ति प्राप्त करने का सबसे सरल उपाय है। यहुन्ना ने कहा है : 'अगर कोई आदमी कहता है कि वह ईश्वर से प्रेम करता है और अगर वह अपने भाई से नफ़रत करता है, तो वह झूठा है।' ईश्वर का प्रेम एक नया जन्म है, ईश्वर का पैदा होना है। यहुन्ना ने कहा है : 'जो ईश्वर से पैदा है वह पाप नहीं करता, क्योंकि ईश्वर का बीज उसके अन्दर है और वह पाप नहीं कर सकता क्योंकि वह ईश्वर से पैदा है।' प्रेम सारी दुनिया को, उसके भयों और दुश्चिन्ताओं को जीत लेता है। प्रेम का व्यवहार ईश्वर को जानने का स्वाभाविक परिणाम है। ईसा ने ईश्वर की छोटी से छोटी सन्तान को भी अपने ही जैसा समझा। 'और तुम सब भाई हो।'

'अगर कोई आदमी दुनिया को प्यार करता है तो अपने पिता के लिए प्यार उसके अन्दर नहीं है। क्योंकि जो कुछ दुनिया में है, मांस की भूख, आंखों की भूख और जीवन में व्यर्थ का घमण्ड, वह पिता का नहीं है, बल्कि दुनिया का है।' हमें अपने शत्रुओं से भी प्यार करना चाहिए। 'तुममें से जो निष्पाप है पहिले पत्थर वह मारे।'

क्रॉस का मतलब है शारीरिक पीड़ा, पार्थिव पराजय लेकिन आध्यात्मिक विजय। पीड़ा सहकर ही मुक्ति प्राप्त होती है। पास्कल ने कहा है कि ईसा दुनिया की समाप्ति तक मृत्यु से लड़ता है। इस असीम जगत् में जहां भी एक आंसू गिरे, जहां भी हृदय शोक-संतप्त हो, जहां भी अन्याय हो या हिंसा की बात हो वहां हमें मृत्युपर्यन्त लड़ते रहना है। 'तूने अपना भाई देखा है? तब तूने ईश्वर को देख लिया है।' यह शुरू के ईसाइयों का नीति-वाक्य था। यह सन्देश सब जगह लागू होता है। 'जिस ईश्वर ने दुनिया को और इसकी सब चीजों को बनाया है . . . उसने इस पृथ्वी पर रहने के लिए मनुष्यों की सब जातियों को एक ही रक्त से बनाया है। क्योंकि हम उसमें निवास करते, चलते और अस्तित्व रखते हैं; जैसा कि तुम्हारे कुछ कवियों ने कहा है, क्योंकि हम सब उसकी सन्तान हैं' (सन्त पॉल)।

'अस्तित्ववाद' जिसको कि पहिले-पहल कर्कगार्ड ने एक विशिष्ट अर्थ में इस्तेमाल किया था, उस सिद्धान्त का नाम है जो आत्मा पर जोर देता है। वह आत्मा को ही सत्य मानता है। यह हीगल के दर्शन का प्रतिवाद है जो सत्य को तर्कगम्य मानता है। अस्तित्व की पहेलियां दार्शनिक चिन्तन से हल नहीं की जा सकतीं। कर्कगार्ड कहता है कि सत्य की प्राप्ति केवल जोशीली खोज से ही हो सकती है। सत्य अन्तर्मुखता है। कर्कगार्ड ने अपने पत्रों में लिखा है:

'इस जीवन का उद्देश्य दुनिया की ऊब को चरम बिन्दु पर पहुँचाना है।' हाइडेगर हमें झूठे अस्तित्व से सच्चे अस्तित्व में जाने के लिए, संसार से मोक्ष या निर्वाण में जाने के लिए कहता है। मार्सेल के लिए आत्म-ज्ञान ही हमारा लक्ष्य है। आत्म-ज्ञान एक समस्या नहीं है जिसको हमें हल करना है बल्कि एक रहस्य है जिसमें हमको प्रवेश करना है।

× × ×

इस्लाम यह कहता है कि भौतिकवाद के प्रसार से बड़े-बड़े राष्ट्रों का पतन हो जाता है। यूनानियों और पारसियों के पतन का कारण उनमें निरीश्वरवादी भौतिकवाद का फैलना था। ईसाई देश धार्मिक विवादों में पड़ गये और उन्होंने सामाजिक न्याय तथा भाईचारे की समस्याओं की अवहेलना कर दी। मुहम्मद ने ईश्वर की एकता और मनुष्यों के भाई-भाई होने की घोषणा की। मुसलमान मनुष्य की तुच्छता, उसके अनिश्चित भाग्य और ईश्वर की श्रेष्ठता को महसूस करता है। मुसलमानों के कवियों, नबियों और प्रचारकों ने स्रष्टा और सृष्टि के बीच की खाई को बढ़ाया। अल्लाह निराकार और निरवयव है, उसका आदि-अन्त नहीं है, उसके समान कोई नहीं है। लेकिन अगर आदमी को उसे समझना है तो उसका कुछ वर्णन तो करना ही होगा। इस्लाम में अल्लाह को एक पुरुष, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और दयालु माना गया है।

अगर हमें एक सच्चा मानव-जीवन यानी धार्मिक जीवन बिताना है तो हमें अपने विचार और कामों को छोड़कर ईश्वर में लगना होगा :

> ऐ इंसान, तुझे अपने ख़ुदा से मिलने की कोशिश करनी होगी, तब तक जब तक वह मिल न जाय। वे सचमुच नुक़-

सान उठाते हैं जो अल्लाह से मिलने से इंकार करते हैं।

जो अल्लाह की मुलाक़ात को झूठ कहते हैं वे सचमुच मृत्यु को प्राप्त होंगे।

वह इस तरह से इन्तज़ाम करता है कि तुम्हें अपने ख़ुदा से मिलने का यक़ीन हो जाय।

क़ुरान में कहा गया है : 'अल्लाह जिसको चाहता है उसको पथ-भ्रष्ट कर देता है और जिसे चाहता है उसे सही रास्ते पर ले आता है।' ईश्वर के निकट पहुँचने के लिए उसका अनुग्रह आवश्यक है।

इस्लाम के इतिहास में विजातीय तत्त्वों को आत्मसात् करने की प्रक्रिया जारी रही। जब बर्बर लोगों ने यूनानी साहित्य को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था तब मुसलमान विद्वानों ने यूनानी ग्रन्थों का अनुवाद किया, यूनानी विचारों को ग्रहण किया और उन्हें बाद में पश्चिम में पहुँचाया जहां कि बारहवीं शताब्दी में उन्होंने बौद्धिक जागृति पैदा की। हम प्रायः कहते हैं कि यूरोप की प्रतिभा में तीन अंश हैं : यूनानी संस्कृति, उसका विज्ञान, कला और साहित्य; रोमन सभ्यता, उसके राजनीतिक व्यवहार के नियम, क़ानून और संस्थाएं; तथा ईसाई धर्म। पहिले दो अंश इस्लाम और ईसाइयत दोनों में समान हैं और इस्लाम यह विश्वास करता है कि उसने ईसाइयत का सुधार करके उसे पूर्ण बनाया है।

मुहम्मद को ज्ञान था कि हरेक धर्मोपदेशक अपने सन्देश में आस्था रखता है और उसकी दृष्टि और अनुभव उसके समकालीन लोगों की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं :

कोई लोग ऐसे नहीं हैं जिनके बीच एक सचेतक न गया हो।

प्रत्येक राष्ट्र को एक दूत भेजा गया है।

प्रत्येक राष्ट्र को एक पथ-प्रदर्शक भेजा गया है। और

निश्चय ही हमने हरेक देश में एक दूत पैदा किया है जो अल्लाह की सेवा और शैतान से बचने के लिए कहता है।

हरेक देश में हमने उपासना के तरीक़े निर्धारित किये हैं जिनका उस देश के लोग पालन करते हैं।

तुममें से हरेक के लिए हमने एक क़ानून और एक तरीक़ा निर्धारित किया है।

—क़ुरान ३५,२५; १६,३७

× × ×

मनुष्य-जाति के धार्मिक अनुभव में जो समानताएं दिखायी देती हैं उनसे यही प्रकट होता है कि आम लोगों के अन्दर ईश्वर की प्रतिक्रिया लगभग एक ही होती है। विभिन्न धर्मों में जो समान बातें पायी जाती हैं उनसे हमको यह नहीं सोचना चाहिए कि उनका आपसी सम्बन्ध प्रत्येक धर्म में वही होता है। समान विश्वासों का पारस्परिक सम्बन्ध प्रत्येक धर्म में अलग-अलग होता है। प्रत्येक धर्म सिद्धान्त, उपासना और आचार का एक जीवित ऐक्य होता है, उसका अपना अनूठा व्यक्तित्व होता है और वह युग की आवश्यकताओं के अनुसार सारा का सारा बदलता है। अतः समानताओं के रहने पर भी बुनियादी मान्यताओं की पृथक्-पृथक् व्यवस्था विभिन्न धर्मों को उनकी विशिष्टता प्रदान करती है। अपने वर्तमान प्रयोजन को देखते हुए हम अन्तरों पर जो कि कुछ बातों में महत्त्वपूर्ण और बुनियादी हैं, ज़ोर देना ज़रूरी नहीं समझते। किसी धर्म के अन्दर हरेक संप्रदाय यह दावा करता है कि वह उसके विशिष्ट सन्देश का सच्चा प्रतिनिधि है, फिर भी उसके सभी संप्रदायों के अनुयायी यह महसूस करते हैं कि वे एक सूत्र में बँधे हैं। जिस प्रकार हम हरेक धर्म के अन्दर सत्य के एकमात्र ज्ञाता होने का दावा करने वाले विभिन्न दलों के आपसी वैमनस्य को उनकी धार्मिक

एकता दिखाकर दूर करना चाहते हैं, उसी प्रकार अगर धर्म को बचाना है तो विभिन्न धर्मों के वैमनस्यों को भी दूर करने की ज़रूरत है।

धर्मान्धता, असहिष्णुता और अपने धर्म को जबर्दस्ती दूसरों पर लादने की बीमारी ने दुनिया का बहुत नुक़सान किया है। जो लोग यह महसूस करते हैं कि दुनिया को अपने रास्ते पर लाना उनका कर्तव्य है, चाहे वह रास्ता राजनीतिक हो चाहे धार्मिक, वे दूसरे रास्तों के प्रति असहनशील रहे हैं। विधर्मियों को मिटाने की भावना ने धर्मों के इतिहास को कलंकित किया है।

भविष्य में दुनिया में केवल एक ही सभ्यता रह सकती है क्योंकि अब यह सम्भव नहीं रह गया है कि विभिन्न सभ्यताएं पारस्परिक अज्ञान में रह सकें। वैज्ञानिक खोजें दुनिया के हर हिस्से में प्रवेश कर चुकी हैं और दुनिया को एक बना रही हैं, हालांकि विभिन्न सभ्यताएं अपने पृथक्-पृथक् उसूलों का अनुसरण कर रही हैं। अगर धार्मिक आधार पर दुनिया को एक करना है तो इसके लिए किसी विशेष धर्म को नहीं चुनना होगा बल्कि दुनिया के विभिन्न धर्मों में सहयोग पैदा करना होगा। अगर विभिन्न धर्म अपने समान आदर्शों पर चलने की और अपने आपसी भेदों को सहानुभूतिपूर्ण तरीक़े से समझने की कोशिश करें, तो दुनिया में आज जो दुःख और भय है वह दूर हो सकता है। एक-दूसरे का विरोध करने की जो परम्परा चली आ रही है उसे छोड़कर आपस में सहयोग करना चाहिए। जो अपने को श्रेष्ठ समझते हैं उन्हें दूसरे धर्मों को समझने की कोशिश करनी चाहिए और उनके साथ सफल आदान-प्रदान करना चाहिए। इरेज्मस ने कहा था : 'तुमको सत्य जहां कहीं भी मिले, उसको उसी नज़र से देखो जिस नज़र से तुम ईसाइयत को देखते हो।' हमें इस सलाह के अनुसार चलने की ज़रूरत है। अगर धर्मों के सन्देश को

इस युग की समस्याओं से सम्बन्धित करना है तो हमें यह विचार छोड़ देना होगा कि कोई एक धर्म अन्तिम सत्य का एकमात्र ज्ञाता है और हमें इस पूर्व के लोगों के रवैये को अपनाना होगा कि सत्य सब धर्मों में व्यक्त होता है और किसी भी धर्म को यह नहीं समझना चाहिए कि सत्य का एकमात्र अधिकारी वही है और सबको उसका ही अनुयायी होना चाहिए। हमें सत्य के दुश्मनों से, निश्चित विचारों वाले धर्मान्ध लोगों से सावधान रहना चाहिए।

विभिन्न ऐतिहासिक धर्मों में विश्वास करने वालों में एक गुप्त एकसूत्रता रहती है। अगर हम इस चीज़ को भूल जाते हैं तो हम आस्था के अभाव और अधर्म को दूर नहीं कर सकेंगे।

अगर हम मानवीय परिवार के सदस्यों में समझौता करना चाहते हों तो हमें यह जानना होगा कि नास्तिकों को भी ईश्वर की किसी बात का ज्ञान हुआ है। जिस प्रकार ईश्वर अपने सूर्य का प्रकाश भले और बुरे दोनों को देता है उसी प्रकार वह अपना प्रेम और कृपा सभी मनुष्यों को देता है। विभिन्न बड़े-बड़े धर्मों को देखने से इस मत को बल मिलता है कि धर्म मनुष्य की आशा है और वह नयी दुनिया को शक्ति दे सकता है।

बहुद्वारस्य धर्मस्य नेहास्ति विफला क्रिया।

—महाभारत, शान्तिपर्व १७४.२

धर्म के अनेक द्वार होते हैं; उसके विधान के अनुसार चलना कदापि निष्फल नहीं होता। यह मत दूसरों की आस्थाओं और रीति-रिवाजों का आदर करना सिखाता है। इससे आध्यात्मिक एकता पैदा होती है। इस एकता के अन्दर प्रत्येक धर्म को अपनी अभिव्यक्ति का पूरा-पूरा अवसर होगा। दूसरे धर्मों की मैत्री और उनके ज्ञान से धार्मिक चिन्तन को प्रोत्साहन मिलेगा। साथ ही

इससे सार्वभौम नैतिक प्रतिमानों की प्राप्ति भी होगी। जिस प्रकार यहूदी, ईसाई और मुस्लिम धर्मों के सम्मेलन ने पाश्चात्य जीवन को समृद्ध किया है, जिस प्रकार हिन्दू, बौद्ध और कन्फ्यूशियन धर्मों के सम्मेलन ने पौर्वात्य जीवन को समृद्ध किया है, उसी प्रकार दुनिया के जीवित धर्मों के विचारों के पारस्परिक आदान-प्रदान से आध्यात्मिक जीवन समृद्ध होगा। जिस प्रकार धर्म अपना यौवन सुरक्षित रखे हुए हैं और दुनिया की तब्दीली के साथ अपने को बदल रहे हैं, उससे कुछ आशा बँधती है।

आर्नोल्ड टॉयन्बी ने कहा है :

> ज्यों-ज्यों मैं आगे बढ़ता गया हूं, धर्म मेरे जीवन में अधिकाधिक प्रधान होता गया है और अन्त में उसका स्थान मेरे जीवन के केंद्र में हो गया है। मुझे पुनः यह यक़ीन हो गया है कि सत्ता के रहस्य की कुंजी धर्म के हाथ में है; लेकिन मुझे यह यक़ीन नहीं है कि यह कुंजी केवल मेरे पूर्वजों के धर्म के हाथ में ही है। . . . भारतीय धर्म अपने को एकमात्र सच्चा धर्म नहीं समझते। वे मानते हैं कि सत्ता के रहस्य को जानने के अन्य तरीक़े भी हो सकते हैं। मुझे यक़ीन है कि उनका यह दृष्टिकोण सही है और कि इस युग में जबकि हमें अपने को विनाश से बचाने के लिए एक परिवार के सदस्यों की तरह रहना सीखना है, भारतीय धर्मों की उदार भावना ही सब धर्मों के लिए मुक्ति का तरीक़ा है[1]।

---

[1] यहाँ टॉयन्बी ने ईसाई धर्म के अपने को सत्य का एकमात्र अधिकारी मानने के प्रति जो क्षोभ प्रकट किया है उस पर जब विवाद चला तब टॉयन्बी ने कहा था कि वे सन्त अम्ब्रोज़ के खिलाफ सिमेकुस का, रुब्रुक के विलियम के खिलाफ मैंगलिक का (मैंगलिक ने कहा था : 'जैसे ईश्वर ने आदमी को कई उँगलियाँ दी हैं वैसे ही उसने आदमी को कई धर्म दिये हैं।') और कार्ल ऐडम,

मानव-जाति को दो बातों में से एक का चुनाव करना है : या तो वह स्वतंत्रता और समझौते की भावना के साथ सहयोग करे या भय, सन्देह और ईर्ष्या के वातावरण में लड़ती-झगड़ती रहे। धर्म का और मानव-जाति का भविष्य हमारे चुनाव पर निर्भर है। मनुष्य-जाति के जीवन में आध्यात्मिक मूल्यों की स्थापना करने में झगड़े से नहीं बल्कि सुलह से मदद मिलेगी। अशोक ने कहा था : 'समवाय एव साधुः'—समझौता ही श्रेयस्कर है।

जीं दानिएलू तथा हेंड्रिक क्रीमर के खिलाफ़ राधाकृष्णन् का पक्ष लेते हैं।
(ए स्टडी ऑव हिस्ट्री, जिल्द १०, पृष्ठ २३८)

१३

नये भारत की आकांक्षाएं

(प्राहा में सरकारी स्वागत के उत्तर में
७ जून १९५६)

आपके देश में आने का और उसको थोड़ा-बहुत जानने का जो अवसर आपने मुझे दिया है उसके लिए मैं आपका और आपकी सरकार का आभारी हूं। तीन-चार दिन के अर्से में किसी देश के बारे में अधिक जानकारी करने की आशा नहीं की जा सकती। फिर भी, मैं यहां एक ऐसा देश देख रहा हूं जो अनेक परीक्षाओं और कठिनाइयों में से गुजरा है और अब अपने राष्ट्रीय जीवन के कई क्षेत्रों में निरन्तर सन्तोषजनक प्रगति कर रहा है। जैसा कि आपने स्मरण दिलाया है, हम कठिन समय में से गुजरे हैं। अब हमको अपने राष्ट्रीय जीवन का उसकी बुनियाद से पुनर्निर्माण करने का अवसर प्राप्त हुआ है। अच्छी तरह से जीवन बिताने के पहिले जिन्दा रहना आवश्यक है। इसके पहिले कि हम अपने सांस्कृतिक जीवन का विकास कर सकें, हमें खाना, कपड़ा और मकान जो कि जीवित रहने के लिए आवश्यक हैं, सुलभ करने हैं। हम जीवन के यंत्र-विज्ञान और जीवन की कला में भेद करते हैं। जहां तक जीवन के यंत्र-विज्ञान का सम्बन्ध है अर्थात् उन भौतिक दशाओं का जो किसी भी राष्ट्र की प्रगति के लिए आवश्यक हैं, हम नियंत्रण, योजना और प्रतिबन्ध में विश्वास करते हैं। जहां तक जीवन की कला—साहित्य, दर्शन, धर्म, ध्यान और उपासना का सम्बन्ध है, हम पूर्ण स्वतंत्रता में विश्वास करते हैं। इस प्रकार जीवन का यंत्र-विज्ञान

और जीवन की कला के बुनियादी अन्तर का ध्यान रखते हुए हम अपने आर्थिक और औद्योगिक जीवन की योजनाएं बना रहे हैं, अपनी जनता को शिक्षा देने की और स्वास्थ्य और चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाएं देने की कोशिश कर रहे हैं। जहां तक सांस्कृतिक जीवन का सम्बन्ध है, हम लोगों को अपनी इच्छा के अनुसार सोचने, ध्यान और उपासना करने की स्वतंत्रता देना चाहते हैं।

श्री प्रेसीडेण्ट, हमने कोरिया, हिन्द-चीन और बाण्डुंग-सम्मेलन में अपने प्रधान मंत्री के प्रेरणाप्रद नेतृत्व में जो काम किया है उसकी ओर आपने संकेत किया है, लेकिन हमने वहां जो थोड़ा सा काम किया है उससे हमें उस विशाल काम को नहीं भूलना है जो अभी करना बाक़ी है। आपने पंचशील को जिसमें कि शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व, आक्रमण न करना, हस्तक्षेप न करना, पारस्परिक सहायता इत्यादि के उसूल शामिल हैं, अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की नयी नियमावली कहा है। इन उसूलों को मानना एक बात है और उनको दैनिक जीवन में कार्यान्वित करना दूसरी बात। हम सबने संयुक्त-राष्ट्रों के चार्टर को माना है जो कि हमें जातीय सामंजस्य, आर्थिक और सामाजिक समानता तथा राजनीतिक स्वतंत्रता के उसूल अपनाने को कहता है। लेकिन संयुक्त-राष्ट्रों के चार्टर को मानने मात्र से हम इन उसूलों को अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में लागू करने में समर्थ नहीं हुए हैं। इसलिए जरूरी यह है कि एक नयी भावना का विकास हो। हमें प्रोग्राम की ज़रूरत नहीं है बल्कि एक नया दृष्टिकोण चाहिए। इसीलिए २५०० साल पहिले बुद्ध ने जिस पंचशील की घोषणा की थी उसका उद्देश्य हमें एक नया दृष्टिकोण देना था। उनका यह विश्वास था कि समाज तभी बदल सकता है जब पहिले व्यक्ति बदल जाय। चीन के महान् विचारक कन्फ्यूशियस ने कहा था कि दुनिया को सुधारने के लिए राज्यों का सुधार

करना चाहिए; राज्यों के सुधार के लिए परिवारों को सुधारना चाहिए और परिवारों को सुधारने के लिए हमें अपने को सुधारना चाहिए। इस प्रकार सारे सुधार का मूल अपने को सुधारना है।

अत: अगर पंचशील की अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता को कार्यान्वित करना है तो व्यक्तियों को अपना दृष्टिकोण बदलना होगा और विश्व की समस्याओं को भिन्न दृष्टि से देखना होगा।

श्री प्रेसीडेण्ट, आपने हमारे देश के एकीकरण का उल्लेख किया और उसमें हमारी सफलता की कामना की। हमको इससे अत्यधिक सन्तोष है कि पिछले दो सप्ताहों में हमने शान्तिपूर्ण तरीक़े से भारत के उन हिस्सों का भारत के साथ वैधानिक एकीकरण किया जो अब तक फ्रांस के अधिकार में थे। हम फ्रांस जैसे देश से जिसने कि दुनिया को स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृभाव जैसे उच्च आदर्श दिये हैं, इससे भिन्न चीज की उम्मीद ही कैसे कर सकते हैं? मुझे कोई सन्देह नहीं है कि हमारे देश की अन्य समस्याएं भी इसी प्रकार हल हो जायेंगी और दूसरे लोग भी फ्रांस का अनुसरण करेंगे।

आपने सांस्कृतिक और आर्थिक सहयोग की बात कही। राजनीतिज्ञों में मतभेद हो सकता है, हमारे आर्थिक स्वार्थों में विरोध हो सकता है, लेकिन जब हम कला और साहित्य की अनमोल कृतियों के सामने खड़े होते हैं तब हम यह नहीं पूछते कि उनके रचयिता किस देश के और किस राष्ट्र के हैं। जब हम शेक्सपीयर या कालिदास के सामने खड़े होते हैं तब हम उनकी कृति की पूर्णता और श्रेष्ठता से भाव-विभोर हो जाते हैं जिससे हमारा अस्तित्व ही हिल जाता है और हम पहिले से भिन्न हो जाते हैं। आध्यात्मिक स्तर पर जातीय या राष्ट्रीय सीमाएं खत्म हो जाती हैं। महापुरुष सारी दुनिया के होते हैं। वे सभी युगों और सभी देशों के समसामयिक होते हैं।

मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं है कि संस्कृति, कला, साहित्य इत्यादि के स्तर पर हम घनिष्ठ सहयोग स्थापित कर सकेंगे। आपने वसन्त-ऋतु के सुन्दर पुष्पों की ओर संकेत किया है और कहा है कि जैसे ये पुष्प खिल रहे हैं वैसे ही हमारे पारस्परिक सम्बन्ध भी खिलेंगे। हम भारतीय लोग कमल को मानव-जाति की उन्नत अवस्था का प्रतीक मानते हैं। मिट्टी और धूल से सुन्दर पुष्प पैदा होते हैं। जो देश आज दलित हैं, राजनीतिक, आर्थिक या जातीय बन्धन में हैं उनसे हम बहुत बड़ी आशाएं रखते हैं, बशर्ते कि उनको अवसर मिले।

१४

शिक्षा का उद्देश्य

(कलकत्ता विश्वविद्यालय शताब्दी के उपाधि-वितरण-समारोह के अवसर पर दिया गया भाषण, २३ जनवरी १९५७)

बंगाल में अपने शासन के शुरू के पचास वर्षों में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने आधुनिक शिक्षा-प्रणाली लागू करने की इच्छा नहीं की। एक बात यह थी कि उस समय का प्रमुख व्यक्ति वारेन हेस्टिंग्ज़ प्राचीन भारतीय ग्रन्थों का सच्चा प्रशंसक था और उसने भारत की प्राचीन संस्कृति को पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न किया। भारत के तत्कालीन अंग्रेज़ नेता भारतीयों के विश्वासों में बाधा नहीं देना चाहते थे और इसलिए उन्होंने उनको अपनी प्राचीन विद्याओं और दर्शनों को सीखने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया। आधुनिक विद्याओं के अध्ययन का प्रोत्साहन ईसाई मिशनरियों और डैविड हेयर तथा राममोहन राय जैसे प्रगतिशील नेताओं से मिला। जब मैकाले सार्वजनिक शिक्षा-समिति का अध्यक्ष बना, तब उसने फ़रवरी १८३५ में अपना प्रसिद्ध विवरण लिखा जिसमें भविष्य में भारतीयों को आधुनिक शिक्षा देने का निर्णय किया गया। लॉर्ड विलियम बेंटिक ने मैकाले के परामर्श को स्वीकार किया और यह निश्चित किया कि शिक्षा के लिए उपलब्ध धन को विशेष रूप से अंग्रेज़ी के माध्यम से आधुनिक शिक्षा देने वाले स्कूलों और कॉलेजों को चलाने में व्यय किया जाना चाहिए। सार्वजनिक शिक्षा-विभाग १८५५ में खोले गये और विश्वविद्यालय १८५७ में।

प्रारम्भिक वर्षों में यह विश्वविद्यालय भारत के एक बड़े भाग

के—बंगाल, बिहार, उड़ीसा, आसाम, संयुक्त प्रान्त, मध्य-प्रदेश, बर्मा और लंका के कॉलेजों की शिक्षा का नियंत्रण करता था। धीरे-धीरे नये-नये विश्वविद्यालय खुले जिससे इस विश्वविद्यालय का क्षेत्र घट गया। जब विश्वविद्यालय पहिलेपहल खोले गये, तब वे केवल परीक्षाएं लेते थे। स्वर्गीय श्री आशुतोष मुकर्जी के सत्प्रयत्नों का फल यह हुआ कि इस विश्वविद्यालय के अधीन कलाओं और शुद्ध तथा व्यावहारिक विज्ञानों के स्नातकोत्तर विभाग खोले गये। इस विश्वविद्यालय की पहिली मुहर में 'विद्या की प्रगति' शब्द अंग्रेजी में अंकित थे और यही इसका मुख्य लक्ष्य बन गया।

यह विश्वविद्यालय महान् वैज्ञानिक और विख्यात विद्वान् पैदा कर चुका है। हमारे समय में रॉयल सोसाइटी के जो नौ फ़ेलो चुने गये उनमें से पांच, जगदीश बोस, रमन, साहा, कृष्णन् और महालानोबिस, इसी विश्वविद्यालय में कार्य करते थे। दो नोबल-पुरस्कार-विजेता, रवींद्रनाथ टैगोर साहित्य में और चंद्रशेखर वेंकटरमन भौतिक-विज्ञान में, इस विश्वविद्यालय से सम्बन्धित थे। इसके कई विद्वान् और वैज्ञानिक अपने विचारों की शुद्धता और विद्या-प्रेम से साहित्य, कला, विज्ञान और विद्वत्ता में महत्त्वपूर्ण अभिवृद्धि कर चुके हैं।

अगर हम दुनिया के इतिहास को देखें, तो पायेंगे कि सभ्यता का निर्माण उन महान् ऋषियों और वैज्ञानिकों के हाथों से हुआ है जो स्वयं विचार करने की सामर्थ्य रखते हैं, जो देश और काल की गहराइयों में प्रवेश करते हैं, उनके रहस्यों का पता लगाते हैं और इस तरह से प्राप्त ज्ञान का उपयोग विश्व-श्रेय या लोक-कल्याण के लिए करते हैं। विश्वविद्यालयों की मनुष्य की अजेय आत्मा में आस्था होती है और उन्हें चाहिए कि वे विद्वानों और साहित्यकारों को बिना बाधा के अध्ययन-अनुशीलन की पूरी सुविधा दें। उन्हें

चाहिए कि वे प्रत्येक विद्याभ्यासी को अपने मानदण्ड के अनुसार अपने सत्यान्वेषण को वहां तक ले जाने का पूरा अवसर दें जहां तक उसकी बुद्धि, कल्पना और ईमानदारी उसे ले जा सकती है। कोई भी आज़ादी तब तक सच्ची नहीं होती जब तक उससे विचार की आज़ादी न प्राप्त हो। किसी भी धार्मिक विश्वास या राजनीतिक सिद्धान्त को सत्य की खोज में बाधा नहीं देनी चाहिए।

पिछले सौ वर्षों के अन्दर इस विश्वविद्यालय ने इस देश के निवासियों के लिए विचारों की एक नयी दुनिया खोली है तथा नये दृष्टिकोणों का विकास करने, महान् उद्देश्यों को सहारा देने, विचार और जीवन के नये आन्दोलनों को पैदा करने और राजनीतिक और आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक स्वतंत्रता को फैलाने में मदद दी है। हमारे देश की जो सांस्कृतिक जागृति पिछले सौ वर्षों के अन्दर हुई है वह आधुनिक विचार और आलोचना का हमारी प्राचीन विद्या पर प्रभाव पड़ने का फल है। जब हम विद्यार्थियों को एक विश्वविद्यालय में शिक्षा देते हैं, जब हम उनको जिज्ञासु और आलोचक बनाते हैं, तब यह स्वाभाविक है कि वे राजनीतिक स्वतंत्रता और लोकतंत्रीय शासन की मांग करेंगे। भारत आने से पूर्व मैकाले ने हाउस ऑव कामंस में कहा था :

क्या हम भारतवासियों को अज्ञानी बनाये रखना चाहते हैं, ताकि वे हमारे अधीन बने रहें? या हम सोचते हैं कि हम महात्वाकांक्षा जगाये बिना उनको ज्ञान दे सकते हैं? या हमारा मतलब यह है कि हम महत्वाकांक्षा को जगावें और उसको निकलने के लिए कोई वैध रास्ता न दें? यह सम्भव है कि भारतीय जनता का मस्तिष्क हमारी प्रणाली से विकसित हो और यहां तक विकसित हो कि हमारे क़ाबू से बाहर निकल जाय; सम्भव है कि अच्छे शासन के द्वारा हम

अपनी प्रजा को इतनी शिक्षा दें कि उसके अन्दर अच्छे शासन की योग्यता आ जाय; सम्भव है कि यूरोपीय ज्ञान की शिक्षा प्राप्त करके भविष्य में कभी वे यूरोपियन संस्थाओं की मांग करने लगें। मैं नहीं जानता कि ऐसा दिन कभी आयेगा। जब भी वह आयेगा वह अंग्रेजी इतिहास का सबसे गौरवपूर्ण दिन होगा।. . . राजदण्ड हमारे हाथ से जा सकता है। हमारी विजय अस्थिर हो सकती है। लेकिन एक विजय ऐसी भी होती है जो कभी हारती नहीं है। एक साम्राज्य ऐसा है जो क्षय के सभी प्राकृतिक कारणों से मुक्त होता है। ऐसी विजय बर्बरता के ऊपर ज्ञान की शान्तिपूर्ण विजय है। ऐसा साम्राज्य हमारी कलाओं और हमारी नैतिकता का, हमारे साहित्य और हमारे क़ानूनों का साम्राज्य है।

जब हम देश के नवयुवकों को आज़ादी की शिक्षा देते हैं, उन्हें यह सिखाते हैं कि शासक का कर्तव्य शासित की राय लेकर शासन करना है, तब अवश्य ही वे अधीनता से निकलकर आज़ादी की मांग करेंगे। इस विश्वविद्यालय के प्रथम स्नातकों में से एक, बंकिमचंद्र चटर्जी ने हमें 'वन्दे मातरम्' का महान् गीत दिया जिसमें भारत की गहरी धार्मिक भावना का राष्ट्रीय उद्देश्य के साथ योग किया गया। तब से देश-भक्ति देश के नवयुवकों का धर्म बन गयी। रवींद्रनाथ टैगोर ने 'जन-गण-मन' यह राष्ट्रीय वन्दना दी जिसे सर्वप्रथम इस शहर में २७ दिसम्बर १९११ को कांग्रेस के अधिवेशन के अवसर पर गाया गया था। विधान-सभा ने २४ जनवरी १९५० को इसे अपनाया। यह इस देश को एक मानती है और हमें अपनी आध्यात्मिक शक्तियों का देश की सांस्कृतिक और सांवेगिक एकता के लिए उपयोग करने का आदेश देती है।

जब आधुनिक शिक्षा के स्वाभाविक परिणाम, अशान्ति और असन्तोष, का प्रसार हुआ, तब मि० अलान औक्टवियन ह्यूम ने

भारतीयों के एक राष्ट्रवादी दल को अस्तित्व में लाने का संकल्प किया ताकि इस अशान्ति और असन्तोष को बाहर निकलने का सुरक्षित मार्ग मिल जाय। उन्होंने १ मार्च १८८३ को इस विश्वविद्यालय के स्नातकों के सामने भाषण दिया और पचास ईमानदार और साहसी आदमियों की मांग की। 'अगर अच्छे और सच्चे केवल पचास आदमी संस्थापक बनने के लिए तैयार हो जायं तो उस चीज की स्थापना की जा सकती है और, बाद का काम अपेक्षाकृत आसान हो जायेगा।' उन्होंने स्पष्ट कहा : 'अगर वे व्यक्तिगत आराम और सुख का त्याग नहीं कर सकते तो कम-से-कम इस समय प्रगति की सभी आशाएं समाप्त हो जाती हैं; और तब भारत वर्तमान सरकार से अच्छी सरकार न तो चाहता है और न उसका हक़दार है'।' उन्होंने इस शाश्वत सत्य की घोषणा की कि 'आत्म-बलिदान और निःस्वार्थता ही स्वतंत्रता और सुख के कभी विफल न होने वाले साधन हैं।' भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की प्रथम सभा बम्बई में बंगाल के स्वनामधन्य नेता डब्ल्यू० सी० बनर्जी के सभापतित्व में हुई थी। कांग्रेस का संगठन अंग्रेजों के इरादों पर भरोसा रखते हुए तत्कालीन गवर्नर-जनरल के आशीर्वाद के साथ हुआ। अंग्रेजों के भले इरादों पर से विश्वास तब उठा जब लॉर्ड कर्जन ने बंगाल का विभाजन किया और इसके बाद जो आन्दोलन पैदा हुआ उसने हमारी राष्ट्रीय चेतना को जगा दिया। तब निष्क्रिय प्रतिरोध, स्वदेशी, विदेशी चीजों का बॉयकाट, राष्ट्रीय शिक्षा, जनता के मत का संगठन और राजनीतिक कार्य के अन्य रूप अपनाये गये जिनका कि बाद में गान्धी जी ने परिष्कार किया। दिसम्बर १९०६ को कलकत्ता कांग्रेस में दादाभाई नौरोजी ने स्वराज को भारतीयों का लक्ष्य घोषित किया। जब विभाजित बंगाल को पुनः एक कर दिया गया तब अंग्रेजी सरकार में भारतीयों का विश्वास बढ़ गया और प्रथम महायुद्ध में उन्होंने

उदारतापूर्वक अंग्रेजों की सहायता की, इस आशा में कि जो लड़ाई लोकतंत्र की रक्षा के लिए लड़ी जा रही है वह भारत को स्वराज देने में भी कामयाब होगी। जब युद्ध समाप्त हुआ और भारत की आशाएं पूरी नहीं हुईं तब भारत ने सत्याग्रह का मार्ग अपनाया जिसका फल यह हुआ कि १९४७ में भारत को सत्ता हस्तान्तरित हुई। इस विश्वविद्यालय ने अद्भुत साहस और सहन-शक्ति वाले आदमी पैदा किये जिन्होंने राजनीतिक संघर्ष में भाग लिया और अनुपम बलिदान किया। अनेक बहादुर पुरुषों और महिलाओं ने, जिनमें से कुछ जीवित हैं और कुछ मर गये हैं, अत्याचारी शक्तियों का विरोध किया। आज हम सुभाष बोस की इकसठवीं जन्म-तिथि मना रहे हैं। मुझे कोई सन्देह नहीं है कि बंगाल के प्रतिभासम्पन्न लोग, चाहे इस समय वे कितने ही हताश हों, बुराई का विरोध और प्रतिरोध करते रहेंगे और तब तक सहनशीलता और त्याग की भावना प्रदर्शित करते रहेंगे जब तक शोषण और अन्याय का स्थान एक समानता पर आधारित सामाजिक व्यवस्था नहीं ले लेती।

राजनीतिक स्वतंत्रता केवल भारत के ही हित में नहीं है बल्कि इससे सारे विश्व का कल्याण होगा। गान्धी जी ने एक बार टैगोर को लिखा था: 'योरोप के क़दमों पर गिरा हुआ भारत मनुष्य-जाति को कोई आशा नहीं दे सकता। प्रबुद्ध और स्वतंत्र भारत का पीड़ित विश्व के लिए शान्ति और सद्भावना का एक संदेश है।' हम विश्व को सभ्यता के लिए सुरक्षित करने के लिए बेचैन हैं। हमें विश्वास है कि आज जब युद्ध की विनाशक शक्ति बढ़कर बहुत विशाल हो गयी है, शान्ति के अलावा कोई दूसरा मार्ग नहीं है। जब तक दुनिया दो गुटों में बँटी हुई है जिनके आणविक शस्त्र दुनिया के संहार का दृश्य उपस्थित कर सकते हैं, तब तक दुनिया के विनाश का खतरा बना रहेगा।

लेकिन भविष्य हमारे ही हाथ में है। विशुद्ध आत्म-हित हमें प्रेरित करता है कि हम दुनिया के तनावों को शान्त करें और दुनिया को शिष्टता और मैत्री का सबक़ सिखावें, जिन्हें कि दुनिया भूल गयी दिखायी देती है। हमें आध्यात्मिक शक्तियों की उत्पत्ति और विकास करना चाहिए जिससे खोयी हुई आशाएं और उपेक्षित मूल्य पुनर्जीवित हो जायं। हमें जानना चाहिए कि पारस्परिक घृणा पारस्परिक हिंसा की अपेक्षा कहीं अधिक घातक है। हमें मानव-स्वभाव को सभ्य बनाने के लिए विश्वविद्यालय की भावना अपनानी चाहिए जो इस पागलपन के युग में मानसिक स्थिरता को क़ायम करने के लिए, असंयम के स्थान पर संयम करने के लिए, आसानी से एक या दूसरे गुट के नारों को अपनाने के बजाय कठोर विचार करने के लिए कहती है।

अगर दुनिया को एक बनाना है तो अलग-अलग राष्ट्रों के लोगों को उन बातों का ज्ञान करा देना जरूरी है जो सबके अन्दर समान हैं। दुनिया की राजनीतिक एकता के लिए सांस्कृतिक एकता का विकास करना आवश्यक है। शान्ति का मतलब संघर्ष का अन्त या बन्दूक़ों की आवाज का बन्द होना नहीं है। संघर्ष का अभाव एक निषेधात्मक और अनिश्चित चीज़ है जिसके टूटने की हमेशा आशंका बनी रहती है। शान्ति का मतलब है दूसरों के प्रति सद्भाव, उन लोगों के साथ समझौता जो नस्ल और धर्म की दृष्टि से हमसे भिन्न हैं। इसका मतलब है उनकी भावनाओं की क़द्र करना जिनकी उपासना हमारी उपासना से भिन्न है। यही सद्भावना है; यही शान्ति है।

राममोहन राय ने १८३१ में फ़्रांस के विदेशी मामलों के मंत्री को लिखा था : 'अब यह प्रायः सबने मान लिया है कि केवल धर्म ही नहीं बल्कि निष्पक्ष सामान्य बुद्धि और वैज्ञानिक अनुसन्धान

से प्राप्त सही निष्कर्ष भी यह बताते हैं कि सारा मानव-समाज एक विशाल परिवार है, भिन्न-भिन्न राष्ट्र और क़बीले जिसकी केवल शाखाएं हैं। अतः सभी देशों के ज्ञानवान् मनुष्य पारस्परिक लाभ और सारी मनुष्य-जाति के सुख को बढ़ाने की खातिर बाधाओं को यथाशक्ति दूर करके हर प्रकार से मनुष्यों के समागम को प्रोत्साहित करने और सुविधाजनक बनाने की इच्छा करते हैं।' एक-विश्ववाद की यह ध्वनि शुरू से ही भारतीय विचारधारा की एक प्रमुख विशेषता रही है। भारतीय संस्कृति की प्रवृत्ति एकीकरण की ओर रही है, पृथक्करण की ओर नहीं। आर्य और द्रविड़, हिन्दू और बौद्ध, मुसलमान और ईसाई सभी भारत के इतिहास में घुल-मिल गये। हम हमेशा से दूसरों से सीखने के इच्छुक हैं, हालांकि हम उनके साधन नहीं बनना चाहते। हमारे अन्दर भारतीय संस्कृति की आत्मपर्याप्तता का झूठा अभिमान नहीं है। हम सभी मूल्यवान् चीज़ों को अपना लेते हैं और साथ ही अपनापन भी नहीं खोते।

रवींद्रनाथ टैगोर ने विश्व-सहयोग के युग की शुरुआत की। उन्होंने दुनिया के विभिन्न हिस्सों, पूर्वी और पश्चिमी दोनों, का भ्रमण किया और सहनशीलता, विश्व की एकता तथा सद्भावना का सन्देश दिया। उनकी विश्व-भारती सांस्कृतिक सहयोग में उनकी जो आस्था थी उसका प्रमाण है।

जब महात्मा गान्धी ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के सम्बन्धों को स्पष्ट किया, तब उनके कथन से विवेक प्रकट होता था और साथ ही उनका कथन एक चेतावनी भी देता था : 'देश-भक्ति के बारे में मेरा विचार यह है कि मेरा देश आज़ाद हो, कि अगर ज़रूरत पड़े तो सारा देश मनुष्य-जाति को जीवित रखने के लिए स्वयं मिट जाय। यहां दूसरी जातियों से घृणा करने

के लिए कोई स्थान नहीं है। यही हमारी देश-भक्ति हो।' भौतिक अस्तित्व का क़ायम रहना ही सब कुछ नहीं है, आध्यात्मिक अस्तित्व अधिक महत्त्व रखता है। जो लोग क्रॉस की उपासना करते हैं वे जानते हैं कि भौतिक पराजय और मृत्यु आध्यात्मिक विजय प्रदान कर सकते हैं।

विश्वविद्यालय शान्ति की सबसे प्रबल शक्तियों में से एक हैं। विश्वविद्यालयों को, विद्वानों के समाजों को हमें सही राजनीति की शिक्षा देनी चाहिए। उन्हें चाहिए कि हमें खगोलविज्ञान, तत्त्व-मीमांसा और दुनिया का इतिहास सिखावें, अनुपात का ख़याल रखना सिखावें और यथार्थ दृष्टि दें, क्योंकि वे सार्वभौम तथा राष्ट्र से ऊंचे मूल्यों पर ज़ोर देते हैं, विश्व की एकता को मानते हैं और राष्ट्रवादी दलों को एक स्थिर सन्तुलन के अन्दर बांधे रखने की चेष्टा करते हैं। वे ज्ञान, उदारहृदयता और जो विदेशी है उसके निष्पक्ष मूल्यांकन के लिए सचेष्ट हैं। युग-द्रष्टा होना ही मानसिक कटुता और आत्मिक निर्बलता का उपाय है। दुनिया के विश्वविद्यालय एक बड़ी बिरादरी में बँधे हुए हैं।

यह कहा जा चुका है कि मौजूदा पीढ़ी की कमज़ोरी उसका मूलहीन होना है और विश्वविद्यालय का सच्चा काम यह है कि वह इसे अपने मूल में वापस ले जाय। ऐसा हमें सहानुभूति और समझौते के साथ करना होगा। यदि हमें आधुनिक जीवन की तीव्रगामिता, अधीरता और घबड़ाहट तथा बढ़ती हुई अव्यवस्था की छूत से बचना है, तो हमें कुछ एकान्त के क्षण निकालने चाहिए जिनमें हम आध्यात्मिक आवश्यकताओं पर ध्यान दे सकें। धर्म आदमी को चरम मूल्यों का दर्शन कराता है। आदमी एक निष्प्रयोजन जगत् में अकेला नहीं है। दुर्भाग्य की बात है कि दुनिया के दूसरे हिस्सों की तरह यहां भी अन्धविश्वास, सांप्रदायिकता, ग़ुलामी, अनुचित आत्म-विश्वास और

मदान्धता का बोलबाला हो गया है। धार्मिक सुधारकों ने धर्म को दोषों से मुक्त करने और उसे ब्रह्म-साक्षात्कार तथा मानव-प्रेम के आधार पर प्रतिष्ठित करने की कोशिश की। किसी भी धर्म को दो आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिए। उसे चाहिए कि वह मानवीय अनुभव में व्याप्त सत्य का कथन करे और हरेक नई पीढ़ी को उस सत्य का मतलब समझावे। सत्य को स्थिति का विचार करने में समर्थ होना चाहिए। इस युग के महान् धर्माचार्यों ने नित्यता और काल दोनों का विचार किया। शाश्वत सत्य को आधुनिक मस्तिष्क के लिए सार्थक होना चाहिए। हम एक नयी दुनिया में रह रहे हैं। ज्ञान की एकता नयी है, मानव-समाज का स्वरूप नया है, विचारों का क्रम नया है और इनके पुराने रूप में हम वापस नहीं जा सकते। धार्मिक सत्य विज्ञान की आकस्मिकताओं से परे हैं। उनके दावे मानव-स्वभाव के नैतिक और आध्यात्मिक तथ्यों पर आधारित हैं। इस युग के धार्मिक विचारकों ने पुरानी प्रस्थानत्रयी का आश्रय लिया और यह सिद्ध किया कि उन तीन ग्रन्थों में जिस धार्मिक सन्देश का कथन किया गया है वह तर्कमूलक, नैतिक और आध्यात्मिक था और गहराई, व्यापकता और पूर्णता की मांग को पूरा कर सकता है। ब्रह्म सत्य है और योग साधन और जीवन है। ऋषियों ने घोषणा की कि उन्हें परम पुरुष का साक्षात्कार हो गया है जो कि सूर्य की तरह दिव्य स्वरूप वाला है और तम के परे है।

धर्म का फल है व्यक्तिगत और सामाजिक नैतिकता। ईसा हमें अपनी ओर खींचते हैं लेकिन चर्च हमें दूर भगाता है। राममोहन राय और ईश्वरचंद्र विद्यासागर जैसे समाज-सुधारक सती और वर्ण-भेद इत्यादि सामाजिक बुराइयों से लड़े। उन्होंने विधवा-विवाह और बहु-विवाह-निषेध का समर्थन किया तथा नारी-शिक्षा

को प्रोत्साहन दिया। नारियों को समाज ने जो निर्बलताएं दीं उनको दूर करने के प्रयत्न बहुत कुछ सफल हुए जिसका फल यह हुआ कि आज पहिलेपहल इस विश्वविद्यालय की चान्सलर एक महिला है।

पुराने विश्वविद्यालयों के काम में दोष निकालना निरर्थक है। उन्होंने कठिन परिस्थितियों में अच्छा से अच्छा काम किया। लेकिन अभी बहुत कुछ करना बाक़ी है। हमारी क्रान्ति अभी समाप्त नहीं हुई। हमें अभी हिंसा, धर्मान्धता और बुद्धि-विरोधी शक्तियों से अपनी रक्षा करनी है। हमें ग़रीबी, बीमारी, निरक्षरता और बेकारी से लड़ना है। हमें लोगों के मानसिक अन्धकार से बहुत समय तक लड़ना है। किसी सीमा तक अपने छात्रों की अल्प-ज्ञता और आध्यात्मिक ज्ञान के अभाव के लिए, सामाजिक अन्याय के प्रति उनकी सहनशीलता के लिए, सामाजिक बुराइयों से लड़ने की उनकी भावना के अभाव के लिए हम स्वयं उत्तरदायी हैं। हम विश्वास के साथ काम करें, अपने लोगों को संगठित करके, उनको शान्ति के रक्षक बनावें। पाशविक हिंसा का राज्य हमेशा नहीं रहेगा। मानवता का उद्धार होगा, पारस्परिक सहनशीलता पैदा होगी और सत्य तथा प्रेम की विजय होगी। सत्यमेव जयते।

१५

साहित्य-अकादमी

(उद्घाटन-भाषण, १२ मार्च १९५४)

"साहित्य-अकादमी' में दो शब्द हैं, एक संस्कृत का और दूसरा यूनानी का, जिससे हमारी संस्था के व्यापक उद्देश्य का सुझाव मिलता है। 'साहित्य' का अर्थ स्पष्ट ही है। 'अकादमी' का अर्थ है विद्वानों का समाज। इस प्रकार 'साहित्य-अकादमी' का अर्थ है साहित्यिकों का समाज अर्थात् उन लोगों का समाज जो हमारे देश की विभिन्न भाषाओं के साहित्य में रचनात्मक कार्य कर रहे हैं। सभी सभ्य देशों में अकादमी का फ़ेलो या सदस्य होना बड़े सम्मान की बात मानी जाती है। यह महान् साहित्यकारों को सम्मानित करने का, उदीयमान साहित्यकारों को प्रोत्साहन देने का, जनता की रुचि को प्रशिक्षित करने का और मानदण्डों को उठाने का साधन है। हमारे देश की साहित्य-अकादमी को चाहिए कि वह देश की विभिन्न भाषाओं में किये जाने वाले महत्त्वपूर्ण रचनात्मक कार्य पर ध्यान दे।

मैं यह बात मानता हूं कि हम जिस बौद्धिक पुनर्जागरण की स्थिति में से गुज़र रहे हैं वह बहुत कुछ पाश्चात्य संस्कृति के हमारे समाज के ऊपर पड़ने वाले प्रभाव की वजह से है। यह प्रभाव भी अंग्रेजी भाषा के कारण है। टैगोर और गान्धी, अरविन्द घोष और नेहरू के अंग्रेज़ी ग्रन्थों को देखते हुए अंग्रेजी को इस अकादमी के द्वारा स्वीकृत भाषाओं में शामिल करना उचित ही है।

सरकार का उद्देश्य यह है कि वह पहिला क़दम उठावे और

पर्याप्त आर्थिक सहायता देकर अकादमी के कार्य को प्रोत्साहन दे। रचनात्मक कृतियों को पैदा करना सरकार की ज़िम्मेदारी नहीं है। नेपोलियन ने कहा था: 'मैंने सुना है कि फ्रांस में कवि नहीं हैं; आन्तरिक मामलों का मंत्री इस मामले में क्या कर रहा है?' कोई भी सरकार कवियों को पैदा होने की आज्ञा नहीं दे सकती; कवियों को धन की सहायता वह अवश्य दे सकती है। अगर हमें रचनात्मक साहित्य पैदा करना है तो अकादमी को बिल्कुल स्वतंत्र होना चाहिए।

जब लोकोपकारी राज्य हमारा लक्ष्य है और जब हम यह आशा करते हैं कि राज्य हमें सब सुविधाएं दे, तो हमें अपने सामाजिक स्वास्थ्य और स्फूर्ति के खातिर यह ध्यान रखना चाहिए कि व्यक्ति अपने ही अन्तःकरण के आदेश के अनुसार, स्वयं अपने मानदण्डों के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करने की स्वतंत्रता न खो दे, कि उसे मानने या न मानने की, करने, न करने या ग़लत करने की आज़ादी प्राप्त हो, बशर्ते कि वह दूसरों की आज़ादी में दखल न दे और सुशीलता की सीमाओं का अतिक्रमण न करे। समाज अधिकाधिक संगठित होता जा रहा है। कार्य की स्वतंत्रता का दायरा अधिकाधिक संकुचित होता जा रहा है। हम भीड़ की गुमनाम इकाइयां होते जा रहे हैं, समाज के स्वतंत्र सदस्य नहीं। व्यक्ति सुरक्षा के लिए और एकान्त तथा उत्तरदायित्व से बचने के लिए भीड़ की शरण लेता है। स्वतंत्रता से हमें भय है। जब हमारी चेष्टाओं पर नियंत्रण होता है तब कल्पना जिसके लिए एकान्त चाहिए, विकसित नहीं हो सकती। जब तक व्यक्ति के अन्दर मानसिक एकान्त का, विचार-स्वातंत्र्य का साहस न हो, तब तक महान् लेखक होने की योग्यता उसके अन्दर नहीं आती। जैसा कि व्हाइटहेड ने कहा है, सच्चे धर्म की तरह महान्

साहित्य का निर्माण भी आदमी एकान्त में करता है। यीट्स न कहा है :

> हम दूसरों से झगड़कर प्रभावशाली भाषा बनाते हैं, लेकिन स्वयं अपने साथ झगड़कर कविता बनाते हैं।

साहित्य का उद्देश्य विश्व का कल्याण है—विश्वश्रेयः काव्यम्। उसका लक्ष्य दुनिया को प्रतिबिम्बित करना नहीं बल्कि दुनिया को सुधारना है। वह यथार्थ का दर्पण नहीं है बल्कि अनुभव का पुनर्निर्माण है। साहित्यकार को एकान्त में प्रवेश करना चाहिए, दिव्य की झलक लेनी चाहिए, उसे पृथ्वी पर उतारना चाहिए, उस पर भावना का रंग चढ़ाना चाहिए और उसे शब्दों का रूप देना चाहिए। साहित्य दिव्य-दर्शन और मानवों में सम्बन्ध जोड़ता है। कवि अदृश्य जगत् का पुरोहित है, दिव्य स्रष्टा है। कवि मनोरंजन प्रदान करने वाला मात्र नहीं है, वह एक पैग़म्बर है जो अपने समाज की सारी आकांक्षाओं को प्रेरणा देता और विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त करता है। इसके लिए एकाग्रता और शुद्धता चाहिए जो कि उस दशा में जब हमारा मन हिंसा से पूर्ण रहता है या हम रूढ़ विचारों के दास बन जाते हैं, असम्भव नहीं तो कठिन हो ही जाते हैं।

यूनानियों के लिए अकादमी का अर्थ उन विद्यार्थियों का दल था जो दार्शनिक समस्याओं के अध्ययन के लिए किसी प्रमुख दार्शनिक के आस-पास जमा होते थे। पहिली अकादमी वह दार्शनिक समाज था जिसकी स्थापना प्लैटो ने ३८७ ई० पू० की थी, जिसमें वह अपने शिष्यों को जिनमें अरस्तू भी था पढ़ाता था। वहां अकादमी उपनिषदों के आश्रम की तरह होती थी। इटली के पुनर्जागरण के युग में मानवता के अध्ययन में रुचि रखने वालों के समूह अकादमी कहलाते थे। आधुनिक अकादमियां इन्हीं मध्ययुगीन अकादमियों

के विकसित रूप हैं। फ्रेंच अकादमी उन पांच अकादमियों में से एक है जिनको मिलाकर 'इंस्टिट्यूट ऑव फ्रांस' कहते हैं। फ्रेंच अकादमी में केवल साहित्यकार ही शामिल नहीं हैं बल्कि दार्शनिक और इतिहासकार भी शामिल हैं। बर्गसां, गिल्सां और ग्रूसे फ्रेंच अकादमी के सदस्य चुने गये थे। फ्रेंच अकादमी की तरह हमारी राष्ट्रीय साहित्य अकादमी में भी इतिहास, दर्शन और प्राचीन भारतीय विद्याओं के मौलिक लेखक शामिल हो सकते हैं।

जो बौद्धिक और कल्पनात्मक आनन्द प्रदान करता है और कोई नया तथा प्रेरणाप्रद कथन करता है उसी का नाम साहित्य है। ऋग्वेद जो कि विश्व की प्रथम साहित्यिक कृति है केवल धर्म-ग्रन्थ नहीं है बल्कि काव्य भी है। बाइबिल, अवेस्ता और क़ुरान धर्म-ग्रन्थ मात्र नहीं हैं बल्कि साहित्यिक कृतियां भी हैं। ऋग्वेद के ऋषियों ने उदात्त विचारों को शक्तिशाली और अनुभूतिपूर्ण भाषा में व्यक्त किया है। प्रथम ऋचा है:

अग्निं ईले पुरोहितं यज्ञस्य देवम्
ऋत्विजं होतारं रत्नधातमम्।

इस ऋचा के ऋषि ने भौतिक और आध्यात्मिक वरदानों की अग्नि की सामर्थ्य बताने के लिए पांच विशेषणों का प्रयोग किया है। उपनिषदों में हम ऊंचे आदर्श और कलापूर्ण भाषा देखते हैं। पाठक को प्रभावान्वित करने के लिए अनेक साहित्यिक उपायों का आश्रय लिया गया है। उदाहरण के लिए, बृहदारण्यकोपनिषत् का निम्नलिखित अंश देखिये जिसमें यह दिखाया गया है कि कैसे दुनिया की सब चीज़ें, पति, पत्नी, पुत्र, धन इत्यादि आत्मोपलब्धि के साधन हैं:

न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति; न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति, आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति; न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति, आत्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति; न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति; इत्यादि।

छान्दोग्योपनिषत् में कहा गया है :

यथा, सौम्य, एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातंस्यात्,
वाचारम्भरणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येवं सत्यम्।

इसी बात को समझाने के लिए कई अन्य उपमाएं दी गयी हैं।

एक अन्य उपनिषत् में यह कहने के बाद कि आदमी की जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन दशाएं होती हैं, प्रबुद्ध स्थिति का बौद्धिक और कलात्मक वर्णन किया गया है :

नान्तः प्रज्ञं, न बहिष्प्रज्ञं, नोभयतः प्रज्ञं, न प्रज्ञानघनं,
न प्रज्ञं, नाप्रज्ञं, अदृष्टं, अव्यवहार्यं, अग्राह्यं, अलक्षणं,
अचिन्त्यं, अव्यपदेश्यं, एकात्मप्रत्ययसारं, प्रपंचोपशमं, शान्तं,
शिवं, अद्वैतं, चतुर्थं मन्यन्ते, स आत्मा, स विज्ञेयः॥

भगवद्गीता में जो सौन्दर्य और कलात्मकता है उसका उल्लेख अनावश्यक सा है।

शंकर के ओजस्वी और श्रवण-सुखद गद्य को पढ़कर किसे आनन्द नहीं आयेगा? नीचे के उद्धरण को देखिये :

स च भगवान् ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः सदा सम्पन्नः, त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं स्वां मायां मूलप्रकृतिं वशीकृत्य अजो, अव्ययो, भूतानामीश्वरो नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभावोऽपि सन्, स्वमायया देहवानिव जात इव लोकानुग्रहं कुर्वन् इव लक्ष्यते। —गीता-भाष्य

गान्धीजी ने अपनी प्रार्थनाओं में गुरु गोविन्दसिंह के इस प्रसिद्ध पद्य को शामिल किया था :

ईश्वर अल्ला तेरे नाम।
मन्दिर मस्जिद तेरे धाम।
सबको सन्मति दे भगवान्॥

भारतीय लेखक चाहे जिस विषय को लें, उनका लक्ष्य साहित्यिक सौन्दर्य और उच्चता होता है। साहित्य के अन्दर धर्म और दर्शन के प्रसिद्ध ग्रन्थों का भी समावेश होना चाहिए।

साहित्य विश्व को हमारी एक महत्वपूर्ण देन रहा है। हमारे महाकाव्य और नाटक, हमारी कथाएं और लोक-गाथाएं प्रकृति के साथ ऐक्य और मानसिक शुद्धता के महान् आदर्शों को हम तक पहुँचाते हैं। देश की विभिन्न भाषाओं के साहित्यों पर उनका प्रभाव है। यूनानी नाटक और एलिजाबेथयुगीन नाटक के मध्य के युग में, कीथ के अनुसार, एक ही अच्छा नाटक है और वह भारतीय नाटक है। भारतीय नाटक में अभिनय मात्र नहीं है। उसमें कविता, संगीत, धर्म इत्यादि सब कुछ है। कालिदास के ग्रन्थों में कल्पनाएं ऐसी उड़ानें भरती हैं जो विचार के लिए अगम्य हैं। जिस प्रकार शेक्सपीयर इंग्लैण्ड की, गेटे जर्मनी की और पुश्किन रूस की संस्कृति का प्रतिनिधि है, उसी प्रकार कालिदास भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधि है।

इतिहास किसी समाज की कला और साहित्य से उसका मूल्यांकन करता है। कला और संस्कृति किसी जाति की जीवन-शक्ति के प्रतिबिम्ब होते हैं। जब लोग आध्यात्मिकता के अभाव से ग्रस्त हो जाते हैं तब इनका पतन हो जाता है।

आज हम परिवर्तन, साहसपूर्ण कार्य, अवसर और व्यापक दृष्टिकोणों के युग में रह रहे हैं। नये-नये प्रभाव हमारे विचारों पर पड़ रहे हैं। हमारे अन्दर मानसिक संघर्ष और उलझनें हैं। यदि हममें से कुछ मानसिक थकान और तुच्छता की भावना से

पीड़ित हैं, तो इसका कारण यह है कि हम मनुष्य के अन्दर रहने वाली आत्मा की उपेक्षा कर रहे हैं तथा उसे अर्थ का दास या सम्बद्ध प्रतिक्षेपों की गठरी बना रहे हैं। साहित्यकारों, कलाकारों और विचारकों का काम यह है कि वे इस प्राचीन जाति के गौरव को वापस लावें, सन्देश को प्रसारित करें और भविष्य को बनावें और विचारों का एक ऐसा नया वातावरण तैयार करें जो दुनिया के साहित्यकारों की एकता और एक विश्व-समाज का निर्माण करने में सहायक हो।

१६

लेखक और वर्तमान गतिरोध

(कवि, नाटककार, सम्पादक, लेखक और उपन्यासकारों के अन्तर्राष्ट्रीय संघ की भारतीय शाखा के सम्मेलन में दिया गया भाषण १६ अप्रैल १९५४)

श्री सी० पी० रामस्वामी अय्यर ने उस महत्त्वपूर्ण कार्य का उल्लेख किया जो अन्नामलाई विश्वविद्यालय ने तमिल भाषा के अध्ययन को प्रोत्साहन देकर किया है। तमिल भाषा तमिल लोगों की आत्मा की प्रतीक है। इसका इतिहास बहुत पुराना है और अब भी यह अपनी शक्ति और गतिशीलता को सुरक्षित रखे है। श्री जवाहरलाल नेहरू ने भाषाओं की विविधता के बावजूद भारत की बुनियादी एकता की बात कही और कहा कि हमें एक-दूसरे के साहित्यों का अध्ययन करना चाहिए तथा विभिन्न साहित्यों को एकता के सूत्र में बांधने वाले आदर्शों और विचारों के सम्बन्धों को समझना चाहिए। कवि, नाटककार, सम्पादक, लेखक और उपन्यासकारों का अन्तर्राष्ट्रीय संघ हमें कुछ आगे विश्व के रंगमंच में ले जाता है।

उक्त संघ का भारतीय केंद्र अब अपने इक्कीसवें वर्ष में है। इसकी स्थापना १९३३ में मैडम सोफ़िया वाडिया ने की थी जिनकी विश्व की एकता और मानवीय सौहार्द को बढ़ाने की इसकी सम्भावनाओं में बड़ी आस्था थी।

इस केंद्र ने गत वर्षों में राष्ट्रीय एकता और अन्तर्राष्ट्रीय समझौते में वृद्धि करने के लिए बहुत कुछ किया। इसने भारत

के विभिन्न भाषा-सम्बन्धी प्रदेशों को आपस में जोड़ने का और भारत को विश्व के अन्य राष्ट्रों से जोड़ने का काम किया है। इसने इस महत्त्वपूर्ण उद्देश्य को सामने रखा है कि मानसिक समानता पैदा हो जो कि एक स्थायी विश्व-व्यवस्था का आवश्यक आधार है।

सरकार घटनाओं को बदलने के लिए शक्ति और दण्ड का प्रयोग करती है, लेकिन हम समझाने-बुझाने का तरीक़ा अपनाते हैं, हम भविष्य को ढालने के लिए शब्दों का मौखिक या लिखित प्रयोग करते हैं और बुद्धि और भावनाओं को उकसाते हैं। हम किसी राष्ट्र, धर्म या सिद्धान्त-विशेष के समर्थक नहीं हैं। हमारा लक्ष्य सम्पूर्ण मानवता का हित है और हम शान्ति के इच्छुक हैं।

हमारे प्रथम सभापति रवींद्रनाथ टैगोर थे जो भारतीय संस्कृति से प्रेरणा लेकर भी विश्व-मानव के समर्थक थे। अपनी विश्व-भारती में उन्होंने सब देशों, सब धर्मों और सब संस्कृतियों के सहयोग की कामना की। उनका जीवन मानवीय एकता की एक नयी दुनिया का निर्माण करने का प्रयत्न करते हुए व्यतीत हुआ। हमारे दूसरे सभापति सरोजिनी नायडू थीं जो भारतीय संस्कृति को समृद्धि और विविधता से युक्त मानती थीं। जातियों और धर्मों की अनेकता के बावजूद भारत की आत्मा एक है। यहां भाषाओं की अनेकता के कारण एक समान सांस्कृतिक दृष्टि-कोण के विकास में बाधा नहीं पड़ी है। हमारे दोनों ही सभापति मानवीय एकता के आदर्श से प्रेरित थे। इन आदर्श व्यक्तियों के पद-चिह्नों पर चलकर हम साहित्यकारों, कवि और नाटककारों, संपादक और उपन्यासकारों को अपनी देनों का प्रयोग करके ग़लत-फ़हमी के कुहरे को दूर करना चाहिए और इस दुनिया में मैत्री और सौहार्द की स्थापना करनी चाहिए।

अगर हम अपने व्यवहार में मौलिक परिवर्तन करना चाहते

हैं तो हमें अपनी विचार-प्रणालियों को बदलना चाहिए। हमें लोगों के दिल और दिमाग़ के अन्दर क्रान्ति पैदा करनी चाहिए।

हम आज एक चट्टान के सिरे पर खड़े हैं। आणविक और उद्जन बमों का भय हमारे दिमाग़ों पर हावी है और हमारे अन्तः-करण को बेचैन किये हुए है। संयुक्त राज्य के एक महान् अणु-वैज्ञानिक ने जब प्रथम अणु-बम के विस्फोट को देखा और उससे उठने वाली लपटों और धुएं को पृथ्वी से उठकर न्यू मैक्सिको शहर के वायुमण्डल में प्रवेश करते देखा, तब उसने कहा था कि उसे भगवद्गीता का स्मरण हो रहा है जिसमें कहा गया है कि 'आकाश में हज़ार सूर्यों के एक साथ उदय होने से जो प्रकाश होगा वह उस विश्वरूप परमात्मा के प्रकाश के सदृश होगा. . .मैं लोकों का क्षय करने वाला महाकाल हूं।'[1] उद्जन-बम के प्रभाव तो इससे भी कहीं अधिक विनाशकारी हैं। हम अनुभव करते हैं कि उनकी अनन्त संहारक-शक्ति हमें युद्ध से विरत करने का काम करेगी। लेकिन इस प्रकार लोगों के दिलों में महाविनाश का भय पैदा करके हम मानव-प्रकृति की निम्न प्रवृत्तियों, भय, लोभ और घृणा को उभाड़ रहे हैं।

भारतीय विचार-धारा का एक सुपरिचित सिद्धान्त यह है कि मानव-हृदय में अनन्त काल से पाप और पुण्य के बीच संघर्ष चल रहा है। मानव-हृदय कमज़ोरी और दोष से ग्रस्त हो जाता है लेकिन उच्च कोटि का साहस और रचनात्मक प्रयत्न करने की योग्यता भी उसमें है। इन्सान के अन्दर बचाने वाली और मारने वाली दोनों ही क़िस्म की प्रवृत्तियां हैं। ऋग्वेद में कहा गया है :

---

[1] भगवद्गीता ११.१२, ३२

'यस्य छाया अमृतं, यस्य मृत्युः' (१०.१०, १२१)। महाभारत में कहा गया है :

अमृतं चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम्।
मृत्युरापद्यते मोहात्सत्येनापद्यतेऽमृतम्॥

मनुष्य की देह में अमृत और मृत्यु दोनों का वास है। मोह से वह मृत्यु को प्राप्त होता है और सत्य से अमरत्व को।

हम हितोपदेश के उस श्लोक को काफ़ी सुन चुके हैं जो आहार, निद्रा, भय और मैथुन को मनुष्यों और पशुओं में सामान्य बताता है। मनुष्य का पशु से भेद इसी में है कि उसे धर्माधर्म का विवेक है :

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

हरेक इन्सान के अन्दर जीवन-मृत्यु, प्रेम-घृणा का संघर्ष चल रहा है।

आधुनिक मनोविज्ञान इसी बात को नये शब्दों में कहता है। हरेक आदमी के अन्दर दो प्रकार की जन्मजात प्रवृत्तियां हैं। एक प्रकार की वे हैं जो उसकी रक्षा करती हैं और दूसरे प्रकार की वे हैं जो नष्ट करती और मारती हैं। पहली रक्षक प्रवृत्तियां हैं और दूसरी नाशक या आक्रामक। नाशक प्रवृत्ति प्रत्येक जीवधारी के अन्दर काम करती है और उसकी बर्बादी की कोशिश करती है, जबकि रक्षक प्रवृत्ति का लक्ष्य उसके जीवन को क़ायम रखना होता है। ये दोनों प्रकार की प्रवृत्तियां अलग-अलग काम नहीं करतीं। ये इस तरह मिली-जुली होती हैं जिस तरह यम की कृष्णा कन्या यमुना का पानी और शिव की जटा से निकलने वाली गंगा का पानी मिला-जुला होता है। कभी-कभी नाशक प्रवृत्तियां आदर्शवाद के

नाम पर उभाड़ी जाती हैं। साधारण लोग दयालु और उदार, मित्रतापूर्ण और सहयोग करने वाले होते हैं, लेकिन प्रचार और शिक्षा से उनके शक्ति के उद्गमों से शक्ति खींची जा सकती है, उनकी नाशक प्रवृत्तियों को जगाया जा सकता है और उनमें एक सामूहिक पागलपन पैदा किया जा सकता है। इतिहास के अत्याचार ऊंचे आदर्शों के नाम पर हुए हैं; उदाहरणार्थ, इंक्विज़ीशन (काफ़िरों का दमन करने के लिए बने हुए रोमन कैथोलिकों के न्यायालय) के क्रूरतापूर्ण कारनामों को धर्म के नाम पर उभाड़ी हुई विनाशक प्रवृत्तियों से बल मिला था। भूतकाल में स्वतंत्रता और लोकतंत्र, न्याय और सम्मान जैसे उच्च आदर्शों के नाम पर लोगों में युद्ध का ज्वर फैलाया गया, हालांकि ये आदर्श प्रायः शक्ति-लोलुपता, धर्मान्धता और जाति-विशेष के प्रति घृणा को छिपाने के साधन रहे। इसलिए सभी युद्धों को न्यायपूर्ण और पवित्र युद्ध समझा गया।

सभ्यता का मतलब यह है कि सहज प्रवृत्तियों के जीवन को धीरे-धीरे बुद्धि के अधीन किया जाय। जो स्वतंत्र विचारक दबाव में नहीं आते, भयभीत नहीं होते, जो उत्साह के साथ सत्यान्वेषण में लगे हैं, उनका कर्तव्य है कि वे एकता की भावना को बढ़ावें और नाशक प्रवृत्तियों की शक्ति को घटावें। हम समझ रहे हैं कि जो विशाल शक्ति राष्ट्रों के पास इस समय है वह युद्ध को रोकने का काम करेगी। सभी संवेगों में जो स्वतंत्रता का सबसे बड़ा दुश्मन है और जो इंसान का सबसे अधिक पतन करने वाला है वह है भय। लोगों के दिल में सबसे बड़ा भय डाल कर हम उनकी नैतिकता को बिगाड़ देते हैं और उनकी बुद्धि को नष्ट कर देते हैं। लन्दन के एक अध्यापक ने लिखा है :

स्कूल की बस में जाते हुए मैंने ११ वर्ष के एक बच्चे से

> पूछा कि बड़ा होकर वह क्या करेगा, तो उसने जवाब दिया : 'मुझे इसकी चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं है, क्योंकि उस वक़्त तक बड़ा होने के लिए कोई जगह ही नहीं रहेगी।'

प्रिंसिपल जैक्स ने यह सुझाव दिया था कि युद्ध से बचने का एकमात्र तरीक़ा यह है कि दोनों पक्ष यह घोषणा कर दें कि युद्ध शुरू होने पर वे अपने सब बमों का उपयोग कर देंगे। फ़ील्ड मार्शल लॉर्ड माण्टगोमरी ने जो कि यूरोप में मित्र-सेना के सहायक सेनापति हैं, इस महीने की छठी तारीख़ मंगलवार को लन्दन से यह प्रसारित किया कि अगर लड़ाई शुरू हुई तो दोनों ही पक्ष प्रारम्भ से ही आणविक अस्त्र इस्तेमाल करेंगे।

प्रेसीडेण्ट आइसनहावर ने कहा था : 'जब तक सोवियत रूस के शासक यह जानते हैं कि हम प्रत्याक्रमण करने और बदला लेने की स्थिति में हैं तब तक युद्ध का निर्णय वे आसानी से नहीं करेंगे, लेकिन पागलपन के दौरे में या हमारी शक्ति को ग़लत आंक कर वे ऐसा कर सकते हैं।' इस तरह हमें डर है कि कोई पागल लड़ाई शुरू करके एक घण्टे के अन्दर ही उस सब का विध्वंस कर देगा जिसका निर्माण करने में इतनी शताब्दियां लगी हैं। बदला लेने की शक्ति हमें कोई सुरक्षा प्रदान नहीं करती। लगता है कि हम असाधारण भय, सन्देह और घृणा की अवस्था में रह रहे हैं। मार्च १७, १९५४ को प्रेसीडेण्ट आइसनहावर ने एक पत्र-प्रतिनिधियों की सभा में कहा था : 'दुनिया अनेक भयों से परेशान है। हमें क्रेमलीन के लोगों का भय है; हमें उसका भय है जो वे हमारे मित्रों और अपने पड़ोसियों के साथ करेंगे; घर के अन्दर तोड़-फोड़, घूसखोरी या धोखाधड़ी से लड़ने के लिए जो ग़लत छानबीनें हो रही हैं उनके दुष्परिणामों का हमें भय है। हमें गिरावट का भय है; हमें नौकरी छूटने का भय है। ये सब हमारे दिमाग़ पर संयुक्त

आक्रमण करके हमें पागल बना रहे हैं, और आप पागलपन की प्रतिक्रिया देख रहे हैं।' (न्यूयार्क टाइम्स, १८ मार्च १९५४, पृष्ठ ४)

भयों की इस सूची से मुक्ति पाने के लिए प्रेसीडेण्ट आइसनहावर अमेरिका के भविष्य में आस्था रखने के लिए कहते हैं। स्नायुओं की निश्चेष्टता और पागलपन की प्रतिक्रिया का कारण अमेरिकी संस्थाओं में आस्था का अभाव है, जिस लोकतंत्रीय जीवन-पद्धति को हम जीवन से भी अधिक महत्त्व देते हैं उसमें आस्था का न होना है। लोकतंत्रीय जीवन-पद्धति क्या है? इसमें ये बातें शामिल हैं: जिन विचारों से हम सहमत नहीं हैं उनके लिए आदर, सहिष्णुता और सौहार्द; सबके लिए समान न्याय; अपने विचारों को प्रकट करने, अपनी अन्तरात्मा के आदेश के अनुसार काम करने और अपने विवेक के अनुसार कर्तव्य करने की शक्ति; ऐसी सरकार की अधीनता में रहना जिसको बनाने या मिटाने में व्यक्ति अपनी आवाज़ का इस्तेमाल करता हो; शासकों को अप्रिय होने के बावजूद अपने प्रिय आदर्शों और सुधारों को लागू करने की शक्ति।

हमारी अनेक कठिनाइयां इस तथ्य की वजह से हैं कि जिन आज़ादियों को हम इतना प्यार करते हैं उन्हीं की मांग गुलाम लोग भी कर रहे हैं। एशिया और अफ़्रीका में जो अशान्ति है वह इस बात का प्रमाण है कि लोकतंत्र मर नहीं रहा है बल्कि बढ़ रहा है। अगर हम सच्चे दिल से अपने इन दावों में विश्वास करते हैं कि सब मनुष्य ईश्वर ने समान बनाये हैं, कि वर्ण, धर्म, जाति और राष्ट्र के भेदों के बावजूद जीवन, स्वतंत्रता और सुखी होने का अधिकार सब लोग रखते हैं, अगर हम धर्म के इन उसूलों को गम्भीरता के साथ मानते हैं कि हम एक-दूसरे के सदस्य हैं, कि ईश्वर में न यहूदी है न ग़ैर-यहूदी, न यूनानी है न ग़ैर-यूनानी, अगर हम संयुक्त-राष्ट्र-संघ के चार्टर के उसूलों को कार्यान्वित करने के उत्सुक हैं, अगर

लोकतंत्र में हमारा विश्वास ऊपरी नहीं बल्कि दिली है, तो आज जो समस्याएं दुनिया को विभाजित किये हुई हैं उनको हल करने का हमारा तरीक़ा बिल्कुल ही भिन्न होगा। तब हम उन लोगों का पक्ष लेंगे जो उपनिवेशवादियों की ग़ुलामी में हैं, आर्थिक उत्पीड़न और जातीय भेद-भाव के शिकार हैं और उनके जीवन की दिक़्क़तों को दूर करने का प्रयत्न करेंगे। ये ऐसी समस्याएं हैं जिनका साम्यवाद से कोई मतलब नहीं है। ये स्वाभाविक हैं, आन्तरिक हैं और उचित हैं। हमें एशिया और अफ़्रीका के उत्पीड़ित लोगों की क्रान्तियों और विद्रोहों का निर्भय होकर सामना करना चाहिए। अगर इसके विपरीत हम उत्पीड़कों का पक्ष लेते और उत्पीड़ितों का विरोध करते हैं, अगर हम शक्ति और दण्ड के बल पर जन-समुदायों पर शासन जारी रखते हैं, अगर हम दुनिया के दुःखी लोगों की आशा और श्रद्धा को छीनने में एक-दूसरे से बाज़ी लेना चाहते हैं, तो दुनिया की मौजूदा हालत के लिए हम ख़ुद ही ज़िम्मेदार होंगे। जो सारी दुनिया दबाव के नीचे दब रही है तो इसकी वजह हमारी ही हिचकिचाहट और अनुचित बातों से समझौता करना है।

शान्ति का लाभ नहीं हो सकता जब तक कि उसकी क़ीमत न अदा की जाय। उसकी क़ीमत केवल वही अदा कर सकते हैं जिनके पास कुछ है, शक्ति और धन है। ऐसे लोगों को अपनी शक्ति का उपयोग दूसरों पर शासन करने के लिए और अपने धन का उपयोग दूसरों को बिगाड़ने के लिए न करने का संकल्प करना चाहिए। जैसे-जैसे राष्ट्र जनता से दूर होते जाते हैं वैसे-वैसे शक्ति और धन राष्ट्रों से दूर होते जाते हैं। इसके उदाहरण असीरिया, बेबीलोन, क्रीट, मिस्र, यूनान, रोम और स्पेन हमारे सामने हैं। किसी भी राष्ट्र की वह चीज़ स्थिर रहती है जो वह सभी राष्ट्रों

की समान विरासत, साहित्य और कला, विज्ञान और शासन, स्वतंत्रता और लोकतंत्र को देता है।

राष्ट्रीय या सैद्धान्तिक संघर्षों में हमें ख़तरनाक सैनिक तरीक़ा नहीं अपनाना चाहिए बल्कि उनका एक स्थायी, मानवोचित हल निकालना चाहिए। दुनिया के लोगों को हम काले और सफ़ेद में नहीं बांट सकते। ये भेद-भाव जो बहुत से लोगों के प्रति घृणा की भावना पैदा करते हैं मानवीय सम्बन्धों के अनुकूल नहीं हैं। हरेक देश के आम लोग हमारी ही तरह साधारण मनुष्य हैं जो अपना दैनिक काम करते रहना पसन्द करते हैं, अपने बच्चों के लिए अच्छे से अच्छा करना चाहते हैं, अपने बगीचे लगाना चाहते हैं और अपने पड़ोसियों के साथ शान्तिपूर्वक रहना चाहते हैं। उनमें से अगर कुछ अपनी सरकार के पोषक हैं तो कुछ उसके विरोधी भी हैं। जो हमारे विरोधी हैं उनको भयानक विपत्ति में डालने की धमकी देने के बजाय हमको उनके स्वभाव की उच्चतर प्रवृत्तियों को उभाड़ना चाहिए। हो सकता है कि हम एक-दूसरे को पसंद न करते हों या प्यार न करते हों; फिर भी हम एक-दूसरे को कम से कम समझने की कोशिश या एक-दूसरे से बातचीत करने की कोशिश तो कर ही सकते हैं। हमें चाहिए कि हम अपने को दूसरों की स्थिति में रखकर उनकी अनुभूतियों को समझने की कोशिश करें।

आज ईस्टर के दिन यह स्मरण करना अनुचित न होगा कि क्रॉस अन्तिम विजय का, जीवन के उदर में मृत्यु के लोप का प्रतीक है। यह घोषणा करता है कि समझौता और सहानुभूति आग और अस्त्र से अधिक शक्तिशाली हैं। 'धन्य हैं वे जो विनम्र हैं' अर्थात् जो धैर्य, विनय, संयम और प्रेम के गुणों से युक्त हैं।

ईसा ने कहा था : 'मेरे पिता के घर में कई महल हैं।' किसी भी राष्ट्र को यह नहीं समझना चाहिए कि ईश्वर ने उसी को सृष्टि

का स्वामी बनाकर भेजा है। अगर कुछ लोग हमसे मतभेद रखते हैं, तो हमारा कर्तव्य उनसे लड़ने का नहीं है बल्कि यह है कि हम उनका पुनर्निर्माण करें, उनकी आंखें खोलें, उनकी कार्य-विधि की निष्फलता सिद्ध करें, और उन्हें मानवीय आत्मा की सम्पन्नता का ज्ञान करावें। हमें बहुत-कुछ द्वेष और ग़लत प्रतिनिधित्व का सामना करना पड़ सकता है, लेकिन जीवन की लोकतंत्रीय प्रणाली हमसे उदारता और समझ-बूझ की मांग करती है। भलाई युद्ध में नहीं है बल्कि समझौते में है। चूंकि दुनिया में कोई भी सरकार ऐसा नहीं चाहती कि हम सब बर्बाद हो जायं, इसलिए हमें समझौता करने की कोशिश करनी चाहिए। अगर समझौता असम्भव है तो शान्ति असम्भव है, लेकिन शान्ति का मतलब शत्रु के आगे सिर झुकाना नहीं है। समझौता ख़ुशामद करना नहीं है और न बमों की खड़खड़ाहट अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति है। हमें कठिनाइयों का सामना करना है और उनको दूर करना है। हो सकता है कि हम उन्हें तुरन्त हल न कर सकें। हमें कठिनाइयों के बीच रहना सीखना होगा। दुनिया को एकाएक जादू से नहीं बदला जा सकता। मानवीय प्रगति लम्बा समय लेती है। अधीर या अनुत्साहित होने की आवश्यकता नहीं है। असफलता से क्रोध पैदा नहीं होना चाहिए। ग़लती अपराध नहीं है; यह केवल यौवन है, अपरिपक्वता है। नीट्शे कहता है : 'जब वृक्ष बढ़ कर आकाश की ओर जाता है तब उसकी जड़ें पाताल की ओर जाती हैं।' आकाश और पाताल, स्वर्ग और नरक दो नहीं हैं। ये विकास की उच्चतर और निम्नतर अवस्थाएं हैं। जब हमारी दृष्टि शुभ और अशुभ से परे पहुँच जायेगी तब हम निर्बल की कमज़ोरियों के प्रति उदार हो जायेंगे और केवल अपने प्रति कठोर बनेंगे।

कार्य के बिना आस्था खोखली है। हम उन लोगों को लोक-

तंत्रीय स्वतंत्रता देने के लिए तैयार नहीं हैं जो परतंत्र हैं। अपने शत्रुओं के साथ व्यवहार करने में हम लोकतंत्रीय तरीक़ा अपनाने के लिए तैयार नहीं हैं। अगर दुनिया का बर्बरता की ओर वापस जाना रोकना है तो हमें अपने आदर्शों के प्रति सच्चा होना पड़ेगा।

अगर युद्ध को सेनापतियों के ऊपर नहीं छोड़ा जा सकता तो शान्ति को राजनीतिज्ञों के ऊपर नहीं छोड़ा जा सकता। हमारे प्रधान मंत्री एक राजनीतिज्ञ मात्र नहीं हैं। विचारकों को इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि उनका कर्तव्य एक ऐसे विश्व-समाज का निर्माण करना है जो सचमुच स्वतंत्र और लोकतंत्रीय हो, जो इन्सान की आत्मा के महत्त्व पर आधारित हो। साहित्यकारों के इस संघ का लक्ष्य राष्ट्रों के मध्य सद्भावना और पारस्परिक सम्मान बढ़ाना, जाति, वर्ग और राष्ट्रों के द्वेष को दूर करना तथा एक शान्तिपूर्ण मानव-समाज के आदर्श के लिए लड़ना है। इस युग के कष्टों में से सारी मानव-जाति की एक नयी एकता पैदा हो रही है जिसमें इन्सान की स्वतंत्र आत्मा शान्ति और सुरक्षा पा सके। मानव-जाति जिन भयों से त्रस्त है उनको दूर करना और दुनिया को आने वाली भयानक विपत्ति से बचाना हमारी ताक़त के अन्दर है। ज़रूरत केवल यह है कि हमारी दृष्टि सार्वभौम हो, हमारे अन्दर लोगों में समझौता पैदा करने की और उनके हृदयों में भय की एकमात्र दवा आस्था को पैदा करने की सामर्थ्य हो। हमारी सभ्यता को जो ख़तरा पैदा हो गया है उसका मुक़ाबला केवल चेतना के गहरे स्तरों पर ही हो सकता है। अगर हम शक्ति और आत्मा के वैषम्य को दूर करने में असफल रहते हैं तो जिन शक्तियों की हमने अपने ज्ञान से सृष्टि की है लेकिन जिन पर शासन करने की चतुराई हमारे अन्दर नहीं है वे हमको नष्ट कर देंगी। नये प्रयत्न के लिए यह ज़रूरी है कि हम अपने लक्ष्य को धर्म समझें।

ऋग्वेद जो कि हमारी सबसे पुरानी साहित्यिक रचना है, प्राचीन भारत से हमारा परिचय कराता है जब कि सभ्यता का प्रातःकाल था। उस काल के लेखकों के लिए साहित्य आध्यात्मिक साधना का फल था, संवेगों का शुद्धीकरण था, स्वार्थपूर्ण विचारों का त्याग था। साहित्यकार जिनके दिल और दिमाग़ बन्धनों से मुक्त होते हैं, उस भावी विश्व-एकता के वक्ता हैं जो भय, लोभ और घृणा पर आधारित नहीं है बल्कि आदमी के अन्दर रहने वाले शाश्वत तत्त्व पर, जो आत्मा सदाचार की भूखी और प्यासी है उस पर आधारित है।

हमारा सम्मेलन इस पवित्र भूमि चिदम्बरम् में हो रहा है जो कि दक्षिण भारत के इतिहास में शताब्दियों से विख्यात रहा है। छठी शताब्दी से अप्पर, ज्ञानसम्बन्दर, सुन्दरर, माणिक्कवाचगर जैसे महान् शैव सन्त यहां आते रहे और नटराज की स्तुति के गीत गाते रहे। नवीं शताब्दी से आगे कई शताब्दियों तक चोल राजाओं ने नटराज को अपना संरक्षक देवता मानकर पूजा।

इस मन्दिर में पांच लिंगों में से एक स्थापित है। पंचलिंग ये हैं : (१) कांचीपुरम् का पृथिवी-लिंग, (२) जम्बुकेश्वरम् का अप्-लिंग, (३) तिरुवन्नामलै का तेजस्-लिंग, (४) कालहस्ति का वायु-लिंग और (५) चिदम्बरम् का आकाश-लिंग। भारतीय भावना मानवीय व्यक्तित्व को प्रधानता नहीं देती बल्कि हमारे विचारों को स्वयं से छुड़ाकर सार्वभौम जीवन पर केंद्रित करती है। ये पांच तत्त्व असीम के संकेत हैं, हमसे कहीं अधिक शक्तिशाली सत्ता की ओर इशारा करते हैं।

सार्वभौम सत्ता संसार से परे है और इस दृश्य जगत् के पदार्थों से उसकी कोई समता नहीं है। इसलिए उसे शब्दों और प्रत्ययों से परे एक अनिर्वचनीय तत्त्व कहा जाता है। वह निराकार होते

हुए भी सब आकारों का उद्गम है। सांसारिक दृष्टि से वह सर्वोच्च सत्ता ईश्वर है, नटराज है। नटराज की प्रतिमा विशुद्ध अद्वैत तत्त्व की प्रतीक है। नटराज संसार के स्वामी की अभिव्यक्ति है। वह लय, कर्म और गति का प्रतीक है।

विभिन्न प्रतीकों में सर्वोच्च सत्ता के विभिन्न पक्ष अभिव्यक्त होते हैं। इनसे उपासना के विभिन्न रूपों के प्रति सहिष्णुता प्रकट होती है। एक मध्ययुगीन भारतीय योगी ने लिखा है: 'अलग-अलग दीपों में अलग-अलग प्रकार के तेल हो सकते हैं, बत्तियों के प्रकार भी अलग-अलग हो सकते हैं, लेकिन जब वे जलती हैं तब उनकी ज्योति एक ही होती है।' ईश्वर के विषय में हमारा विचार चाहे जो हो, उसकी उपासना हम चाहे जिस रीति से करें, अगर हमारा हृदय सच्चा है तो हम अवश्य ही उसे प्राप्त करेंगे।

सच्चा धर्म वह नहीं है जो हम बाहर से, किताबों और गुरुओं से ग्रहण करते हैं। सच्चा धर्म हमारा दैनिक धर्म नहीं है जिसके हम अभ्यस्त होते हैं। सच्चा धर्म प्रत्येक मानवीय आत्मा की अभिलाषा है, जो अपने अन्दर ही प्रकट होता है, जिसका निर्माण अपने ही जीवन-रक्त से होता है। सच्चा धर्म हमारे स्वरूप की चरम पूर्ति है जिसमें ऐसा आनन्द होता है जो संसार की सेवा के लिए प्रवाहित होता है।

नन्द जो तिरसठ प्रसिद्ध शैव-भक्तों में से एक है, जन्म से शूद्र होकर भी अपनी ईश्वर-भक्ति से नायनार हो गया और एक सन्त के रूप में पूजा जाता है। पृथिवी ऐसे लोगों की महत्ता से प्रकाशमान है जो जन्म से छोटे होकर भी भक्ति के शिखर पर पहुँचे हैं। नन्दनार की कथा इस बात का उदाहरण है कि जो लोग सच्ची धर्मनिष्ठा वाले हैं उन पर ऊंच-नीच का भेद लागू नहीं होता।

यहां चिदम्बरम् में हम विश्व की निरर्थकता का खण्डन

पाते हैं, यहां उपासना के विभिन्न रूपों को सही मानकर स्वीकार किया गया है, मनुष्यों की समानता पर जोर दिया गया है और विश्व के ऊर्ध्वमुखी विकास में भाग लिया गया है। ये हमारे लोगों की आस्थाएं और अभिलाषाएं हैं, हालांकि हममें से कुछ सन्मार्ग से स्खलित भी हुए हैं। इन आदर्शों के मार्ग से स्खलित होना, आडम्बर को धर्म मानना ही हमारे सामाजिक ढांचे की कमजोरी के लिए जिम्मेदार है। हमें सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक प्रतिक्रिया की बेलगाम ताक़त के ख़िलाफ़ आवाज़ उठानी चाहिए। जब हम अपनी आन्तरिक कमजोरियों को त्याग देंगे केवल तभी हमारे लिए मानव-कल्याण में वृद्धि करना सम्भव हो सकेगा।

पिछले कुछ सप्ताहों की घटनाएं यह भविष्यवाणी करती हैं कि या तो मानवीय इतिहास की समाप्ति हो जायेगी या उसमें एक मोड़ आ जायेगा। यह एक बड़ी भारी चेतावनी है। या तो हम नैतिक शासन को प्राप्त करेंगे और आध्यात्मिक जीवन की ओर लौट पड़ेंगे या कई भूतकालीन जन्तुओं के वंशों की तरह विनाश को प्राप्त होंगे। अगर हमें मनुष्य-जाति को जीवित रखना है तो हमें जीवन की प्रणाली को बदलना होगा। कृण्वन्तो विश्वमार्यम्, विश्वं भद्रं कुर्वन्तः। विश्व को हम आर्य बनावें, सुखी बनावें।

१७

भूदान

(१९५५)

हमें आज़ादी हासिल किये सात साल हो गये हैं। एक राष्ट्र के जीवन में इतना समय बहुत अल्प होता है, लेकिन यह किसी अन्य इतने ही अर्से के मुक़ाबले में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। एक व्यक्ति के जीवन में शुरू के सात वर्ष उसके चरित्र को और इसलिए बहुत कुछ उसके भविष्य को निर्धारित करते हैं। किसी राष्ट्र के जीवन में भी शायद ऐसा ही होता है। कई निरीक्षणकर्ता ऐसे थे जिन्होंने राजनीतिक शक्ति के हस्तान्तरण के समय यह भविष्यवाणी की थी कि भारत विभाजन के दुष्फलों को नहीं झेल पायेगा, हमारा देश व्यवस्थाहीन हो जायेगा, शासन छिन्न-भिन्न हो जायेगा, क़ानून का भय नहीं होगा और जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा नहीं रहेगी। अनेक व्यक्तियों को आकस्मिक बरबादी का भय हो गया और कुछ ऐसे भी थे जो इसका स्वागत करने के लिए उत्सुक थे। लेकिन आज हम जो कुछ देख रहे हैं उससे हमारे ये मित्र और शत्रु उलझन में पड़ गये हैं। देश छिन्न-भिन्न नहीं हुआ। छिन्न-भिन्न होने के बजाय हम इसे अखण्ड और एक देख रहे हैं। देश का कोई हिस्सा ऐसा नहीं है जहां सरकार का आदेश न माना जाय। शासन-प्रबन्ध अब भी यथावत् है। कोई भी विदेशी देश के एक किनारे से दूसरे किनारे तक घूम सकता है और उसकी जान या सम्पत्ति को लेश-मात्र भी हानि नहीं पहुँचेगी। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में, हो सकता है कि हमारे दृष्टिकोण को सब न स्वीकार करें, लेकिन उसका सम्मान

बहुत है। ईमानदारी और आज़ादख़याली के लिए हमारा नाम हो गया है। आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में हमारी उपलब्धियां आश्चर्यजनक तो नहीं रहीं, लेकिन ग़लत भी नहीं रहीं।

लेकिन हमने आज़ादी के लिए जो लड़ाई लड़ी और जो आज़ादी हासिल की वह इसलिए नहीं कि पुराने तरीक़ों से काम करते रहें। हमारा लक्ष्य जितनी जल्दी हो सके उतनी जल्दी आर्थिक और सामाजिक क्रान्ति करना है। हम एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते हैं जिसमें जाति और वर्ग के भेद बिल्कुल न हों, जो सामाजिक और आर्थिक, जातीय और धार्मिक, हर प्रकार के उत्पीड़न से मुक्त हो। हमें मानना पड़ेगा कि हमारे समाज में आज भी गम्भीर आर्थिक अन्याय, सामाजिक अत्याचार, वर्ण-भेद, सांप्रदायिक द्वेष, प्रान्तीयता और भाषा-सम्बन्धी झगड़े मौजूद हैं। ये हमारी योग्यता, हमारे साहस और हमारे विवेक को चुनौती दे रहे हैं। यदि हमें सभ्य समाज के रूप में जीवित रहना है तो इन बुराइयों को शीघ्र से शीघ्र दूर करना होगा और वह भी सभ्य तरीक़े से।

समाज की प्रगति में तीन चरण होते हैं: पहले चरण में पशु-बल का प्राधान्य रहता है, स्वार्थपरता और हिंसा का राज्य रहता है, दूसरे में क़ानून का शासन रहता है, अदालतें निष्पक्ष होकर न्याय करती हैं, पुलिस और कारागार होते हैं; तीसरे में अहिंसा और अस्वार्थपरता रहती है, प्रेम और क़ानून एक होते हैं। पशु-बल का शासन, क़ानून का शासन और प्रेम का शासन—ये सामाजिक विकास के तीन चरण हैं। इनमें से अन्तिम सभ्य मानवता का लक्ष्य है और ऐसे लोगों की वृद्धि से इसको निकट लाया जा सकता है जो स्वार्थपरक महत्त्वाकांक्षाओं को त्याग चुके हैं, व्यक्तिगत हित का बलिदान कर चुके हैं, जो दूसरों को शान्ति और आराम पहुँचाने के लिए स्वयं को मिटा देते हैं। सन्त लोग अपने तपस्वी जीवन

से दुनिया को क़ायम रखते हैं : सन्तो भूमिं तपसा धारयन्ति। आचार्य विनोबा भावे एक ऐसे ही तपस्वी हैं जो हमारे सामाजिक और आर्थिक जीवन में प्रेम का शासन उतारने के लिए कृत-संकल्प हैं।

हम सब लोगों को साधु नहीं बना सकते और इसीलिए अपनी सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने के हेतु हमें विधान-निर्माण की शरण लेनी पड़ती है। परिवर्तन की आवश्यकता के इस सन्दर्भ में भूदान-आन्दोलन का बड़ा महत्त्व हो जाता है। यह भारतीय जीवन-पद्धति में छिपी हुई परम्पराओं पर ज़ोर देता है। यह समाज को एक विशाल परिवार मानने के पुराने आदर्श को फिर हमारे सामने रखता है। यह हमारी धार्मिक प्रवृत्ति को उकसाता है और यह बताता है कि आध्यात्मिक स्वतंत्रता केवल उन्हीं को प्राप्त हो सकती है जो भौतिक चीज़ों से मोह नहीं करते। आचार्य विनोबा भावे ने जिस आन्दोलन को जन्म दिया है वह एक महान् क्रान्ति को लाने वाला है। उसने समाज के सभी स्तरों के अन्दर वांछित प्रतिक्रिया पैदा की है जिससे प्रकट होता है कि हमारे देश की नैतिक शक्ति का भाण्डार विशाल है। यह आन्दोलन एक निष्ठा पर आधारित है। अगर यह स्वयं भूमि-सम्बन्धी क्रान्ति करने में सफल न भी हो, तब भी यह उस क्रान्ति को लाने के लिए, आवश्यक एक ऐसा लोक-मत का वातावरण पैदा करता है जो भूमि-सुधार के साहसपूर्ण तरीक़ों को अपनाने के अनुकूल हो।

१८

सह-अस्तित्व

(इण्डियन स्पोर्ट्स क्लब, लिम्बे, न्यासालैण्ड में कमिश्नर के स्वागत के उत्तर में दिया गया भाषण, ७ जुलाई १९५६)

भारत एक भू-भाग होने से अधिक एक रवैये का, एक दृष्टिकोण-विशेष का नाम है। लन्दन विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर चाइल्ड प्राचीन भारत के बारे में लिखते हुए यह उल्लेख करते हैं कि ३२५० ई० पू० में मिस्र और बेबीलोन के मुक़ाबले में भारत ने एक अलग ही सभ्यता, जीवन का एक निश्चित आदर्श जो कि आज भी जीवित है, सामने रखा। वे कहते हैं कि यही आधुनिक भारतीय सभ्यता का आधार है। आधुनिक यूनान प्राचीन यूनान से भिन्न है, आज का मिस्र पुराने मिस्र से अलग है, लेकिन आज का भारत अपने दृष्टिकोण में प्राचीन भारत से मूलतः अभिन्न है।

मोहोंजोदड़ो और हड़प्पा की खुदायी से जो अवशेष प्राप्त हुए हैं उनमें शिव के प्राचीन रूप की एक प्रतिमा मिली है जिसमें शिव आंखें मूंदे एक कमल के आसन पर ध्यान की मुद्रा में बैठे हैं और जीव-जन्तु उनको चारों ओर से घेरे हुए हैं। इस प्रतिमा में उस मौलिक दृष्टिकोण के दर्शन होते हैं जिसका इस देश के आध्यात्मिक वातावरण पर प्रभाव रहा है। प्रारम्भ से ही यह महसूस किया गया है कि जो अपनी ध्यान की शक्ति से स्वयं अपनी वासनाओं और संवेगों पर विजय पा सकता है वह उससे श्रेष्ठ है जो युद्धों में विजय पा सकता है; दूसरे शब्दों में यह कहा जायगा कि आत्म-विजय का देशों की विजय से अधिक महत्त्व है। हमारी आस्था यह है कि

सबसे बड़े विजेता वे हैं जो बल का उपयोग किये बिना अपने शत्रुओं को पराभूत कर देते हैं।

तब से लेकर आज तक हम उस प्रतिमा को समाधि में लीन पाते हैं। उपनिषदों में वह दिखायी देती है, बुद्ध में वह दिखायी देती है। बुद्ध की मूर्तियों से प्रकट होता है कि कैसे उन्होंने द्वेष, हठ-धर्मिता इत्यादि पर विजय पायी। हरेक पीढ़ी में और देश के हरेक भाग में ऐसे लोग उत्पन्न हुए जिन्होंने इस आदर्श को ठोस रूप दिया।

धर्म का यह अर्थ कि किसी सिद्धान्त-विशेष को माना जाय या कुछ विशिष्ट रीतियों के अनुसार ईश्वर की पूजा की जाय, हमारे लिए अधिक महत्त्व नहीं रखता। धर्म का अधिक महत्त्व इस बात में है कि हमारी प्रकृति बदले, हमारे व्यक्तित्व का रूपान्तरण हो, जो हम हैं उससे भिन्न बनें। धर्म विश्व के अन्तिम रहस्य के साथ एक हो जाना है।

जब हम धर्म का इस तरह के दृष्टिकोण से ऐक्य करते हैं तब सिद्धान्तों की प्रतिस्पर्धा और विश्वासों का विरोध महत्त्वहीन हो जाता है। उस दिन से लेकर आज के दिन तक अपने सच्चे स्वरूप की प्राप्ति का हमारा जो धार्मिक लक्ष्य है उस पर पहुँचने के लिए अनेक रास्ते स्वीकार किये गये। इस तरह शान्तिपूर्ण, सक्रिय और एक-दूसरे से शिक्षा लेने वाले लोगों के सह-अस्तित्व का आदर्श युगों से हमारे सामने रहा है। जब हम कहते हैं कि भारत धर्म-निरपेक्ष राज्य है तब इसका अर्थ यह नहीं है कि भारत भौतिक सुखों और विलास की चीजों की पूजा करता है अथवा देश-काल से युक्त इस भौतिक जगत् पर शासन करने वाले नियमों से ऊंचे नियमों को नहीं मानता। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि भारत किसी खास धर्म का पक्षपाती नहीं है बल्कि सभी धर्मों का आदर करता है; कि

वह विश्व के सभी धर्मों के सक्रिय सह-अस्तित्व में विश्वास करता है। धर्म-निरपेक्ष राज्य का यही अर्थ है।

जब तक हम सिद्धान्तों को परमात्मा की प्राप्ति के विभिन्न रास्ते मानते हैं, सत्य के बारे में अन्तिम कथन नहीं, तब तक न कोई संघर्ष होगा और न कोई वाद-विवाद। धार्मिक युद्ध तब होते हैं जब हम किसी धार्मिक विश्वास को अन्तिम सत्य मानने लगते हैं। आर्य और द्रविड़, हिन्दू और बौद्ध जितनी भी जातियां भारत में आयीं वे घुलमिलकर एक हो गयीं।

कुछ और भी दृष्टिकोण हैं जो हम तक पहुँचे हैं। अगर हम पश्चिम की ओर देखें तो मालूम होगा कि यूरोप का इतिहास यूनानी और बर्बर के भेद से शुरू होता है। लेकिन असल में यूनान ने मिस्र, बेबीलोन और ईरान के 'बर्बर' देशों से बहुत कुछ लिया है। अगर हम एक क़दम और आगे बढ़ें तो देखेंगे कि जस्टीनियन ने यह सोचकर कि यूनान और गैलिली एक साथ नहीं रह सकेंगे, एथेंस की पाठशालाएं बन्द करा दीं, लेकिन हम जानते हैं कि ईसाई-धर्म के इतिहास में यूनान प्रवेश कर गया। ऑगस्टाइन में प्लैटो और प्लौटिनस भरा पड़ा है; अक्विनास में अरस्तू भरा पड़ा है। फिर जब हम मध्ययुगीन धर्म-युद्धों की बात पर आते हैं तो दो धर्मों का, ईसाइयत और इस्लाम का संघर्ष दिखायी देता है। हमें ज्ञात हो चुका है कि ईसाइयत और इस्लाम एक-दूसरे से शिक्षा ग्रहण करते हुए साथ-साथ रह सकते थे। यूरोप की आधुनिक पुनर्जागृति उस ज्ञान का परिणाम है जिसका यूरोप में प्रवेश यूनान के महान् ग्रन्थों के अरब अनुवादकों के कारण हुआ, और उन दो मुसलमान धर्मशास्त्रियों, एवरोज और एविसेन्ना ने ईसाई विचार-धारा के विकास में बहुत योग-दान किया। कैथोलिकों और प्रोटेस्टैण्टों के मध्य भी शताब्दियों तक संघर्ष होता रहा। तब भी यह

सोचा जाता रहा कि या तो यह सही है या वह। अब हम देखते हैं कि कैथोलिक और प्रोटेस्टैण्ट एक साथ रह सकते हैं, एक-दूसरे की मदद कर सकते हैं और एक-दूसरे से सीख सकते हैं। आज हम गुटों के बीच संघर्ष देख रहे हैं। अब हम सोच रहे हैं कि सक्रिय सह-अस्तित्व की नीति अपनावें। 'यह या वह' की परम्परा ने दुनिया में संघर्ष पैदा किये, लेकिन 'यह और वह' की परम्परा से यह आशा है कि वह दुनिया के राष्ट्रों के घाव भरेगी। 'यह या वह' की परम्परा का जन्म इस धारणा से होता है कि हम सत्य तक पहुँच गये हैं और जिनको सत्य की प्राप्ति नहीं हुई है उनके बीच फैले हुए अन्धकार को दूर करना हमारा कर्तव्य है।

'यह और वह' का दर्शन यह कहता है कि दुनिया का कोई कोना ऐसा नहीं है जहां ईश्वर का साक्षात्कार करने वाले मौजूद न हों। सभी लोग ईश्वर के प्रेम को प्राप्त करने के अधिकारी हैं। कहीं भी ऐसे लोग नहीं हैं जिन्हें ईश्वर ने अनाथ छोड़ दिया हो। क़ुरान में कहा गया है: 'सब लोगों के पास हमने ईश्वर की पूजा सिखाने के लिये दूत भेजे हैं।' अतः, यदि हम परमात्मा की सर्व-व्यापकता को मानते हैं तो हमारा सक्रिय सह-अस्तित्व में विश्वास हो जायगा।

आज हम समझ गये हैं कि 'यह या वह' की नीति मूर्खतापूर्ण है। एक समय ऐसा था जब हम युद्ध के द्वारा अपने मतों के लिए सफलता प्राप्त कर सकते थे। वे दिन अब नहीं रहे। आज के हवाई हमले लड़ने वालों और नागरिकों में अन्तर नहीं देखते। एक अणु-बम राष्ट्रीयता के अन्तर को नहीं पहिचानेगा। इसलिये हम एक ऐसी स्थिति में पहुँच गये हैं कि जब एक बटन दबाने मात्र से एक सम्पूर्ण महाद्वीप का संहार हो जायगा। इन शैतानी शस्त्रों की होड़ में अगुआ बनने की कोशिश से हम अपने विश्वासों को क़ायम रख

पायेंगे, इसकी सम्भावना नहीं है। हम समझने लगे हैं कि हमें जिन्दा रहना या मरना एक ही साथ है, और अगर हमें एक साथ जिन्दा रहना है तो हमें दूसरों के विचारों के प्रति सहनशील बनना चाहिए। आत्म-रक्षा के लिए धार्मिक सहनशीलता और सैद्धान्तिक सहनशीलता, अनिवार्य हो गयी हैं। क्षमाशीलता प्रेम का सबसे शक्तिशाली रूप है।

इसलिए, अगर हम सक्रिय सह-अस्तित्व के दर्शन को अपनाना चाहें तो हमें इस भ्रान्त धारणा को त्याग देना होगा कि हम प्रकाश के स्वामी हैं और दूसरे अन्धकार में भटक रहे हैं। भारत को सह-अस्तित्व की इस नीति के कारण हानि उठानी पड़ी है, लेकिन यह कोई बात नहीं है। अगर हम सत्य पर अटल हैं तो हानि उठानी ही पड़ेगी।

ईसाई धर्म का महान् प्रतीक क्रॉस है जिस पर ईसा को आध्यात्मिक विजय के हेतु भौतिक पराजय सहनी पड़ी। अगर हम अनुभव करते हैं कि हम सही रास्ते पर हैं तो हमारे लिए यह रुख अख्तियार करना जरूरी हो जाता है कि हम सफलता की कामना से कुछ बातों को नहीं ले रहे हैं बल्कि इसलिए ले रहे हैं कि वे सही हैं।

इस संघ-राज्य (अफ़्रीका) में विभिन्न संप्रदायों के, विभिन्न नस्लों के और विभिन्न धर्मों के लोग एक साथ रह रहे हैं। अगर आप 'यह या वह' के दर्शन को पकड़ते हैं; तो संघर्ष होगा, अव्यवस्था होगी, अराजकता होगी। अगर आप 'यह और वह' के दर्शन को पकड़ते हैं; तो आप में से हरेक अपने रास्ते पर चल सकता है, अपने विश्वासों पर क़ायम रह सकता है और इस देश के उत्कर्ष में योगदान कर सकता है। उस समय आपका भविष्य महान् हो जायगा जब विभिन्न संप्रदाय इस भूमि की समृद्धि में अपना-अपना योगदान करेंगे।

मुझे इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि इस समय इस देश में जिस दर्शन की प्रधानता है वह न बहिष्करण में विश्वास करता है, न पृथक्करण में और न एकीकरण में। वह नस्लों के मेल में अवश्य विश्वास करता है, और अगर नस्लों के बीच मेल पैदा करना है तो जीवन के प्रति आपका सारा दृष्टिकोण भिन्न होना चाहिए। आपको प्रत्येक व्यक्ति का आदर करना होगा। वह व्यक्ति, सम्भव है, इतना बड़ा न हो जितने आप हैं, सम्भव है वह इतना बुद्धिमान्, शिक्षाप्राप्त या विशाल अनुभव वाला न हो जितना आप स्वयं को मानते हैं, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि लोगों की सभी सम्भावनाएं और गुप्त शक्तियां ज्ञात हो चुकी हैं। अनेक बातें ऐसी हो सकती हैं जो हमें ज्ञात न हों और कुछ समय बाद प्रकट हों।

मुझे आशा है कि यह देश उस दर्शन को अपनायेगा जो यह कहता है कि : 'ईश्वर हरेक को अपना पूरा क़द प्राप्त करने में मदद कर रहा है, और हमारा कर्तव्य यह है कि हरेक आदमी को वह वातावरण और परिस्थितियां प्रदान करें जो उसे अधिक से अधिक बढ़ने में मदद दें।' सारी दुनिया को आज सह-अस्तित्व के दर्शन की आवश्यकता है, निष्क्रिय और तटस्थ-वृत्ति वाले सह-अस्तित्व के दर्शन की नहीं बल्कि सक्रिय और सहयोगपूर्ण सह-अस्तित्व के दर्शन की।

१९

वर्ण-भेद और अस्पृश्यता-निवारण

(२६ सितम्बर १९५५)

पहिली बात जो ध्यान में रखनी चाहिए यह है कि धार्मिक सिद्धान्त और सामाजिक संस्थाएं अलग-अलग चीज़ें हैं। धार्मिक सिद्धान्त आधारभूत और स्थायी होते हैं। लेकिन सामाजिक संस्थाएं समय-समय पर बदलती रहती हैं। जब भी सामाजिक संस्थाओं में परिवर्तन की मांग की जाती है, तभी लोग चिल्लाने लगते हैं कि धर्म संकट में है। यह ग़लत है। सामाजिक संस्थाएं स्थान-विशेष की सामाजिक विशेषताएं लिये होती हैं। खान-पान और विवाह से सम्बन्धित नियम सामाजिक विधि-निषेध होते हैं जो समय-समय पर परिवर्तित हुये हैं। जब रॉबर्ट डि नोबिली ने जो कि 'सोसाइटी ऑव जीज़स' से सम्बन्धित था, भारतीय ईसाइयों को अपनी सामाजिक रीतियों का अनुसरण करने की और धर्म-परिवर्तन के बाद भी हिन्दुओं को यज्ञोपवीत और शिखा धारण करने की अनुमति प्रदान की, तब उसने यह सिद्ध कर दिया कि सार्वभौम धार्मिक सत्यों में और अस्थायी सामाजिक रीति-रिवाजों में अन्तर होता है। मदुरा में उसने साधु का गेरुवा वस्त्र धारण किया, कपाल पर चन्दन लगाया और शरीर पर यज्ञोपवीत पहिना। डि नोबिली ने घोषणा की कि वह एक रोम का ब्राह्मण है। धर्म और सामाजिक नियमों का फ़र्क़ इस बात से भी प्रकट होता है कि सीरिया के ईसाइयों ने हिन्दुओं के कई रीति-रिवाज़ जिनमें वर्ण और अस्पृश्यता भी शामिल है, अपना लिये। धर्म-परिवर्तन को प्रोत्साहन नहीं दिया गया और

निम्न वर्ग के ऐसे लोग जिन्होंने धर्म-परिवर्तन कर दिया था व्यवहार में जाति-बहिष्कृत बने रहे। जैन, सिक्ख, वीरशैव, ब्राह्म और आर्य-समाजी वर्ण-भेद नहीं मानते, फिर भी यहूदी और पारसी की तरह ये स्वयं वर्ण बन गये।

हमारी सामाजिक आदतें धार्मिक सिद्धान्तों के सामाजिक प्रकाशन हैं, और ज्यों-ज्यों उनका गूढ़ार्थ अच्छी तरह समझ में आता जाता है त्यों-त्यों धार्मिक नेता स्वयं ही सामाजिक परिवर्तन करते रहते हैं। उपनिषत् के ऋषियों और बुद्ध से लेकर टैगोर और गान्धी तक धार्मिक नेता मौलिक सामाजिक परिवर्तन के समर्थक रहे हैं। स्वयं अपने-अपने युगों में इन्हें नास्तिक माना गया। जो लोग सच्चे धार्मिक हैं वे सत्कर्म का उपदेश देते हैं, सामाजिक न्याय का पोषण करते हैं।

धर्म किसी विशेष सामाजिक व्यवस्था से बँधा हुआ नहीं है। वह हर प्रकार की सामाजिक व्यवस्था को उसके गुण-दोषों से जांचता है। वर्ण और अस्पृश्यता से सम्बन्धित नियमों के लिए धर्म-शब्द का इस्तेमाल यह बताता है कि वे पवित्र हैं। महाभारत में धर्म को समाज को धारण करने वाला कहा गया है : धारणाद् धर्ममित्याहुः धर्मेण विधृताः प्रजाः। इससे स्पष्ट है कि अस्पृश्यता समाज-विरोधी है और धर्म के सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। सरकार ने अस्पृश्यता पर आधारित भेदभाव को अपराध घोषित करके अस्पृश्यता का उन्मूलन करने का निश्चय किया है। अस्पृश्यता की आधुनिक राजनीतिक विचारधाराओं और धार्मिक सिद्धान्तों से संगति नहीं है। यह एक सामाजिक अपराध है और जितनी जल्दी इसका उन्मूलन कर दिया जाय उतना ही हमारे देश के नाम और हमारी राष्ट्रीय एकता के लिए अच्छा होगा। केवल विशेष अवसर प्रदान करके ही हम समाज के पिछड़े वर्गों को आगे बढ़ने में मदद दे सकते

हैं। दलित वर्ग का आर्थिक पुनर्वास मात्र पर्याप्त नहीं है; हमें उन्हें मनुष्य का दर्जा और गौरव देना होगा। भविष्य की पीढ़ियों को भूतकाल का बोझ ढोने के लिए मजबूर नहीं करना चाहिए। सभ्यता की कसौटी वह तरीक़ा है जिससे कोई समाज अपने निर्बल सदस्यों से व्यवहार करता है।

ईसा की शुरू की शताब्दियों में वर्ण के बारे में हमारे विचार और व्यवहार बाद की अपेक्षा कहीं अधिक लचीले, कम कठोर और कम निश्चित थे। अनुलोम और प्रतिलोम विवाह के उल्लेख से यह स्पष्टतया प्रमाणित होता है कि हमारे इतिहास के गतिशील युगों में वर्णों के मध्य विवाह-सम्बन्ध खूब प्रचलित था। जब धर्म ने अपनी आध्यात्मिक शक्ति बहुत कुछ खो दी और उसका नैतिक आदर्शवाद जाता रहा, तब वर्ण-भेद जोर पकड़ गया। वर्णगत प्रतिबन्धों का कड़ा होना और देश का पराधीन होना, ये दोनों बातें एक साथ हुईं। यह बहुत दुर्भाग्य की बात है कि हमारे देश के कई भागों में जनता का जीवन वर्ण-भावना से दूषित है। प्रत्येक बात का कोई कारण होता है। शायद हमारे भूतकाल की गुलामी हमारे सामाजिक विभाजनों का ही कुफल थी। अगर हम ग़लत बातों से बचें तो हम अपने भविष्य को उन्नत बना सकते हैं। एक प्राचीन श्लोक में अंत्यज और विप्र को सहोदर बताया गया है :

अन्त्यजो विप्रजातिश्च एक एव सहोदरः।
एकयोनिप्रसूतश्च एकशाखेन जायते॥

हमने हमेशा ऐसे व्यक्ति को आदर्श माना है जो वर्णातीत हो। भगवद्गीता में कहा गया है :

न यस्य जन्मकर्माभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः।
संजतेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः॥

'जिसे जन्म, कर्म, वर्णाश्रम का अहंकार नहीं है वह हरि को प्रिय है।' संन्यासी वर्णातीत होते हैं। आधुनिक समाज में वर्ण-भेद का कोई आर्थिक, नस्ल-सम्बन्धी या नैतिक औचित्य प्रतीत नहीं होता। अखिल-भारतीय नौकरियों में प्रार्थियों को चरित्र और योग्यता, गुण और कर्म के आधार पर लिया जाता है। इन नौकरियों पर किसी एक वर्ण या संप्रदाय का एकाधिकार नहीं है।

समाज में श्रेष्ठता का आधार रहन-सहन की उच्चता और संयम है। भारत में शक्ति की क़ीमत त्याग है। गान्धी को राष्ट्रपिता कहा जाता है, विनोबा भावे को लाखों पूजते हैं, लेकिन इसका कारण उनका वैश्य या ब्राह्मण-कुल में जन्म लेना नहीं है बल्कि उनके जीवन की पवित्रता है। अपरिग्रह सर्वोच्च व्रत है। नारद-भक्ति-सूत्र में कहा गया है कि भक्तों में जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रिया इत्यादि का भेद नहीं होता:

नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः।

आज हम एक ऐसे समाज में रह रहे हैं जिसमें नयी व्यवस्था का उदय हो रहा है। काल की प्रगति को हम रोक नहीं सकते। यदि हम अपने हृदय को किसी भूतकाल की बात से चिपकाये रखें, यदि हम किसी ऐसी चीज़ से चिपके रहें जो मर चुकी है, तो हम पिछड़ जायेंगे। विस्मृति उतनी ही आवश्यक है जितनी कि स्मृति। यदि हमें आवश्यक बातों को याद रखना और सुरक्षित रखना है तो बहुत सी बातों को भूल जाना होगा। परिवर्तन का प्रतिरोध करने से समाज सड़ जाता है; परिवर्तन का स्वागत करके समाज समृद्धि को प्राप्त होता है। परिवर्तन का जो असाधारण भय हम प्रायः देखते हैं वह हमारी परम्परा के प्रतिकूल है। जीवन का नियम ही परिवर्तन है। 'चरन् वै मधु विन्दति।' केवल चलकर ही हम जीवन

का माधुर्य प्राप्त कर सकते हैं। सृजनशील मस्तिष्क पुरानी परम्परा को बदल देते हैं। यह परम्परा कभी बन्द नहीं होती। यह सदैव खुली रहती है और इसका निर्माण होता रहता है। अगर हम अपने धर्म की मूल बातों को मानते हैं तो मौलिक परिवर्तनों का हमें विरोध नहीं करना चाहिए। अपने विश्वास और व्यवहार के बीच की खाई को हमें भरना होगा। लोग जिन सामाजिक रोगों से ग्रस्त हैं उनको निकाल बाहर करने के लिए एक देश-व्यापी प्रयत्न करना होगा। हमें समाज से मनुष्य-कृत असमानताओं और अन्यायों को दूर करना होगा और व्यक्तिगत हित तथा सामाजिक विकास के लिए सबको समान अवसर देने होंगे। हम लोगों का लापरवाही और भाग्यवाद को छोड़कर आत्म-ज्ञान और आत्म-गौरव प्राप्त करना आशा का आधार है। हमारे अन्दर की मनुष्यता को मनुष्यता का नाश करने वाली बातों के विरोध में उठ खड़ा होना चाहिए। हमें चाहिए कि हम मनुष्य के हित के लिए लड़ें और कष्ट उठावें। सरकार हरेक नागरिक की सेविका है। हमें एक ऐसे समाज की स्थापना करनी चाहिए जिसमें सभी सदस्यों को आर्थिक न्याय और अवसर सुलभ हो।

२०

संसदीय लोकतंत्र

(२५ फ़रवरी १९५६)

लोकतंत्र का अर्थ है जनता का शासन। इसे हम कई दृष्टिकोणों से समझ सकते हैं। यह जीवन का एक तरीक़ा है, शासन की एक प्रणाली है, सामाजिक और आर्थिक विकास का एक साधन है, समस्याओं को हल करने की एक विधि है। इन सब पहलुओं पर मैं कुछ आम बातें कहूँगा।

× × ×

हीब्रू पैग़म्बर ने कहा था : 'जहां दृष्टि नहीं है वहां लोग मरते हैं।'[1]

लोकतंत्र हमें एक दृष्टि, जीवन का एक तरीक़ा देता है, हमें कुछ आदर्शों, प्रतिमानों या जीवन के मानदण्डों को देता है। हमारे संविधान की प्रस्तावना और भाग ४ में उल्लिखित लक्ष्य और कर्तव्य हमारा पथ-प्रदर्शन करते हैं।

व्यक्ति का गौरव, मानवीय व्यक्तित्व की पवित्रता लोकतंत्र का आधारभूत सिद्धान्त है। कुछ लोग व्यक्ति को दुनिया की शक्तियों के हित का साधन मात्र मानते हैं, जो अपने निश्चित

---

[1] ऑगस्टाइन ने 'सिटी ऑव गॉड' में लिखा है : 'राष्ट्र विवेकशील प्राणियों का एक संघ है जो मिल-जुल कर शान्तिपूर्वक अपनी प्रिय वस्तुओं का उपभोग करते हैं। अतः किसी राष्ट्र की अच्छाई जांचने के लिए यह देखना होगा कि वे वस्तुएं क्या हैं।'

लक्ष्य की ओर बढ़ रही हैं। लेकिन व्यक्ति में जीवन अभिव्यक्त होता है। सत्य का ज्ञान व्यक्ति को होता है। सीखने और कष्ट उठाने वाला, हर्ष और शोक, क्षमा और घृणा का अनुभव करने वाला व्यक्ति ही है। दुनिया की जितनी प्रगति हुई है वह सब उन लोगों की वजह से है जो सन्तुष्ट नहीं हैं। अपराधियों और पापियों तक के अन्दर आत्मा का निवास होता है। राज्य का कार्य यह है कि वह आदमी की आंख की इंसानियत की चमक को मन्द न होने दे। अगर हम आत्मा की स्वभावसिद्ध स्वतंत्रता को मान लें तो शेष सभी स्वतंत्रताएं लुप्त हो जायेंगी।

कार्ल मार्क्स ने 'कम्युनिस्ट मैनीफ़ेस्टो' में पूंजीवादी व्यवस्था के बारे में यह शिकायत की है कि वह इंसानों की एक विशाल संख्या को मशीन का काम करने की शिक्षा देती है। उसके मत से यह व्यवस्था श्रमिक-वर्ग की इंसानियत को नष्ट कर देती है। व्यक्ति का व्यक्तिगत जीवन बिताने और अपना विकास करने का अधिकार लोकतंत्र के मुख्य अधिकारों में से एक है।

आपस्तम्ब ने कहा है : आत्मलाभान्न परं विद्यते (धर्मसूत्र १.७.२)। आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्। आत्मा के लिए दुनिया तक का त्याग कर देना चाहिए। अगर आदमी को सारी दुनिया भी मिल जाय लेकिन उसकी आत्मा नष्ट हो जाय, तो क्या लाभ?

आजकल जब वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने ऐतिहासिक नियतिवाद का प्रचलन कर दिया है, जब महापुरुषों को निर्वैयक्तिक शक्तियों के गुलाम या साधन कहा जाता है, तब यह अच्छा है कि हम इतिहास में व्यक्ति के काम को महत्त्व दें। एच० ए० एल० फ़िशर ने इतिहासकार के लिए केवल एक सुरक्षित नियम बताया है जो यह है कि हमें मानवीय इतिहास की प्रगति में अनिश्चित और अज्ञात के कार्य को पहिचानना चाहिए। रेखागणित की अनिवार्यता इंसानी

मामलों में लागू नहीं होती। इतिहास के निर्माण में आदमी का सच्चा भाग होता है। 'राजा कालस्य कारणम्'। कठोर नियति-वाद को हम नहीं मानते, लेकिन आदमी को हम अतीत से पूरी तरह से विच्छिन्न भी नहीं मान सकते। आदमी के चुनाव का क्षेत्र संकीर्ण हो सकता है, लेकिन चुनाव की आजादी उसको अवश्य है। हम भाग्य के हाथ के खिलौने नहीं हैं। समूह में अपने व्यक्तित्व का विलय करके नहीं बल्कि विचार, अनुभूति और कल्पना की स्वतंत्रता का रचनात्मक उपयोग करके, परिस्थितियों के बजाय स्वयं कार्य आरम्भ करके हम बाह्य शक्तियों के प्रभाव से स्वयं को मुक्त कर सकते हैं। अगर हम अपने खान-पान और रहन-सहन में तरक्क़ी कर सकते हैं, अगर हम स्वयं को अभाव और हीनता से मुक्त कर सकते हैं, तो इसकी वजह केवल यह है कि आदमी के अन्दर स्वतंत्र आत्मा का निवास है और वह इच्छानुसार कार्यारम्भ कर सकता है। मानवीय प्रगति का सारा इतिहास उन पैगम्बरों और महा-पुरुषों, उन कवियों और कलाकारों, उन राह बनाने वालों और खोजियों के प्रयत्नों का फल है जिन्होंने शुभ, सत्य या सुन्दर के बारे में नये सिरे से विचार करने का साहस किया, जिन्होंने जान का खतरा उठा कर स्वयं चुनाव और निर्णय किये, क्योंकि उन्होंने सोचा कि अगर वे ऐसा नहीं करेंगे तो वे अपने अन्दर रहने वाली आत्मा के साथ छल करेंगे। व्यक्ति का सम्मान लोकतंत्रीय समाज का नैतिक आधार है। उसमें न किसी को गुलाम होना चाहिए और न किसी को मालिक।

सौ से अधिक वर्ष पहिले टाकविले ने अमेरिकी संयुक्त-राज्य के बारे में लिखते हुए कहा था : 'अब तक यह सोचा जाता रहा कि निरंकुश शासन चाहे जिस रूप में हो, घृणा की वस्तु है। यह एक नयी आधुनिक खोज है कि वैधानिक निर्दयता और पवित्र अन्याय

जैसी चीज़ें भी हैं, बशर्ते कि ये जनता के नाम पर किये जायं।' उसने कहा है : 'मैं कोई ऐसा देश नहीं जानता जिसमें सोचने की आज़ादी और भाषण की स्वतंत्रता इतनी कम हो जितनी कि अमेरिका में है।' आगे कहता है : 'अगर आज अमेरिका में महान् लेखक नहीं हैं तो इसका सीधा-सादा कारण यह है कि मत-स्वातंत्र्य के बिना साहित्यिक प्रतिभा पैदा नहीं हो सकती और अमेरिका में मत-स्वातंत्र्य का अभाव है।'

× × ×

'जनवाक्यं तु कर्तव्यं नरैरपि नराधिपैः'। जनता और शासकों को जनता की आवाज़ के अनुसार काम करना चाहिए। लेकिन जनता की आवाज़ कैसे जानी जाय? यह चिल्लाहट या नारा मात्र जनता की आवाज़ नहीं है।

संसदीय लोकतंत्र जनता के विचार को निर्धारित और व्यक्त करने का सर्वोत्तम साधन प्रतीत होता है। लोकतंत्र का मतलब है जनता के द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों का शासन। आधुनिक राज्यों में जनता का सीधा शासन सम्भव नहीं है। गांव-पंचायतों तक को प्रतिनिधियों को चुनने की प्रणाली अपनानी पड़ती है। लोकतंत्र जनता को संविधान में सुधार करने और उसे बदलने का अधिकार देता है। जब तक संविधान लागू रहता है, जब तक जनता के नुमाइन्दे उसे बदलते नहीं हैं तब तक सबको उसके अनुसार चलना पड़ता है। जब तक कोई समान आधार न हो जिसे सभी दलों के सदस्य स्वीकार करते हों, तब तक संसद् की कार्यवाही नहीं चल सकती। संसदीय लोकतंत्र सरकार को बदलने का शान्तिपूर्ण तरीक़ा अपनाता है। बार-बार जो चुनाव किये जाते हैं उनसे यह सूचित होता है कि जनता को अपने प्रतिनिधियों को हटाने की शक्ति प्राप्त है।

हमने सब बालिग़ों को मतदान का अधिकार दिया है। इसका मतलब यह है कि सबको शिक्षित होना चाहिए। मतदाता केवल तभी राष्ट्रीय प्रयोजन और कर्तव्य को समझ सकेंगे और केवल तभी अपने मत का प्रयोग स्वार्थ को छोड़कर सार्वजनिक हित के लिए कर सकेंगे। हमारे मतदाता नियमित शिक्षा-प्राप्त तो नहीं हैं लेकिन वे सामान्य बुद्धि रखते हैं और स्वभावतः सत्य और न्याय से प्रेम करते हैं।

लोग कभी-कभी सत्य और न्याय के रास्ते से उन लोगों के द्वारा बहका दिये जाते हैं जो गुट-विशेष के समर्थक या वर्ग-विशेष के स्वार्थों का प्रचार करने वाले होते हैं। भीड़ के मनोविज्ञान के जानकार लोगों को विभिन्न गुटों में बांट देते हैं। अगर बुद्धिमान् राष्ट्र आसानी से तानाशाही शासन के भक्त बने हैं तो यह सिर्फ़ इसलिए कि लोग आसानी से व्यक्तिगत उत्तरदायित्व छोड़ देते हैं।

अगर लोगों को सामाजिक और आर्थिक मामलों के बारे में सही विचार बनाने हैं, तो उन्हें सही सूचना प्राप्त करनी होगी और प्रश्न के पक्ष-विपक्ष में सब बातें सुननी होंगी। सूचना के स्रोतों पर व्यक्ति-विशेष या गुट-विशेष का एकाधिकार नहीं होना चाहिए। लोगों को सोचने और बोलने की आज़ादी होनी चाहिए। एकतंत्रीय समाज में शासक-दल सूचना, विचारों के आदान-प्रदान और मनो-रंजन के सभी साधनों पर नियंत्रण करके जन-मत को अपने क़ब्ज़े में रखता है। वहां विरोध को चुप कर दिया जाता है और लोग वही सुनते हैं जो सरकार चाहती है। संसद् का काम है कि सामाजिक असन्तोष को दबावे नहीं बल्कि प्रकट करे। सच्चे लोकतंत्र में जिस विचार से हम घृणा करते हैं उसे भी हम सहन करते हैं, तब तक जब तक कि हमारी अपनी विचार-शक्ति उसका मुक़ाबला करने के लिए आज़ाद हो। खतरनाक विचारों को पालना अपराध

है, उन्हें प्रश्रय नहीं देना चाहिए। नास्तिकों, काफ़िरों, विरोधियों को पहिले प्राय: मार डाला जाता था। दक्षिणी फ्रांस के अल्बाइ-जेंसियनों का संहार उतना ही बर्बरतापूर्ण था जितना नाजियों के हाथ से यहूदियों का संहार। केवल हिंसा करने वाले अपराधियों का ही दमन होना चाहिए। लोग जो सोचते हैं वह उनका व्यक्तिगत मामला है; जो वे करते हैं वह जनता से सम्बन्ध रखता है।

संसद् जनता और राज्य को जोड़नेवाली कड़ी है। यह वह स्थान है जहां हमें वातावरण की गन्ध मिलती है जहां हम वातावरण पैदा करते हैं। नेता लोग जन-मत का अनुसरण मात्र नहीं करते बल्कि उसका नेतृत्व करते हैं। बर्क की एक प्रसिद्ध उक्ति है: 'आपका प्रतिनिधि न केवल अपने उद्यम के लिए बल्कि अपने निर्णय के लिए भी आपका ऋणी है; और अगर वह आपके विचार की खातिर उसे छोड़ देता है तो वह आपकी सेवा नहीं करता बल्कि आपके साथ छल करता है।' यदि हम यह सोचकर कि हमें वोट लेने हैं, जन-मत को दोहराते मात्र रहें, तो संसद् में हम जो कुछ कहेंगे वह हीन कोटि की और साधारण बात होगी। कुछ करते हुए हमें इस बात का ध्यान नहीं रखना चाहिए कि हम जनता को प्रसन्न कर रहे हैं बल्कि यह ध्यान रखना चाहिए कि हम सही चीज़ कर रहे हैं। अधिकांशत: होगा यह कि जब हम कोई ग़लत चीज़ करेंगे तो हमारी लोकप्रियता जाती रहेगी। भयानक दबाव से राजनीतिक साहस के कार्यों को प्रोत्साहन नहीं मिलता।

संसद् के सदस्यों का चुनाव सावधानी से होना चाहिए और उन्हें किसी संसद् के बारे में शिक्षा देने वाली संस्था में प्रशिक्षित करना चाहिए। प्रतिनिधि को संविधान का ठीक-ठीक ज्ञान होना चाहिए और उसके मूल सिद्धान्तों की सही समझ होनी चाहिए,

क्योंकि संविधान जनता और सरकार के बीच एक सौदा है और सब अधिकारों और कर्तव्यों का आधार है।

हमने इस अन्धविश्वास को छोड़ दिया है कि राजाओं के दैवी अधिकार होते हैं; चुने हुए प्रतिनिधियों की सरकार के भी दैवी अधिकार नहीं हैं। लोकतंत्रीय सरकार यानी बहुसंख्यकों की सरकार में गम्भीर बुराइयां आ सकती हैं। लॉर्ड ऐक्टन ने कहा था कि 'चूंकि सारी जनता की सरकार सबसे अधिक संख्या वाले और सबसे अधिक शक्तिशाली वर्ग की सरकार होती है, इसलिए उसके अन्दर भी वही बुराई है जो विशुद्ध राजतंत्र में होती है, और इस हेतु उसे ऐसी संस्थाओं की आवश्यकता होती है जिनकी मदद से वह अपनी बुराइयों के असर से बची रहे तथा क़ानून का शासन स्थायी बना रहे।' स्वस्थ लोकतंत्र के लिए विचार और भाषण की स्वतंत्रता की आवश्यकता होती है। इसका मतलब है कि हम अल्पसंख्यकों के मत का आदर करें। सच्चे लोकतंत्र में हमेशा विरोधी दल होता है। यह दल संख्या में बड़ा न हो, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि उसके अन्दर राजनीतिक बुद्धि का अभाव होता है। विरोधी दल अपनी बात को चाहे न मनवा सके, लेकिन विचार करने के लिए तो बाध्य करता ही है। विरोध को दबाने के तानाशाही तरीक़े लोकतंत्र के लिए खतरनाक हैं। सरकार विरोधियों को चुप कर सकती है लेकिन उनके अन्दर जलने वाली आग को नहीं बुझा सकती। पुराने समय में सुकरात और ईसा तथा और भी अनेकों को सुरक्षा के लिए खतरनाक समझ कर चुप कर दिया गया था। निरंकुश शासन और धर्मान्धता की शताब्दियों के बाद आज भी हम ज़हर का प्याला, क्रॉस, खम्भा, यंत्रणा-कक्ष और कंसेंट्रेशन कैम्प देखते हैं। भारत में हमने बुद्ध और अन्य विरोधियों को मारा नहीं। हमने कभी भी लोगों से यह नहीं कहा

कि या तो विरोध करना छोड़ दो या मृत्यु का आलिंगन करो। हमने लोगों को आजादी दी जो कि प्रगति का रास्ता है। दुनिया के लिए कोई भी बात इतनी खतरनाक साबित नहीं हुई जितनी यह आम धारणा कि हम हमेशा सही रास्ते पर हैं। अगर हम उनको दबाते हैं जो नये विचारों का प्रचार करते हैं और आदमी के अन्दर रहने वाली आत्मा का गला घोटते हैं, तो हम लोकतंत्र-वादी नहीं हैं। लोकतंत्र की कसौटी हमारा वह व्यवहार है जो हम विरोधियों के साथ करते हैं।

कोई सरकार लोकतंत्रीय केवल इसलिए नहीं है कि बहुसंख्यक जनता ने मत-दान से उसे शक्ति दी है। अगर जनता को केवल एक दल को वोट देने की आजादी है तो सरकार लोकतंत्रीय नहीं है। लोकतंत्र की परीक्षा यह है कि सरकार प्रजा को लोकतंत्रीय अधिकार देती है या नहीं, विरोधियों को विचार, भाषण और संगठन की आजादी देती है या नहीं। अगर कोई दल बाहरी प्रतिद्वंद्वियों को नहीं सह सकता और अपने आन्तरिक मतभेद को बर्दाश्त नहीं कर सकता, तो मताधिकार-प्राप्त जनता के द्वारा चुने हुए होने पर भी वह लोकतंत्रवादी नहीं है।

संविधान का तीसरा भाग जिसमें कि मौलिक अधिकारों की चर्चा है, कई अधिकार अथवा नागरिक स्वतंत्रताएं बताता है। ये अधिकार वे प्रतिबन्ध हैं जो नागरिकों की रक्षा के हेतु सरकार ने अपने ऊपर लगाये हैं। चूंकि स्वयं सरकार भी उनका उल्लंघन नहीं कर सकती, इसलिए हम अन्याय से बचे रहते हैं। सर्वोच्च राजनीतिक शुभ वह है जिसमें आजादी हो और वह उचित क़ानूनों के द्वारा नियंत्रित हो। अगर सब आदमियों को ये अधिकार हैं तो दूसरों के अधिकारों का आदर करना उनका कर्तव्य भी है। हमारे अधिकार वहां समाप्त हो जाते हैं जहां वे अन्यों के

अधिकारों से टकराते हैं। उदाहरण के लिए, स्वतंत्र भाषण के अधिकार में सुनने के लिए बाध्य करने का अधिकार शामिल नहीं है, क्योंकि यह दूसरों के अधिकारों में बाधा देता है।

लोकतंत्र का मतलब है शक्ति का वितरण, विकेंद्रीकरण। स्वतंत्र न्यायालय, लेखा-परीक्षण-प्रणाली और लोक-सेवा-आयोग सरकार के निरंकुश और अन्यायपूर्ण कामों पर रोक लगाते हैं। इन संस्थाओं को प्रशासकीय हस्तक्षेप या राजनीतिक दबाव से बचाने की ज़रूरत है। जनता के जीवन के मानदण्ड को उठाने का यही एकमात्र तरीक़ा है, क्योंकि अच्छे से अच्छे व्यक्ति भी शक्ति के आधिक्य से कठोर हो जाते हैं। अत्याचार एक आदत की शक्ल ले लेता है, एक रोग बन जाता है। शक्ति का केंद्रीकरण वांछनीय नहीं है।

अरस्तू ने कहा है कि समाज का उद्देश्य अच्छे जीवन का विकास करना है, किसी महान् सम्राट् की प्रशंसा करना नहीं। अच्छा जीवन निरंकुश शासक की बेहिसाब सनकों से सम्भव नहीं है; अतः शक्ति के ऊपर क़ानून की लगाम होनी चाहिए। अरस्तू ने लिखा है कि क़ानून का शासन ईश्वर और विवेक का शासन है, लेकिन आदमी के शासन में पाशविकता का अंश रहता है, चूंकि कोई भी आदमी अनियंत्रित शक्ति का स्वामी होने के योग्य नहीं है, इसलिए सामान्य बुद्धि यह कहती है कि क़ानून का शासन होना चाहिए। सिसरो ने ज़ोर देकर कहा है कि सरकार स्वेच्छाचारी शक्ति मात्र नहीं है। 'समाज एक भीड़ मात्र नहीं है जो किसी तरह से इकट्ठी हो गयी हो।' उसने कहा है कि 'वह एक इकाई है जिसकी एकता का आधार क़ानून को मानना होता है और जिसकी सुविधाओं का उपभोग सब लोग समान रूप से करते हैं।' राजनीतिक शक्ति का औचित्य यही है कि वह सार्वजनिक कल्याण की वृद्धि

करे। निरंकुश शासक बल-प्रयोग से शासन करता है, संसद् क़ानून के अनुसार शासन करती है। महान् राजनीतिक विचारक एडमण्ड बर्क ने कहा है : 'निरंकुश शक्ति के देने वाले और लेने वाले दोनों ही समान रूप से अपराधी हैं और हरेक आदमी को दुनिया में जहां भी निरंकुश शक्ति हो वहां उसका प्रतिरोध करना चाहिए। . . . यह कहना कि एक आदमी निरंकुश शक्ति का स्वामी हो सकता है राजनीति का एक दोष है।' हम न तो एक निरंकुश शासक चाहते हैं और न एक भीड़। स्पिनोज़ा के अनुसार 'सरकार का लक्ष्य आदमियों को विवेकशील प्राणियों से पशु या कठपुतली बना देना नहीं है, बल्कि यह है कि वह उन्हें सुरक्षित होकर अपने शरीर और बुद्धि का विकास करने में और बग़ैर प्रतिबन्ध के अपने विवेक का उपयोग करने में समर्थ बनावे।' वास्तव में सरकार का सच्चा लक्ष्य स्वतंत्रता है।

लोकतंत्रीय सरकार शुद्ध और कुशल शासन पर आश्रित है। सही क़िस्म के लोगों को नौकरियों में भरती करना चाहिए। सरकारी नौकरी प्राप्त करने के लिए सबको समान अवसर मिलना चाहिए और नौकरी के लिए चुनाव योग्यता पर आधारित होना चाहिए, प्रभाव पर नहीं।

× × ×

समझाना, तर्क करना और विरोधी मतों में सामंजस्य स्थापित करना ही लोकतंत्रीय प्रणाली है। मत-भेद होने की दशा में दो रुख़ अपनाये जा सकते हैं : एक है 'मेरी बात मानो या मार खाओ,' दूसरा है 'आओ, साथ बैठकर एक-दूसरे की बात समझें और तब निर्णय करें।' दूसरा रुख़ लोकतंत्र का रुख़ है। लोकतंत्र प्रेम को घृणा से, सहयोग को विरोध से और राज़ी करने को हुक्म देने से अच्छा समझता है। आज की दुनिया में हिंसा या बल-प्रयोग का

आश्रय लेना लोकतंत्रीय तरीक़ों से डरकर भागना और भविष्य के साथ विश्वासघात करना है।

हमारे सामने अनेक समस्याएं हैं। आत्मा की स्वतंत्रता, भौतिक और सामाजिक प्रतिबन्धों से मुक्ति आवश्यक है। हम भौतिक और सामाजिक बाध्यताओं से स्वयं को मुक्त कर सकते हैं और इसके लिए हमें जीवन की आर्थिक व्यवस्था को ठीक करना होगा और सामाजिक सम्बन्धों को सुधारना होगा। हमारे देश में लाखों व्यक्ति गुलामी से त्रस्त हैं जो कि ज़ंजीरों से भी अधिक क्रूर है। कभी-कभी आदमी को क्रय-विक्रय की वस्तु बना दिया जाता है। क़ानून बनाना अलग बात है और समाज के ढांचे को बदलना अलग बात। जो बेचारे ग़रीब लोग इधर-उधर घूमते हैं, काम नहीं पाते, मज़दूरी नहीं पाते, भूखे मरते हैं, जिनका जीवन अभाव, ग़रीबी और त्रास से भरा हुआ है, उनके लिए हमारे संविधान या उसके क़ानूनों का कोई मूल्य नहीं है। आज हमारी ग़रीबी शताब्दियों से संचित ग़रीबी प्रतीत होती है। जब तक हम अपने नागरिकों को ग़रीबी, भूख, बीमारी और अज्ञान से मुक्त नहीं करते, तब तक हमारा लोकतंत्र नाम भर का रहेगा। हमें समझाने-बुझाने का शान्तिपूर्ण तरीक़ा अपनाकर सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति लानी है। हमें विश्वास है कि हम तर्क, समझौते और बहुसंख्यकों के मत से अपनी सामाजिक परिस्थितियों को सुधार सकते हैं। हमारे यहां सामाजिक मेल और समझौता कराने वाली संस्थाएं होनी चाहिए। व्यापारिक संघों को राज्य के शासन नहीं होना चाहिए, लेकिन साथ ही उनको यह इजाज़त भी नहीं होनी चाहिए कि वे वर्गगत स्वार्थों को राष्ट्र के हित से अधिक महत्त्व दें। उन संस्थाओं को हटा देना चाहिए जो आर्थिक कल्याण और सामाजिक न्याय में बाधक हों।

यह सही है कि समाज को अपराध से अपनी रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि हिंसा हमेशा क़ानून के शासन के लिए खतरनाक होती है। लेकिन अपराध को मूल में ही रोकने की कोशिश करना भी जरूरी है। हमें ऐसी परिस्थितियां पैदा करनी चाहिए जिनमें स्त्री-पुरुष आत्म-विश्वास और सुरक्षा के साथ जिन्दा रह सकें, काम कर सकें और भविष्य का मुक़ाबला कर सकें।

लोकतंत्र एक नये जीवन का आमंत्रण है। जो आदर्श हम अपने सामने रख चुके हैं उनको पूरा होना चाहिए। १९४७ में जो हुआ वह एक क्रान्ति का प्रारम्भ है जिसे हमें पूरा करना है। अगर हमारा संविधान एक ऐसे सृजनशील समाज की आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं है जिसमें 'सबके स्वतंत्र विकास के लिए हरेक का स्वतंत्र विकास जरूरी होता है', तो वह छिन्न-भिन्न हो जायेगा।

लोकतंत्र के दो पहलू हैं, व्यक्ति का निर्माण और दुनिया को एक करना। एक नया समाज केवल तभी सम्भव है जब लोग स्वतंत्रता को सबसे अधिक महत्त्व दें। हम एक ऐसी नई समाज-व्यवस्था की ओर आंख लगाये हैं जिसमें व्यक्तित्व की पवित्रता का उसूल कार्य का आधार होगा, जिसमें सारी दुनिया एक सहयोगपूर्ण इकाई हो जायेगी, जिसमें हरेक आदमी को अपने पूर्ण विकास के लिए समान अवसर होगा, जिसमें दुनिया की आर्थिक सम्पत्ति का पुनर्वितरण होगा ताकि सबको समान अवसर प्राप्त हों। कई लोगों के मस्तिष्क में सम्पूर्ण मानव-जाति के समाज का उच्च आदर्श पनप रहा है। अगर एक सृजनशील समाज का, एक अविभाज्य लोकतंत्र का आदर्श कमजोर होता है, तो हमारे समाज का पतन होगा। अगर वह बना रहता है, तो हम प्रगति करेंगे। रचनात्मक लोकतंत्र की स्थापना के लिए हमें लोकतंत्रीय भावना को अपने हृदयों में विकसित करना होगा। गान्धीजी ने हमें सिखाया है कि

जनता की आत्मा में महती शक्ति होती है, उन शस्त्रों में नहीं जो लोग दूसरों को मारने में इस्तेमाल करते हैं बल्कि उनके मारने के लिए तैयार होने में। महाभारत में कहा गया है :

नैव राज्यं नरादासीन्न दण्डो न च दण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥
—शान्तिपर्व

राष्ट्र तरक्क़ी करता है, इसलिए नहीं कि उसका एक संविधान है या उसमें दण्ड है या क़ानून बनाने वाला है, बल्कि इसलिए कि उसमें लोग धर्म का अनुसरण करते हैं तथा सहयोगपूर्वक एक-दूसरे की मदद करते हैं।

२१

राष्ट्र-मण्डल के आदर्श

(डूथी हाल, सैलिसबरी में स्वागत के उत्तर में दिया गया भाषण, ४ जुलाई १९५६)

मैं सोचता हूं कि दो बातों में मेरा दुनिया के इस हिस्से से सम्बन्ध है। हम राष्ट्र-मण्डल के सदस्य हैं और दुनिया के इस हिस्से में कुछ वे लोग बसे हुए हैं जिनके पूर्वज भारतीय थे। इन दो बातों के कारण हमारा मेल है।

जब हम राष्ट्र-मण्डल की बात करते हैं तब हमें उन आदर्शों की याद आती है जो राष्ट्र-मण्डल के लोगों को एकता में आबद्ध करते हैं। जो राष्ट्र इसके सदस्य हैं वे बिल्कुल आज़ाद हैं। वे किसी एक राजा या देश के प्रति वफ़ादार नहीं हैं बल्कि कुछ आदर्शों के प्रति वफ़ादार हैं। उनमें समझौते की, आपसी सलाह-मशविरे से मामलों को सुलझाने की भावना है और वे क़ानून के सामने सभी नागरिकों को समान समझते हैं। इनमें से कुछ बातें राष्ट्र-मण्डल की प्रधान विशेषताएं हैं जो उसके विभिन्न सदस्यों को एक साथ बांधती हैं। राष्ट्र-मण्डल के प्रधान मंत्रियों के सम्मेलन में कोई भी ऐसा निर्णय स्वीकार नहीं किया जाता जो राष्ट्र-मण्डल के सदस्यों की कार्य-स्वतंत्रता को सीमित करे, फिर भी उनके वाद-विवाद उनको एक-दूसरे को अच्छी तरह समझने में मदद देते हैं।

जहां तक राष्ट्र-मण्डल के आदर्शों का सम्बन्ध है, वे राष्ट्र-मण्डल में रहने वाले सभी लोगों को, वे चाहे जहां हों, लोकतंत्र के उसूल अपनाने पर जोर देते हैं। पहिले कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ी-

लैण्ड, आयर्लैण्ड, इन यूरोपीय नस्ल के राष्ट्रों को आजादी मिली। फिर भारत, लंका, बर्मा, पाकिस्तान इन एशियाई देशों को आजादी मिली। अब अफ़्रीका में स्व-शासन प्राप्त करने की कोशिशें चल रही हैं और शीघ्र ही यह आशा की जाती है कि हम अफ़्रीका के कई देशों को राष्ट्र-मण्डल के पूरे सदस्य कह सकेंगे। यही राष्ट्र-मण्डल का उद्देश्य होना चाहिए। इससे जो लोग राष्ट्र-मण्डल में हैं उनके अन्दर मानसिक और आत्मिक सामंजस्य पैदा होगा।

हो सकता है कि इसमें कुछ दिक़्क़तें हों, लेकिन लक्ष्य बिल्कुल साफ़ है और हम सबका जो कि राष्ट्र-मण्डल में रह रहे हैं, यह कर्तव्य है कि हम उन महान् आदर्शों को पूरा करने के लिए बग़ैर रुके धीरे-धीरे काम करते रहें।

हम शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की, पंचशील के उसूल की बात करते हैं। यह केवल अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर ही असर नहीं डालता, बल्कि घरेलू सम्बन्धों पर भी, राष्ट्रीय समस्याओं पर भी इसका असर पड़ता है; और अगर उन देशों में जिनके सामने अपनी ही समस्याएं हैं शान्तिपूर्ण और सक्रिय सह-अस्तित्व की नीति का अनुसरण किया जाय, तो इसमें कोई सन्देह नहीं है कि हम अपने लक्ष्य पर पहुँच सकेंगे। लेकिन इस शान्तिपूर्ण, सक्रिय सह-अस्तित्व के लिए अधिक समझदारी और कल्पना की ज़रूरत है। जब तक हमारे अन्दर एक बिल्कुल भिन्न दृष्टिकोण का विकास नहीं होता, तब तक यह शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में काम नहीं कर सकता।

पंचशील का यही सिद्धान्त २५०० वर्ष पूर्व बुद्ध ने एक भिन्न रूप में सामने रखा था। उन्होंने कहा था कि यदि मनुष्य को मनुष्य बनना है तो उसे अधिक सहानुभूतिशील और सभ्य बनना होगा।

बुद्ध ने सबसे पहिले हमें यह उसूल दिया—हिंसा मत करो।

अहिंसा का व्रत धारण करो। सभी समस्याओं को सुलझाने में अपने तरीक़े को लोकतंत्रीय, शान्तिपूर्ण, अहिंसक बनाओ। यह पहिला उसूल है जिसके बारे में उन्होंने कहा।

दूसरा उसूल जो उन्होंने बताया यह है—लोभ मत करो। लोभ व्यक्ति के अन्दर हो सकता है और समूह के अन्दर भी। स्वार्थपरता व्यक्तिगत हो सकती है और समूहगत भी। जहां तक हो सके दूसरों की चीज़ों को मत हथियाओ।

उनका तीसरा उसूल है—आत्म-संयम करो। जब तक हम अपने ऊपर शासन नहीं कर सकते, तब तक दूसरों पर शासन करने की योग्यता नहीं आयेगी। हरेक व्यक्ति के लिए आत्म-संयम आवश्यक है। अगर हम डरते हैं, तो क्रोध भी करते हैं। क्रोध से व्यक्ति पागल हो जाता है। पागलपन में तरह-तरह के काम होते हैं। अतः अगर हम इन बातों से बचना चाहते हैं, तो हमें अवश्य ही आत्म-संयम का अभ्यास करना होगा। हमें अपने संवेगों को वश में करने में समर्थ होना चाहिए। वासनाओं का त्याग करना चाहिए। यह मुश्किल है। हम समझदार बनना चाहते हैं, लेकिन, जैसा कि इरेज्मस ने कहा था : 'ईश्वर को देखो, उसने विवेक को मस्तिष्क की कोशाओं में सीमित रखा, लेकिन वासनाओं का सारे शरीर में विस्तार कर दिया।' इस प्रकार मस्तिष्क की कोशाओं में सीमित विवेक के द्वारा वासनाओं पर नियंत्रण करना आसान बात नहीं है। इसलिए आत्म-संयम का अभ्यास करने के लिए कहा गया है।

चौथा उसूल था—असत्य का आश्रय मत लो। ऊंची शक्तियों के रोष के भय से सत्य को मत छोड़ो। अपने अन्तःकरण के अनुसार चलो। असत्य का व्यवहार मत करो।

अन्तिम उसूल था—मादक द्रव्यों का सेवन मत करो।

भावोत्तेजक भाषण बड़ी मादक चीज़ होती है। जब किसी श्रद्धास्पद चीज़ के नाम पर उनसे कोई मांग की जाती है तो लोगों के सिर फिर जाते हैं।

इस प्रकार जिन पांच उसूलों का उपदेश बुद्ध ने २५०० साल पहिले किया था वे ये हैं : हिंसा से बचो; लोभ से बचो; आत्म-संयम करो; असत्य का आश्रय मत लो; मादक चीज़ों का सेवन छोड़ो। उन्होंने कहा कि व्यक्ति के पुर्नानिर्माण के लिए ये जो पंचशील हैं इनका पालन करने से आदमी सच्चे अर्थ में आदमी बन जाता है, उसके संवेगों का परिष्कार हो जाता है और वह सभ्य बन जाता है। जब तक व्यक्ति का पुर्नानिर्माण नहीं होता तब तक समाज का पुन-र्निर्माण भी नहीं हो सकता।

प्लैटो ने कहा था कि संविधान लोगों की प्रवृत्तियों को प्रकट करता है। जब तक हम आदमियों की प्रवृत्तियों को नहीं बदलते, तब तक हम संविधान को भी नहीं बदल पायेंगे। संविधान के बन जाने पर भी हम उसके अनुसार काम नहीं कर पायेंगे; हम उसके साथ छल करने के लिए दलीलों का सहारा लेंगे। इस दुनिया में, जो कि दिन-ब-दिन छोटी होती जा रही है, हमारे लिए हृदय और मन को विशाल बनाना ज़रूरी है। हमें अपनी कल्पना को विस्तृत करना होगा, अपनी सहानुभूति को फैलाना होगा, अन्य मनुष्यों को, चाहे वे भाग्यहीन, ग़रीब, बीमार और अशिक्षित हों, अपना भाई समझना होगा—हमें उन्हें गौरव देना होगा, उनकी स्थिति में सुधार करना होगा।

इसलिए जब हम राष्ट्र-मण्डल की बात करते हैं तब हमारा मतलब कुछ आदर्शों को मानने से होता है। ये आदर्श राष्ट्र-मण्डल की आत्मा हैं, उसके आधार हैं, ऐसे मूल्य हैं जिनके बिना राष्ट्र-मण्डल लुप्त हो जायेगा।

हम जिन्दा हैं, इसलिए नहीं कि हम पार्थिव वस्तुओं के स्वामी हैं बल्कि इसलिए कि हमारे कुछ प्रिय आदर्श हैं, और जब हम अपने को राष्ट्र-मण्डल के सदस्य बतलाते हैं तब हमारे लिए यह ज़रूरी हो जाता है कि हम कुछ आधारभूत मूल्यों को स्वीकार करें और दैनिक जीवन में उनका आचरण करें।

दूसरी बात जिसका मैंने उल्लेख किया था यह थी कि यहां कुछ ऐसे लोग बसे हुए हैं जिनके पूर्वज भारतीय थे। मैं यह कहने का साहस कर रहा हूं कि वे अपना काम काफ़ी अच्छी तरह से कर रहे हैं, लेकिन उनके लिए यह ज़रूरी है कि वे स्वयं को इस समाज के, जिसमें वे रह रहे हैं और जीविका कमा रहे हैं, सदस्य समझें। यहां जब दल बनें तो वे यथासम्भव राजनीतिक उसूलों के आधार पर बनें, जाति-गत सम्बन्धों के आधार पर नहीं। यहां हम सब एक समाज के सदस्य हैं और हमें इस समाज के सभी लोगों की उन्नति और समृद्धि के लिए सचेष्ट होना चाहिए। इसका मतलब यह नहीं है कि आप अपनी संस्कृति या विरासत में कोई रुचि न लें। भारत एक भूखण्ड का नाम नहीं---यह एक जीवित भावना का नाम है। भारत कुछ आदर्शों का समर्थक है। वह हमें सिखाता है कि यह देशकालमय विश्व ही सब कुछ नहीं है; यह ऐसी चीज़ है जो निरन्तर अपने को पीछे छोड़ रही है। जो भारत के झंडे को देखेगा उसे उसमें घूमता हुआ काल-चक्र दिखायी देगा जिसका मतलब यह है कि यहां कुछ भी स्थिर नहीं है, सब कुछ गतिमान् है। एक चीज़ के बाद दूसरी चीज़ उत्पन्न होती रहती है। बीच में आपको जो चक्र दिखायी देता है वह विश्व के परिवर्तन का प्रतीक है। इसका नीला रंग आकाश और समुद्र का प्रतीक है। क्या यह समय-चक्र स्वयं चलता रहता है? नहीं; इसका आधार एक विशाल, शाश्वत पृष्ठभूमि है जिसके स्वरूप की हम किसी संप्रदाय या धर्म-विशेष के अनुसार व्याख्या

करना नहीं चाहते। इसको हमने श्वेत वर्ण दिया है जो कि शेली के शब्दों में 'शाश्वत की श्वेत दीप्ति' है। यदि संसार-प्रक्रिया एक अनन्त गति है, यदि वह एक शाश्वत पृष्ठभूमि पर आधारित है, तो श्वेत वर्ण बताता है कि 'शाश्वत की व्याख्या के बारे में झगड़ो नहीं।' ऐसा मत सोचो कि तुम्हें सत्य प्राप्त हो गया है। सत्य एक अनन्त खोज है। धर्म सत्य को खोजने का हमेशा प्रयत्न करता रहेगा, इसलिए हमारा सत्य की प्राप्ति का दावा ग़लत है। हम सब यात्री हैं और यह नहीं कहा जा सकता कि किसी ने सत्य को पकड़ लिया है। शाश्वत आत्मा अपनी लड़खड़ाती हुई व्याख्याओं से ऊंचा है। श्वेत पृष्ठभूमि उस आधारभूत सत्य का प्रतीक है। धर्मों की विविधता को देखकर हमें आश्चर्य होता है, लेकिन यदि हम उनके लक्ष्य पर ध्यान दें, तो इस बारे में वे एक मालूम पड़ेंगे। पृष्ठभूमि को श्वेत बनाकर हम यह सूचित करते हैं कि आदमी का अस्तित्व किसी और चीज़ के लिए है जो पार्थिव जीवन से बढ़कर है। हमारा एक उच्चतर उद्देश्य है। आदमी का जीवन उत्पत्ति, विकास, संभोग, सन्तानोत्पादन और मृत्यु, पशु-जीवन की इन क्रमिक स्थितियों को दोहराना मात्र नहीं है। आदमी एक अन्य काम को करने के लिए पैदा हुआ है। शाश्वत का ध्यान करते हुए इस दुनिया में हम कैसे रहें? सबसे ऊपर हमने नारंगी रंग रखा है; यह रंग त्याग का प्रतीक है। कष्ट, तपस्या और साधना का मार्ग ही हमें अपने लक्ष्य पर पहुँचायेगा। यह मार्ग दुनिया से पलायन करने का नहीं है बल्कि यह पृथ्वी पर स्वर्ग का निर्माण करने का मार्ग है। सबसे नीचे जो हरा रंग है वह यह सूचित करता है कि ध्यान और साधना के फलों को कार्य में लगाना है। संसार एक गतिशील प्रक्रिया है। इसका आधार एक शाश्वत पृष्ठभूमि है। मनुष्य साधना और कष्ट से सत्य को प्राप्त

कर सकता है। यदि वह इसमें सफल होता है तो यह संसार एक हरा-भरा बाग़ बन जायेगा।

यही हमारी विरासत है। यह सार्वभौम है। इसका कोई महत्त्व नहीं है कि आप इस देश में रहते हैं या किसी दूसरे देश में। महत्त्व इस बात का है कि आप इन मूल्यों को स्वीकार करते हों। कहीं भी रहते हुए आप इन्हें स्वीकार कर सकते हैं, और अगर आप अपने दैनिक जीवन में इन मूल्यों को उतार सकते हैं, तो यह आपकी दुनिया को और इस देश के लोगों के जीवन, प्रगति और समृद्धि को बहुत बड़ी देन होगी।

२२

भारतीय प्रगति

(संयुक्त-राज्य, अमेरिका के सीनेट में
१७ नवम्बर १९५४)

इस विश्व-विख्यात सभा के सदस्यों के सामने भाषण करने का मुझे यह जो अवसर मिला है इसे मैं अपना बड़ा सम्मान समझता हूं।

जैसा कि अभी आपके उपराष्ट्रपति महोदय ने कहा है, हमने आपके संविधान से बहुत सी बातें ग्रहण की हैं। इनमें से एक यह है कि भारत का उपराष्ट्रपति राज्य-सभा का जो आपके सीनेट के समकक्ष है, सभापतित्व करता है। वास्तव में एक यही नहीं बल्कि अनेक अन्य बातें भी हमने आपके संविधान से ली हैं। उनमें हमारा न्याय, स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृभाव, इन उद्देश्यों का कथन भी है। यह कथन स्वतंत्रता के घोषणा-पत्र में जेफ़रसन के जो निम्नलिखित शब्द हैं उनको प्रतिध्वनित करता है :

> सब मनुष्यों को ईश्वर ने समान बनाया है; और उनको कुछ अधिकार दिये हैं जिन्हें वापस नहीं लिया जा सकता; इन अधिकारों में से कुछ हैं जीवित रहने, स्वतंत्र रहने और सुखी बनने के अधिकार।

ये शब्द केवल प्रचार के उद्देश्य से नहीं कहे गये हैं बल्कि एक गहरी आस्था की उपज हैं और इन्होंने [illegible] में बाहर और भीतर लाखों लोगों को प्रेरणा दी है।

हम भारतीय लोग अगस्त १९४७ में आजाद हुए थे। हमें स्वतंत्रता के संग्राम के दिनों में आपकी सरकार और जनता से जो

सहानुभूति और सहायता प्राप्त हुई उसको हम धन्यवाद के साथ स्मरण करते हैं।

जब हमें शक्ति हस्तान्तरित की गयी तब बहुत से लोगों का विचार था कि हम एकता क़ायम नहीं रख सकेंगे, कि हमारा शासन-प्रबन्ध छिन्न-भिन्न हो जायेगा, कि देश में अव्यवस्था होने के साथ-साथ क़ानून को कोई नहीं मानेगा और जीवन और सम्पत्ति की कोई सुरक्षा नहीं रहेगी। लेकिन अब ये सन्देह दूर हो गये हैं। हम देश की एकता को बनाये रखने में सफल हुए हैं। शासन-प्रबन्ध पहिले की तरह सुचारु रूप से चल रहा है। क़ानून और व्यवस्था पहिले की तरह है। देश का कोई भी हिस्सा ऐसा नहीं है जहां सरकार का आदेश न माना जाता हो। विदेशी लोग हमारे यहां घूमने आते हैं और जीवन और सम्पत्ति का कोई खतरा लिये बिना वे जहां चाहें वहां घूम सकते हैं।

लेकिन ये सन्देह उस कार्य की विशालता मात्र को प्रदर्शित करते हैं जो हमारे देश को करना है। हमारी आबादी छत्तीस करोड़ है और मतदाताओं की संख्या १७ करोड़ है जिनमें से केवल १० करोड़ ६० लाख लोगों ने पिछले आम चुनाव में भाग लिया। इससे आपको हमारे देश के सामने जो कार्य है उसकी विशालता का आभास मिल जायेगा। हम जानते हैं कि जो लोग लोकतंत्र के इस प्रयोग में रुचि रखते हैं वे भारत में एक महान् लोकतंत्र का विकास करने में हमें अधिक से अधिक सहानुभूति और सद्भाव प्रदान करेंगे।

हम समझते हैं कि राजनीतिक स्वतंत्रता स्वयं साध्य नहीं है। वह तो सामाजिक समानता और आर्थिक न्याय का साधन है। जेफ़रसन ने अपने अन्तिम पत्र में लिखा था :

मनुष्य-जाति अपनी पीठ के ऊपर काठी रखकर पैदा नहीं हुई और न कुछ ईश्वर के कृपा-पात्र लोग सवार की पोशाक में जायज़ तरीक़े से उस पर सवारी करने के लिए पैदा हुए।

सरकार का लक्ष्य आम लोगों को सामाजिक समानता का दर्जा देना और आर्थिक अवसर प्रदान करना है। हम अपने देश में एक सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति लाने के प्रयत्न में लगे हैं। 'क्रान्ति' शब्द से हमें डरने की ज़रूरत नहीं है। इसका मतलब घेरा बांधना या रक्तपात नहीं है। इसका मतलब केवल तेजी के साथ बड़े-बड़े परिवर्तन करना है। हम न केवल अपने उद्देश्यों में बल्कि अपने साधनों में भी रुचि रखते हैं; न केवल 'क्या करना है' में बल्कि 'कैसे करना है' में भी रुचि रखते हैं। हमने शान्तिपूर्ण और वैधानिक तरीक़ों से आज़ादी हासिल की और अपने देश को संगठित किया, और अब हम अपने लोगों के आर्थिक स्तर को ऊंचा उठा रहे हैं। अगर ये तरीक़े मन्दगामी और उलझे हुए भी हों—हम आशा करते हैं कि वे द्रुतगामी और प्रभावशाली होंगे—अगर हम बल-प्रयोग और शक्ति की राजनीति के स्थान पर समझाने-बुझाने के तरीक़े और भाई-चारे की राजनीति को प्रतिष्ठित करने में असफल भी हो जायं, तब भी हम विश्वास करते हैं कि यह असफलता अस्थायी मात्र होगी, क्योंकि अच्छाई की जड़ें चीज़ों की प्रकृति के अन्दर हैं; दया और प्रेम उतने ही संक्रामक हैं जितनी क्रूरता और घृणा।

हमारी भूतकाल की परम्पराएं और हमारा पिछले दिनों का इतिहास यह प्रमाणित करते हैं कि शान्तिपूर्ण तरीक़ों से स्थायी परिणाम प्राप्त होते हैं। हमें समस्याओं को तलवार से नहीं सुलझाना है, लेकिन धैर्य के साथ उन्हें सुलझाना अवश्य है। हम महसूस करते हैं कि इस अणु-युग में धैर्य और औचित्य का बोध खोना अगर ख़तरनाक नहीं है तो मूर्खता तो है ही।

कोई भी समाज गतिहीन नहीं है; कोई भी क़ानून अपरिवर्तनशील नहीं है; और कोई भी संविधान स्थायी नहीं है। अगर समय हो और धैर्य हो तो मानवीय प्रकृति में और मानवीय प्रकृति

को प्रतिबिम्बित करने वाली समाज-व्यवस्थाओं में आधारभूत परिवर्तन किये जा सकते हैं।

जब मेरी सरकार ने मुझसे आपको (उपराष्ट्रपति को) यह हथौड़ा भेंट देने के लिए कहा तो मैंने इस सम्बन्ध में कुछ किताबें देखीं। 'फ़्रीमैसंस मोनिटर' में यह उल्लेख है :

> साधारण हथौड़ा मिस्त्री का हथियार है जिसे वह टेढ़े-मेढ़े पत्थरों के कोने तोड़ने में इस्तेमाल करता है ताकि वे भवन-निर्माण के लिए उपयुक्त बन सकें; लेकिन हमको अपने मन और अन्तःकरणों को दोषमुक्त करने के ऊंचे उद्देश्य के लिए इसका इस्तेमाल सिखाया गया है।

मिस्त्री लोग गोल किनारों को तोड़ने के लिए हथौड़े का इस्तेमाल करते हैं। टेढ़े-मेढ़े पत्थर से मूर्ति का निर्माण करने में हथौड़े का इस्तेमाल होता है। मानवीय प्रकृति कच्ची सामग्री है। अभी वह बग़ैर सँवारी हुई और अपूर्ण है। मानवीय प्रकृति का पुनर्गठन करने के लिए इस हथौड़े का इस्तेमाल किया जा रहा है। इसका उद्देश्य अच्छे, प्रशिक्षित और अनुशासन-प्रिय लोगों को तैयार करना है।

मैं भारत के अल्पवयस्क लोकतंत्र और राज्य-सभा की ओर से हर्ष और गौरव के साथ आपको (उपराष्ट्रपति को) यह हथौड़ा भेंट करता हूं और आशा करता हूं कि इस सीनेट के विधान-निर्माता सभी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर शान्ति और संयम के साथ, भावना और पूर्वाग्रहों को छोड़कर, अपनी महान् जनता और मनुष्य-जाति की सेवा के महान् उद्देश्य से प्रेरित होकर विचार करेंगे। मेरी कामना है कि यह हथौड़ा हमारे दो देशों की मैत्री को बढ़ाने का और हमारे दो राष्ट्रों के मध्य सहयोग और समझौता बढ़ाने का प्रतीक हो।

भारत और हिन्देशिया : १

(हिन्देशिया के उप-राष्ट्रपति डॉ० हट्टा के आगमन के अवसर पर दिया गया भाषण, १५ नवम्बर १९५५)

शताब्दियों तक हमारे दो देशों के लक्ष्य और आदर्श एक समान रहे हैं। आपके नाम हमें उन पुराने दिनों की याद दिलाते हैं। आपका संगीत और नृत्य, आपके ग्रामीण त्यौहार जिन कथा-कहानियों को व्यक्त करते हैं वे हमारी परिचित हैं। आपके वायुयान का नाम 'गरुड़' है जो कि हमारे बहुत पुराने सम्बन्धों को सूचित करता है।

हमारा पिछले कुछ दिनों का इतिहास बहुत कुछ समान है। वर्षों तक संघर्ष करने के बाद हमको आजादी मिली है। यह हमारी प्रगति में एक चरण मात्र है, अपने भविष्य को सुधारने और एक नये समाज का निर्माण करने का एक अवसर है। गान्धीजी ने कहा था हम भारत की करोड़ों जनता को आज़ादी दिलाना चाहते हैं इसलिए कि उन्हें भोजन, कपड़े और घर प्राप्त हों और सबसे ज्यादा इसलिए कि उन्हें मानवीय गौरव और आत्म-सम्मान की शिक्षा मिले। हमारे देश की तरह हिन्देशिया भी तेल, सोना, रबड़, टीन, मसाला और शक्कर इत्यादि प्राकृतिक सम्पत्ति से सम्पन्न है। फिर भी हमारे लोग ग़रीब और पिछड़े हुए हैं। इसका कारण [illegible] और औद्योगिक तरक्की में पीछे रह जाना है और [illegible] की कोशिश कर रहे हैं।

एक नये समाज का निर्माण करने में हम एक ही आदर्शों से प्रेरित हैं। आपका पंचशील राष्ट्रीय संगठन, राष्ट्रों की परस्पर-

निर्भरता, जनता की सम्मति से शासन, सामाजिक न्याय, ईश्वर में आस्था और धार्मिक उपासना की स्वतंत्रता पर जोर देता है। उद्देश्यों की घोषणा या क़ानून के परिवर्तन से सामाजिक ढांचे का परिवर्तन नहीं हो जाता। इसके लिए संकल्प और नियमित प्रयत्न की ज़रूरत होती है।

हम अपने लक्ष्य पर केवल तभी पहुँच सकते हैं जब दुनिया युद्ध के भय से मुक्त हो। अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर हमारे प्रयत्नों का लक्ष्य शान्ति क़ायम रखना और उपनिवेशवाद, जाति-भेद तथा आर्थिक शोषण को हटाना है जो कि शान्ति के लिए आवश्यक है। अनेकता में एकता का उसूल आपके देश का नीति-वाक्य है और हम इसमें दृढ़ आस्था रखते हुए कोलम्बो, बोगोर, बाण्डुंग और न्यूयार्क सब जगह उक्त लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सहयोग कर रहे हैं। अनेकता में एकता का उसूल सह-अस्तित्व का आधार है और हमें शान्ति के साथ-साथ रहने के लिए कहता है। अगर हम इस अशान्त दुनिया में इस या उस पक्ष का साथ देने से इंकार करते हैं तो इसका कारण यह है कि हम पक्के विश्वास के साथ गुटबन्दी की राजनीति को मनुष्य-जाति के लिए अमंगलकारी समझते हैं और वर्तमान-काल में तो जबकि दुनिया छोटी होती जा रही है और आणविक शक्ति का विकास हो रहा है, वह विनाशकारी ही सिद्ध होगी।

आपके देश में एशिया और अफ़्रीका के आज़ाद लोगों का एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सम्मेलन हुआ है। भूतकाल में वे सब अवनति और गुलामी में रहे और भविष्य में वे गौरव, आत्म-सम्मान, स्वतंत्रता और शान्ति चाहते हैं। उक्त सम्मेलन एक चाय-पार्टी मात्र नहीं रहा बल्कि एशिया और अफ़्रीका के लोगों के आज़ादी, समानता, न्याय और शान्ति के लिए संगठित प्रयत्न का सूचक बना। जितने भी लोग बाण्डुंग-सम्मेलन में शामिल हुए वे सब न केवल आपके उदारता-

पूर्ण अतिथि-सत्कार के लिए बल्कि आपके मार्ग-प्रदर्शन के लिए भी आपके आभारी हैं।

अगर हम यह चाहते हैं कि बाहरी दुनिया में भी हमारी आवाज़ सुनायी दे तो हमें अपनी सीमाओं के अन्दर शान्ति क़ायम करनी होगी। हमें न केवल भौतिक चीज़ों से बल्कि बौद्धिक मूल्यों से भी अपने जीवन को समृद्ध बनाना होगा। हमें लोगों को एक साथ मिलकर अपने जीवन को उन्नत बनाने की प्रेरणा देनी चाहिए। दुनिया की आंखें हमारे ऊपर लगी हुई हैं और यह देख रही हैं कि हम अन्ध-विश्वास, प्रादेशिकता, मन की संकीर्णता और असहिष्णुता, जो कि उन्नति के मार्ग की बाधाएं हैं, को चुनौती देने, प्रतिरोध करने और दूर हटाने की शक्ति और साहस रखते हैं या नहीं। अगर हम इन बाधाओं के सामने झुक जाते हैं या उनसे सुलह कर लेते हैं तो हमारा राष्ट्र तरक़्क़ी नहीं कर सकता।

हमारे प्रयत्नों की सफलता नेतृत्व पर निर्भर है। एक महान् नेता अपने लोगों में उस आग को पैदा कर देता है जो उसके अन्दर जलती रहती है और वह राष्ट्र की बढ़ती हुई भावना को समझता है। सौभाग्य की बात है कि हिन्देशिया में योग्य, दृढ़संकल्प और निःस्वार्थ नेता मौजूद हैं। आपने हिन्देशिया के लोगों का प्रेम और हम सबकी श्रद्धा जीत ली है। मैं आशा करता हूं कि आपका देश आपके महान् नेतृत्व से अनेक वर्षों तक लाभ उठाता रहेगा।

२४

भारत और हिन्देशिया : २

(जकार्ता रेडियो से प्रसारित, २९ सितम्बर १९५६)

हम हिन्देशिया और भारत के लोग समान स्रोतों से प्रेरणा लेते हैं। आपकी प्रागैतिहासिक संस्कृति हिन्दू, बौद्ध और मुस्लिम विचार-धाराओं से बहुत प्रभावित हुई है। आपके जीवन, विचारों और कला पर इन बड़ी-बड़ी लहरों का प्रभाव प्रकट होता है। फिर भी इनसे प्रभाव लेकर आपने एक विशिष्ट हिन्देशियाई संस्कृति का विकास किया है जो दूसरों से पृथक्, रोचक और आकर्षक है।

इसके अलावा जो लोग हाल में विदेशियों की ग़ुलामी में जकड़े रहे और अभी उससे मुक्त हुए हैं उन सब में एक विशेष एकता है। आपकी स्वतंत्रता-प्राप्ति से और जिस तरीक़े से आप आज़ादी के लिए लड़ने वाले अन्य राष्ट्रों की मदद करते रहे हैं उससे हमें अत्यन्त हर्ष है। सितम्बर १९५० से जब आपका गणतंत्र संयुक्त-राष्ट्र-संघ का पूरा सदस्य बना, भारत और हिन्देशिया उन लोगों को आज़ादी दिलाने के लिए साथ-साथ काम कर रहे हैं जो विदेशियों के उपनिवेश बने हुए हैं। अप्रैल १९५५ के बाण्डुंग-सम्मेलन में दुनिया की आधी से ज्यादा आबादी का प्रतिनिधित्व करने वाले उन्तीस राष्ट्रों के नेता आपस में मिले और उन्होंने उपनिवेशवाद और उसके सभी रूपों के ख़िलाफ़ निर्णय किया।

हमारे संविधान और आपके पंचशील में बहुत समानताएं हैं : (१) ईश्वर, (२) राष्ट्रीयता, (३) लोकतंत्र, (४) सामाजिक न्याय और (५) मानवता में विश्वास।

आपका पहिला उसूल ईश्वर में विश्वास करना है। अपने देश के पुर्ननिर्माण के कार्य में आप यह स्वीकार करते हैं कि जो नियम भौतिक जगत् पर शासन करते हैं उनसे भिन्न नियमों का भी अस्तित्व है। अपने राष्ट्र के विकास के लिए आप जो काम कर रहे हैं उसे आप धार्मिक काम मानते हैं। यह काम ईश्वर ने आपको सौंपा है और आप इसे विनय और त्याग की भावना से पूरा करना चाहते हैं। आप ईश्वर में विश्वास करते हैं जो कि एक है और सारे जगत् का ईश्वर है। वह न हिन्दुओं का ईश्वर है, न मुसल्मानों का और न ईसाइयों का बल्कि सारे विश्व का स्वामी है जिसे अलग-अलग लोग अलग-अलग तरीक़ों से पूजते हैं। आपके यहां लोगों को विश्वास और व्यवहार की आज़ादी है। यहां मुसल्माल और ईसाई, हिन्दू और बौद्ध शान्ति और मित्रता के साथ एक साथ रह रहे हैं। यहां के सब नागरिकों को ईश्वर की मौजूदगी महसूस करनी चाहिए और उससे प्रेरणा लेनी चाहिए, इस भूमि को पवित्र समझना चाहिए और अपने काम को पवित्र कर्तव्य मानना चाहिए। अपने कर्तव्य को करते हुए फल को हमें परमात्मा के ऊपर छोड़ देना चाहिए।

आपका राष्ट्रीयता का उसूल आक्रामक नहीं है। इससे आप बाहरी विघ्नों को हटाते हुए अपने देश का संगठन करने का और उसके भविष्य को बनाने का प्रयत्न करते हैं। आप अलग-अलग द्वीपों में बिखरे हुए हिन्देशिया के लोगों के अन्दर राष्ट्रीयता की, एकता की, एक समष्टि के अंग होने की भावना पैदा करना चाहते हैं। आप अपने देश को एक बनाना चाहते हैं और निभिन्न लोगों, भाषाओं, प्रथाओं तथा सांस्कृतिक स्तरों में सामंजस्य पैदा करना चाहते हैं। भूतकाल में इन विषमताओं से लाभ उठाकर आपको गुलामी में रखा गया था। अनेकता का मतलब एकता का अभाव

या असामंजस्य होना ज़रूरी नहीं है। लोगों को यह सिखाना चाहिए कि वे अपने को इस महान् राज्य के नागरिक महसूस करें और उन्हें सबके हित के लिए, राष्ट्र के कल्याण के लिए मिलकर काम करना चाहिए। लोगों को एक स्थान-विशेष में रहते हुए भी राष्ट्र के प्रति अपने उत्तरदायित्वों को निभाना चाहिए।

आपने अनेकता में एकता का उसूल अपनाया है। प्राचीन यूनानी विभिन्न नस्लों के मिले-जुले लोग थे। उनके अन्दर क्रीट, मिस्र, फिनीसिया, बेबीलोनिया, लीडिया और अन्य देशों के तत्त्व थे। अंग्रेज़ लोग एक नस्ल के नहीं हैं और उनकी सांस्कृतिक परम्परा में अनेक विजातीय तत्त्व मौजूद हैं। वे अपनी बौद्धिक छानबीन की आदत के लिए यूनानियों के, एक ईश्वर में विश्वास और सामाजिक न्याय के प्रेम के लिए यहूदियों के, अपने क़ानून के प्रेम के लिए रोमनों के, निष्पक्षता के लिए सैक्सनों के और व्यवस्था-प्रेम के लिए नौर्मनों के ऋणी हैं। हरेक अंग्रेज़ के स्वभाव में इनमें से कुछ बातें प्रवेश कर गयी हैं और वे उसकी विरासत के अंश हैं। भारतीय संस्कृति की ही बात लीजिये। उसमें आर्य और द्रविड़, हिन्दू और बौद्ध, मुस्लिम और ईसाई संस्कृतियों के चिह्न मौजूद हैं। हमें दुनिया के सब भागों से आने वाली सब आवाज़ों को सुनना चाहिए लेकिन बोलना अपनी ही आवाज़ से चाहिए। हमें स्वयं अपने चरित्र को जांचना और प्रकट करना चाहिए। नक़ल करते हुए भी हमें स्वतंत्र सृजनशीलता नहीं छोड़नी चाहिए।

स्वतंत्रता केवल लोकतंत्रीय समाज में ही सम्भव है। दुर्भाग्य से व्यक्तिगत आज़ादी की भावना पतनोन्मुख दिखायी देती है। हममें से अनेक प्रणालियों के ग़ुलाम, कट्टरताओं के शिकार और संगठनों के क़ैदी हो गये हैं। गुमनाम समूह आदमी की आत्मा के ऊपर क़ब्ज़ा किये हैं। लोकतंत्र यह घोषणा करता है कि हरेक आदमी

के अन्दर एक ज्योति निवास करती है और आदमी को अपना जीवन इसी ज्योति के दिखाये हुए रास्ते पर चलते हुए बिताना चाहिए। इस्लाम बताता है कि आदमी को अपने और ईश्वर के मध्य किसी पुरोहित की आवश्यकता नहीं है। इससे हरेक इंसान के अन्दर इंसान के बुनियादी गौरव की भावना पैदा होती है। लोकतंत्र का मतलब है सब लोगों के लिए समान अवसर। गुप्त मत-दान, समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता, तथा धार्मिक विश्वास और आचार की स्वतंत्रता इसके प्रकाशन हैं। लोगों की इच्छा की जानकारी शान्तिपूर्ण लोकतंत्रीय तरीक़ों से करनी चाहिए।

राजनीतिक हिंसा लोकतंत्र के विरुद्ध है। इसका मतलब है लोकतंत्र की उपेक्षा करना, उससे भाग जाना। हममें से हरेक के अन्दर भविष्य का निर्माण करने की कुछ शक्ति मौजूद है। हमें अपने काम और मेहनत से, अपने पसीने और प्रयत्न से समाज की तरक़्क़ी में अंशदान करना चाहिए। इस समय जबकि जीवन की कई अच्छाइयां ख़तरे में हैं, हमें मानवीय आत्मा की स्वतंत्रता पर ज़ोर देना चाहिए। लोकतंत्र का मतलब है संयम, अनुशासन। हमें स्वार्थ को सार्वजनिक हित से नीचे रखना चाहिए। गन्दी सरकार और विभाजित नेतृत्व से अस्थिरता पैदा होती है। आपका भविष्य सुरक्षित है बशर्ते कि आपकी सरकार ईमानदार, कुशल और देश-भक्त हो।

जब तक निरक्षरता, बीमारी, बौद्धिक गुलामी और आध्यात्मिक दासता मौजूद है तब तक सच्ची आज़ादी नहीं है। हमें मानव-जीवन की इन बाधाओं को हटाना चाहिए और लोगों के जीवन के स्तर को ऊंचा करना चाहिए। उन्नतिशील देश समृद्ध और शक्ति-शाली इसलिए बने हैं कि वे विज्ञान और उद्योग-धन्धों में आगे बढ़े हुए हैं। ग़रीबी प्रकृति का नियम या ईश्वर की इच्छा नहीं है।

हमें उन सब बातों को सीखना चाहिए जो जीवन की भौतिक परि-स्थितियों को सुधारने और दुनिया को अभावों से मुक्त करने के लिए आवश्यक हैं। हम परिणाम देखते हैं विचार-धाराएं नहीं। समाजवाद लोकतंत्र का ही क्रियात्मक रूप है। सर्वहितकारी राज्य में शारीरिक स्वास्थ्य, सामाजिक सुरक्षा और सांस्कृतिक प्रगति को दैवयोग पर नहीं छोड़ना चाहिए। ये सरकार की ज़िम्मेदारियां हैं। हमें यह कोशिश करनी चाहिए कि लोग हमारे प्राचीन स्मारकों को देखने के लिए नहीं बल्कि हमारी वर्तमान उपलब्धियों को देखने के लिए आवें। लोग हमको पुरातत्त्व या अजायबघर की चीज़ें न समझें। समय स्थिर नहीं रहता और हमें अपने को आधुनिक बनाना है।

वैज्ञानिक और औद्योगिक विकास तथा राष्ट्रों की बढ़ती हुई परस्पर-निर्भरता के कारण हम एक ऐसी विश्व-व्यवस्था की दिशा में आगे बढ़ रहे हैं जिसमें सब आज़ाद होंगे, अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े शान्तिपूर्ण तरीक़े से सुलझाये जायेंगे और व्यक्तिगत स्वतंत्रता रहेगी। भारत और हिन्देशिया आज़ादी और उपनिवेशवाद, शान्ति और युद्ध, लोकतंत्र और तानाशाही के मामलों में तटस्थ नहीं हैं।

हमें पक्का यक़ीन है कि आज की परिस्थिति में जो भी युद्ध होगा वह मानव-जाति के लिए घातक होगा। हमारा विश्वास है कि आज़ादी और शान्ति अवियोज्य हैं। चूंकि हम युद्ध से बचना चाहते हैं और चूंकि शान्ति केवल न्याय पर ही आधारित हो सकती है, इसलिए हम सभी गुलाम देशों की आज़ादी चाहते हैं। हम न केवल अपनी बल्कि सभी की आज़ादी चाहते हैं। मानवीय विकास का अन्तिम लक्ष्य मानव-जाति का सुखी होना है। हम एक ऐसे मानव-समाज की स्थापना के लिए वचनबद्ध हैं जिसमें जाति या रंग का

भेद-भाव न हो। हम एक ऐसी बिरादरी के लिए काम करना चाहते हैं जो सच्ची हो, जिसमें सब शामिल हों, जो आर्थिक सम्पन्नता, सामाजिक सुख और सांस्कृतिक महत्ता पर आधारित हो। हम राष्ट्रों की एक ऐसी साझेदारी में विश्वास करते हैं जिसमें झगड़े बल-प्रयोग से नहीं बल्कि सुलह से, हिंसा से नहीं बल्कि समझौते से निबटाये जायं।

सभी बुनियादी बातों में, घरेलू नीति और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में हम समान रूप से सोचते हैं। राजनीतिक जीवन और व्यवहार में एक ही उसूल हमें रास्ता दिखाते हैं। हम विश्व के मामलों में स्वाभाविक हिस्सेदार हैं। साथ-साथ काम करते हुए हम एक-दूसरे की मदद कर सकते हैं और मानवता की तरक़्क़ी कर सकते हैं। हिन्देशियाई गणतंत्र दीर्घजीवी हो। आपका राष्ट्रीय प्रतीक गरुड़ आपको तेजी और सुरक्षा के साथ आप के लक्ष्य पर पहुँचावे।

२५

भारत और चीन

(चीनी गणतंत्र की उपाध्यक्षा श्रीमती सूंग चिंग-लिंग के आगमन पर दिया गया भाषण, १७ दिसम्बर १९५५)

दुनिया के इतिहास में एक बड़ी उल्लेखनीय बात यह है कि हमारे दो देशों के बीच शताब्दियों से शान्तिपूर्ण सहयोग के सम्बन्ध चले आ रहे हैं। हमारे दो राष्ट्रों के साहित्य और कला पर एक-दूसरे का प्रभाव पड़ा है और उस प्रभाव के चिह्न अब भी बाक़ी हैं। हमारी संस्कृतियों का परस्पर मिश्रण हुआ है, हमारा पारस्परिक व्यापार बढ़ा है, हमने एक-दूसरे का सम्मान किया है और हमारे बीच कभी भी युद्ध नहीं हुआ। हमने बहुत समय तक एक क़ीमती और अपूर्व चीज़ का निर्माण किया है।

यद्यपि कुछ शताब्दियों तक हमारे दो देशों के बीच आदान-प्रदान नहीं रहा, तथापि अब आदान-प्रदान पुनः होने लगा है। हम अनेक उतार-चढ़ावों में से गुज़रे हैं और अब अपने भविष्य का निर्माण करने की शक्ति प्राप्त कर चुके हैं और हमारी समस्याएं आपही की जैसी हैं।

हमारी सम्माननीय अतिथि श्रीमती सूंग अपने जीवन के कई वर्षों तक सनयात-सेन के साथ काम कर चुकी हैं जिनका नाम हाल के चीनी इतिहास में श्रद्धा के साथ लिया जाता है। सनयात-सेन ने १९११ में चीन को मंचू-शासन से मुक्त करने में मदद दी थी और राष्ट्रवाद, लोकतंत्र और समाजवाद के तीन लक्ष्यों को सूत्र-बद्ध किया था। उन्होंने राष्ट्रीय संगठन, जनता का शासन और

सब के लिए रोज़गार और अवसर के लिए काम किया। उनकी मृत्यु के बाद शीघ्र ही प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने जोर पकड़ा। उनकी मृत्यु के चौबीस साल बाद १ अक्टूबर १९४९ को नये चीन का प्रादुर्भाव हुआ और उनका स्वतंत्र समाजवादी चीन का स्वप्न पूरा हुआ। हमारा आदर्श भी वही सर्वहितकारी राज्य का है जिसकी स्थापना हम संसदीय लोकतंत्र के तरीक़ों से करने की कोशिश कर रहे हैं।

हम चाहते हैं कि हमारी पीढ़ी का इतिहास में नाम इसलिए न हो कि हमने परमाणु का विभंजन किया है और उद्जन-बम बनाया है बल्कि इसलिए हो कि हमने दुनिया के लोगों को एक किया और उनको एक विश्व-समाज का रूप दिया। इतिहास की दुर्घटनाओं से हमें यह शिक्षा मिलती है कि अगर सभ्यता को जीवित रहना है तो दुनिया के लोगों में समझौता आवश्यक है। निर्बल करने वाली घृणा के नशे में आज जो लोग चूर हैं, अगर हम उनकी सद्बुद्धि को नहीं जगाते तो इसका मतलब केवल यह होगा कि हम इतिहास तो सिखाते हैं लेकिन इतिहास हमें नहीं सिखाता।

शान्ति बढ़ाने के और अन्तर्राष्ट्रीय तनावों को घटाने के उद्देश्य से पिछले साल २९ अप्रैल को भारत और चीन ने चीन के तिब्बती इलाक़े और भारत के बीच व्यापार और आना-जाना बढ़ाने के सम्बन्ध में एक इक़रारनामे पर दस्तखत किये तथा उसकी प्रस्तावना में पंचशील के प्रसिद्ध पांच उसूलों को शामिल किया। दो महीने बाद भारत और चीन के तथा चीन और बर्मा के प्रधान मंत्रियों के संयुक्त वक्तव्यों में उन उसूलों को फिर घोषित किया गया। अक्टूबर १९५४ में सोवियत रूस और चीन ने उन्हें स्वीकार किया; और इसके बाद कई देशों ने जिनमें यूगोस्लेविया, पोलैण्ड इत्यादि भी शामिल हैं उन्हें स्वीकार किया। हमारी हार्दिक इच्छा

है कि दुनिया के सभी देश पारस्परिक सम्मान, पारस्परिक सम्बन्ध और अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के इन उसूलों पर चलना स्वीकार करें। हम सभी देशों के साथ मैत्री करने में विश्वास करते हैं, उनकी राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक पद्धतियां चाहे कुछ भी हों। दुनिया के लोगों के मध्य समझौता बढ़ाने के लिए हम शीघ्र बग़ैर रुके हर नया तरीक़ा ढूंढ़ेंगे। इस उद्यम में हम दो देश साथ-साथ काम कर सकते हैं।

हमें इस बात से बड़ा दुःख है कि संयुक्त-राष्ट्र-संघ में आपको उचित स्थान अभी तक नहीं दिया गया है। लेकिन वह दिन दूर नहीं है जब आपका देश संयुक्त-राष्ट्र-संघ में शामिल होकर विश्व-शान्ति के लिए अब से अधिक काम कर सकेगा।

शान्ति और राष्ट्रों की पारस्परिक मैत्री के आदर्श केवल सरकारों और कूटनीतिज्ञों की ही चीज़ें नहीं हैं। उन्हें पुरुषों और स्त्रियों के दिल के आवेगों और संवेगों से पैदा होना चाहिए। केवल इस सन्दर्भ में ही बौद्ध पंचशील के ये उसूल माने रखते हैं कि हमें हिंसा नहीं करनी चाहिए, जो हमारी चीज़ नहीं है उसका लोभ नहीं करना चाहिए, शरीर और मन पर संयम करना चाहिए जैसे हम राजनीति के नाम पर प्रायः झूठ बोलते हैं वह नहीं बोलना चाहिए तथा नशीली चीज़ों का——उत्तेजक भाषण भी एक बहुत बड़ी नशीली चीज़ है——इस्तेमाल नहीं करना चाहिए। धर्मनिष्ठा, शुद्धता और करुणा के इन उसूलों को शताब्दियों पहिले सभी बौद्ध देशों, चीन, भारत, पश्चिमी एशिया के कुछ भागों और जापान इत्यादि में स्वीकार किया गया था। पंचशील की नीति संयम की, सहानुभूति की, भाइयों के से सहयोग की नीति है जिसमें 'किसी के प्रति द्वेष न हो और सबके प्रति उदारता हो।'

इन गुणों ने शताब्दियों तक चीनी सभ्यता को अनुप्राणित किया है; वह इतिहास के सब उतार-चढ़ावों के बाद भी जीवित रही है और आज चीन एक शक्तिशाली राष्ट्र है क्योंकि दुनिया ने उसके विरुद्ध जो कुछ किया और उसने स्वयं अपने विरुद्ध जो कुछ किया उसके बावजूद उसने इन गुणों को सुरक्षित रखा है।

सांस्कृतिक परम्पराओं को क़ायम रखने में महिलाओं का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण रहा है। इस देश ने हर पीढ़ी में लाखों महिलाएं ऐसी पैदा की हैं जिन्होंने प्रसिद्धि तो प्राप्त नहीं की है लेकिन जिन्होंने दैनिक जीवन में मानव-जाति को सभ्य बनाया है। उनकी सहानुभूति ने, उनके आत्म-त्याग ने, उनकी विनम्र श्रद्धा ने, उनकी कष्टों को झेलने की शक्ति ने इस प्राचीन देश के नाम को ऊंचा किया है। आप थोड़े दिनों तक यहां रहेंगी और इन दिनों में स्वयं देखेंगी कि यहां की महिलाओं ने कैसे राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन में पुरुषों के साथ समान अधिकारों के लिए संघर्ष किया है और उन्हें प्राप्त किया है। हमारे पूरे समर्थन और सहयोग के साथ वे पारिवारिक जीवन की उन्नति के लिए काम कर रही हैं जिसमें पुरुष और नारी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों के पालन में समान हिस्सा लेंगे, जिसमें नारी गृहिणी यानी परिवार को चलाने वाली, सचिव यानी परामर्शदात्री और सखी यानी पुरुष की मित्र होगी। मुझे कोई सन्देह नहीं है कि वे देश में एक नयी जीवन-शैली का विकास करने में और राष्ट्रों के मध्य मैत्री बढ़ाने में अधिकाधिक भाग लेंगी।

मैं एक नये चीन के महान् निर्माण-कार्य में आपकी जनता और सरकार की सफलता की कामना करता हूं और आशा करता हूं कि आप अपनी लाखों जनता की न केवल शरीर-रक्षा करने में

समर्थ होंगी बल्कि उनकी आत्मा को भी बचा सकेंगी। आपकी अनवरत स्वदेश-सेवा ने, हमारे देश के लोगों के लिए आपकी मैत्री ने, भारत और चीन के सहयोग में आपकी आस्था ने और आपके शान्ति-प्रेम ने आपको हमारे हृदयों के निकट ला दिया है।

२६

भारत और जापान

(टोक्यो से बिदाई, ८ अक्टूबर १९५६)

मैंने आपके सुन्दर और महान् देश में आनन्द से एक सप्ताह व्यतीत किया। आपकी सरकार और जनता ने मुझे जो हार्दिक और उदार आतिथ्य प्रदान किया उसके लिए मैं आपको धन्यवाद देता हूं। मैं आपके कुछ विद्वानों और लोक-नेताओं से मिला हूं। मैंने भविष्य में विश्वास की उस संयत भावना को महसूस किया है जिससे आपकी जनता और सरकार काम कर रही है।

हम भारतीय लोग आपकी जनता और उसकी उपलब्धियों के बड़े प्रशंसक हैं। आपने एशिया में सबसे पहिले उद्योग में आधुनिकता प्राप्त की और आप एशिया के सर्वप्रथम आधुनिक राष्ट्र हैं। एशिया के कई ऐसे देशों को आपसे प्रेरणा मिली है जिन्होंने अपनी राजनीतिक उदासीनता, संगठन के अभाव, तुच्छ द्वेषों, एकता के अभाव और आवश्यक परिवर्तनों का प्रतिरोध करने के कारण अपनी स्वतंत्रता खो दी। दुर्भाग्य से, जब आपकी नीति ने ग़लत रास्ता अपनाया तब आपको पिछड़ना पड़ा। आज आप एक युग की समाप्ति के बाद दूसरे युग के प्रारम्भ में खड़े हैं। आपने एक संविधान अपनाया है जिसको कार्यान्वित करके आप एक समृद्ध, उन्नतिशील और लोकतंत्रीय सर्वहितकारी राज्य बन जायेंगे।

एक नया संविधान नये जन्म और जनता के दिली और दिमाग़ी परिवर्तन के बिना निर्जीव होगा। आप नये जन्म की यंत्रणा में से गुज़र रहे हैं। आप अपनी राष्ट्रीय विरासत, अपनी पृथक् जीवन-

प्रणाली को सुरक्षित रखते हुए नयी दुनिया से और उसकी मांगों तथा चुनौतियों से अपना समायोजन कर रहे हैं। इस नये अणु-युग की शुरुआत एक आश्चर्यजनक चीज़ से हुई। दुनिया में आप ही सबसे पहिले लोग हैं जिन पर परमाणु-बम का आक्रमण हुआ। इस कटु अनुभव से स्वभावतः आपके अन्दर पुनः शस्त्रीकरण के प्रति अरुचि पैदा हो गयी है। इस अणु-युग में फ़ौजी तरीक़ा ग़लत तरीक़ा है। इसका फल केवल यही होगा कि हमारी सन्तति का विनाश होगा और सारी आशाएं समाप्त हो जायेंगी। अगर हमारे सुपरिचित पैमाने पर उन शस्त्रों से जिन्हें हम तैयार कर रहे हैं लड़ाई फिर होती है तो न केवल समाज छिन्न-भिन्न हो जायेगा बल्कि शायद पृथ्वी पर जीवन ही समाप्त हो जाय। हम यह नहीं मानते कि युद्ध करना मनुष्य का स्वभाव है। ऐसा मानने का मतलब आत्म-विनाश को मानना होगा। अब तक की दुनिया से अच्छी दुनिया में पहुँचने के लिए हमें दूसरे रास्ते पर चलना होगा। अगर आप अपने अनुशासन और लगन के साथ, अपनी भक्ति और आदर्शवाद के साथ इस नये रास्ते पर चलें तो आपका भविष्य महान् होगा। हमें विश्वास है कि दुनिया में आप एक ऊंची स्थिति प्राप्त करेंगे और राष्ट्रों की एकता को महान् बल प्रदान करेंगे। आपका अतीत स्मरणीय ही नहीं है बल्कि आपके जीवन का एक ठोस हिस्सा भी है। आप समझ चुके हैं कि राष्ट्रवाद काफ़ी नहीं है। आपने हिरोशिमा और नागासाकी के अपने नगरों को विश्व-शान्ति के प्रचार और प्रसार के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक केंद्र बना दिया है।

दुनिया के सभी राष्ट्रों को पुनर्जन्म की पीड़ा से, एक विशाल नैतिक क्रान्ति से गुज़रना पड़ता है। कोई सभ्यता सुरक्षित तब होती है जब उसके विभिन्न राजनीतिक और आर्थिक, नैतिक और सामाजिक, कलात्मक और आध्यात्मिक अंश जिन्हें कि भारत में धर्म,

अर्थ, काम और मोक्ष कहा जाता है, सन्तुलन या सामंजस्य की अवस्था में आ जाते हैं। यह अवस्था व्यक्ति की उस अवस्था के तुल्य है जिसमें उसके पाशविक, मानवीय और आध्यात्मिक स्वार्थों में सामंजस्य पैदा हो जाता है। जब सभ्यता के उक्त अंशों में से कोई एक इतना बलवान् हो जाता है कि वह दूसरे अंशों को दबा देता है, तब उसकी एकता टूट जाती है, असन्तुलन पैदा हो जाता है, असामंजस्य शुरू हो जाता है और सभ्यता नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। पिछली कुछ शताब्दियों से जीवन में आर्थिक, भौतिक और औद्योगिक तत्वों का प्राधान्य होता जा रहा है और जड़वादी दृष्टिकोण बढ़ता जा रहा है। सर्वहितकारी राज्य का मतलब सबका भौतिक हित करने वाला राज्य होता जा रहा है। मजदूरी को बढ़ाने की मांग ग़लत नहीं है। आध्यात्मिक तरक़्क़ी के लिए ग़रीबी ज़रूरी नहीं है। सम्पत्ति आध्यात्मिक जीवन में बाधक नहीं है। चिन्ता की बात यह है कि जीवन का स्तर उठाने के बजाय हम भौतिक मूल्यों को, प्रचुरता और परिमाण को अपना रहे हैं। आकार और वेग भौतिक मूल्य हैं; कला, साहित्य और धार्मिक जीवन आध्यात्मिक मूल्य हैं।

आपका देश अपने मन्दिरों और सुन्दर विश्रामगृहों के लिए, आपके लोगों की मोहनी शक्ति और भद्रता के लिए तथा उनकी खुशमिजाजी की जीवन-परम्परा के लिए प्रसिद्ध रहा है। आपके लोगों ने गणित, भौतिक और जीव-विज्ञानों की श्री-वृद्धि की है। अगर आप चाहते हैं कि आप इसी प्रकार मानव-जाति की सेवा करते रहें तो आपको व्यक्ति की स्वतंत्रता को क़ायम रखना होगा। इसका कारण यह है कि कला और साहित्य की उत्तम कृतियां और विज्ञान की खोजें उन एकान्तवासी प्रतिभाओं की उपज हैं जो अपने कक्षों में अपने उद्देश्य पर ध्यान लगाकर बौद्धिक स्फूर्ति के साथ

काम करते रहते हैं। व्यक्ति की पवित्रता लोकतंत्र का आधार है और सब धर्मों का बुनियादी उसूल है।

हमारे दो देशों के बीच शताब्दियों तक घनिष्ठ सांस्कृतिक सम्बन्ध रहे हैं। आपके लोगों का मुख्य धर्म बौद्ध-धर्म प्रतीत होता है, हालांकि अन्य धर्मों के अनुयायी भी यहां मौजूद हैं। बौद्ध-धर्म ध्यान पर ज़ोर देता है। धर्म चेतना का आन्तरिक परिवर्तन है, एक मानसिक क्रान्ति है, बुद्धि की तीव्रता है। बुद्ध ने हमें सबसे प्रेम करने के लिए कहा है। अगर हमको अपना विनाश नहीं करना है तो हमें एक ही परिवार के सदस्यों की तरह रहना चाहिए। हमें हर इंसान को अपना भाई समझना चाहिए, क्योंकि दुनिया में कोई भी अजनबी नहीं है। करुणा हमें सहनशील बनाती है, अपंग बने बिना चोट को सहने में समर्थ बनाती है। दुनिया के जीवों में मनुष्य ही ऐसा है जिसके अन्दर करुणा, सहनशीलता और बलिदान के गुण आ सकते हैं। आपका देश भूतकाल में साहस, गौरव और बलिदान के लिए प्रसिद्ध रहा है। नयी दुनिया में इन सद्गुणों का उपयोग दूसरे राष्ट्रों के साथ युद्ध करने में नहीं बल्कि, रोग, ग़रीबी, भुखमरी, अपराध और युद्ध इत्यादि मानव-जीवन के अभिशापों के साथ लड़ने में होना चाहिए। ये बुराइयां हमारे ही स्वभाव से पैदा होती हैं। इसीलिए हमें प्रज्ञा और करुणा का उपदेश किया गया है। मनुष्यों से प्रेम करने का मतलब है उनको प्रतिद्वंद्वी, विरोधी या अपनी उन्नति की बाधाएं न समझना बल्कि आध्यात्मिक परिवार के अपने जैसे सदस्य समझना। प्रेम करने का मतलब है उनके दोषों के सहित उनको अपनाना और उनके निर्दोष भविष्य में आस्था रखना।

जीवन की बड़ी-बड़ी समस्याएं हैं और हमें दुनिया के सब बोझों को अपने ऊपर नहीं लादना चाहिए। हमें अपना कर्तव्य करना

चाहिए और फल को ईश्वर पर छोड़ देना चाहिए जिसमें कि हम सब विश्वास करते हैं। हमारे दो देशों के बीच विचार और आकांक्षा की अनेक समानताएं हैं। मैं आशा करता हूं कि आने वाले वर्षों में हमारे घनिष्ठ सम्बन्ध और भी मज़बूत और स्थायी हो जावेंगे।

२७

भारत और मिस्र

(कर्नल नासिर और सरदार मुहम्मद नईम खां के संसद् में पधारने के अवसर पर दिया गया भाषण, १४ अप्रैल १९५५)

हमें हर्ष है कि इस समय मिस्र के प्रधान मंत्री कर्नल नासिर और अफ़ग़ानिस्तान के उप-प्रधान मंत्री तथा विदेश मंत्री सरदार मुहम्मद नईम खां हमारे बीच में मौजूद हैं। हम उनको और उनके द्वारा उनकी सरकार और जनता को उनकी शान्तिपूर्ण प्रगति और समृद्धि के लिए अपनी शुभ कामनाएं भेजते हैं।

जब हम इन देशों के बारे में सोचते हैं तब मालूम होता है कि इनकी आयु सैकड़ों नहीं बल्कि हज़ारों साल है। मिस्र के जिन पिरेमिडों की छाया में हम खड़े होते हैं और जहां सीज़र, नैपोलियन इत्यादि अनेक महापुरुष खड़े हुए, वे पांच हज़ार साल पुराने हैं। मिस्र अफ़्रीका में है और दुनिया के चौराहे में, एशिया और यूरोप की डचोढ़ी में स्थित है। फारो, पारसी, यूनानी, मैसीडोनियावासी और रोमनों ने इस पर शासन किया। पहिली ईस्वी शताब्दी में मिस्र एक रोमन उपनिवेश था, फिर ईसाइयों की बस्ती हुआ, और फिर मुसलमानों की विजय और अरबों के आने से यह अरबों का गढ़ बन गया। यद्यपि मिस्र बाहरी दबावों से पीड़ित रहा तथापि उसकी आत्मा नष्ट नहीं हुई और हमारे स्वातंत्र्य-संग्राम के साथ उसका भी स्वातंत्र्य-संग्राम चलता रहा। मक्रम, अरबी और ज़घलुल के नाम इस सिलसिले में प्रसिद्ध हैं। आज मिस्र स्वतंत्र है। पुरानी सरकार को हटाना एक बात है और नयी सरकार का

निर्माण करना दूसरी बात। राजनीतिक स्वतंत्रता केवल सफ़ाई का काम करती है। पूर्व के अन्य देशों की तरह मिस्र में भी एक तरफ़ स्मारक, मक़बरे और खँडहर हैं तो दूसरी तरफ़ ग़रीबी, कूड़ा, बीमारी और दीनता है। मिस्र में क्रान्ति के नेता इन कष्टदायी बोझों को लोगों के कन्धों से उठाने के काम में लगे हुए हैं। वे एक सामाजिक और मानवोचित क्रान्ति लाने में संलग्न हैं जिससे भूमि का समान वितरण होगा, औद्योगिक प्रगति होगी, धार्मिक स्वतंत्रता मिलेगी और लोकतंत्रीय स्वतंत्रताएं प्राप्त होंगी। हम भी इसी काम में लगे हैं और इसलिए मिस्र के साथ हमारी सहानुभूति है और हम उसका समर्थन करते हैं। इसका प्रमाण वह मैत्री की सन्धि है जो हाल ही में भारत और मिस्र के बीच हुई है।

अफ़ग़ानिस्तान के साथ हमारे सम्बन्ध शताब्दियों से घनिष्ठ रहे हैं। एक समय था जब भारत और अफ़ग़ानिस्तान एक ही सांस्कृतिक प्रदेश के हिस्से थे। कुछ समय तक प्राचीन गान्धार में जो कि आज का क़न्दहार है, भारतीय और यूनानी मूर्तिकलाओं का संयोग रहा। आज भी अफ़ग़ानिस्तान में हम भारतीय संस्कृति और प्रभाव के अनेक अवशेष देखते हैं। यद्यपि अफ़ग़ानिस्तान में शासन-पद्धति भिन्न तरह की है जिसमें एक वैधानिक राजा और संसद् के दो भवन होते हैं, तथापि वह भी सामाजिक सुधार और आर्थिक उन्नति की समस्याओं को सुलझाने में लगा है। क्रान्ति का मतलब बाहरी दबावों से मुक्त होना मात्र नहीं है; इसका मतलब आन्तरिक बाधाओं और अपवित्र पूर्वाग्रहों से मुक्त होना भी है। वह लोगों के दिलों और दिमाग़ों की तब्दीली है।

जिस समूह में हर आदमी व्यक्तिगत अधिकार चाहता हो, अहंकारी और दोषदर्शी हो तथा केवल अपने साथ न्याय करने वाला हो उससे राष्ट्र का निर्माण नहीं हो सकता। जहां सरकार गन्दी

हो, आर्थिक असन्तोष हो और राष्ट्रीय अनैक्य हो वहां राजनीतिक स्थिरता नहीं हो सकती। इसलिए हमें ऐसे नेताओं की ज़रूरत है जो द्वेष, घृणा, शक्ति की पिपासा या व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा के बग़ैर वर्तमान दुरवस्था को दूर करने की कोशिश करें। मौजूदा चुनौती का एकमात्र जवाब नैतिक बल और वैज्ञानिक प्रगति है।

मिस्र, अफ़ग़ानिस्तान, भारत और अन्य पूर्वी देशों की क्रान्तियों की सफलता के लिए हमें शान्ति की ज़रूरत है। हमारी समान इच्छाएं हैं, समान आन्तरिक परिस्थितियां हैं और समान बाहरी स्वार्थ हैं। यही कारण है कि हमारे आपस में इतना भाईचारा है, इसीलिए हम आपका इतना हार्दिक स्वागत कर रहे हैं ताकि जिन देशों ने इतिहास के आदि-काल में भी इतनी महान् तरक़्क़ी की थी वे उस एकता और संगठन को प्राप्त करें, उस शक्ति का विकास कर सकें जो एशिया और विश्व को समृद्ध बना दे। सुन्दर गुलाब बग़ीचे को भी सौन्दर्य प्रदान करता है।

एक तगड़ा संघर्ष हमारी प्रतीक्षा कर रहा है। हम ऐसे नेता चाहते हैं जो लोगों के अन्दर वह आग और उत्साह भरें जिसके बिना विचार और आदर्श कार्यान्वित नहीं हो सकते। हम महसूस करते हैं कि एशिया और अफ़्रीका में आर्थिक उन्नति और सामाजिक प्रगति के लिए शान्ति का होना अत्यावश्यक है। सभ्यता एक ऐसी चीज़ नहीं है जो जन्मजात हो या चिरस्थायी हो। वह एक अनिश्चित चीज़ है, व्यवस्था और प्रगति, संस्कृति और सृष्टि का एक कोमल मिश्रण है जिसकी प्राप्ति हर पीढ़ी को नये सिरे से करनी पड़ती है। अन्दरूनी या बाहरी बर्बरता उसको किसी भी समय उलट सकती है। इस अणु-युग में मनुष्य का जीवित रहना शान्ति पर, सक्रिय अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग पर निर्भर है। दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसीलिए हम क्रोध की भाषा से, धमकियों और युद्ध की तैयारियों

से डर रहे हैं। यह अपने संवेगों पर नियंत्रण करने का समय है।

जिस स्फिक्स को हम काहिरा के निकट के बड़े पिरेमिड की बग़ल में देखते हैं और जिसका सर इंसान का और धड़ शेर का है वह उस समस्या को सामने लाता है जिसका हल सभ्यता को अभी निकालना है। वह हमें अपने अन्दर के पशु, हिंसक भावना, शक्ति की इच्छा, प्रभुत्व की प्रवृत्ति, गुप्त अभिमान की, सामूहिक स्वार्थपरता की भावना के विरुद्ध चेतावनी देता है। मानव-स्वभाव की गहराई में एक ऐसी पाशविक प्रवृत्ति निवास करती है जो महात्माओं को भी भ्रष्ट कर देती है। नीट्शे ने कहा है कि हमारे स्वभाव की गहराई में दूसरों का शिकार करने की प्रवृत्ति, 'एक पशु जो अपने शिकार की टोह में रहता है और विजय की खोज में दुबका बैठा रहता है' का निवास है। समय-समय पर यह गुप्त प्रवृत्ति जागती रहती है, यह पशु बाहर निकलता है और जंगल में वापस चला जाता है। हमारे अन्दर जो मिथ्या है वह हमें धोखा देता रहता है। अगर हम अपने दिल को और अन्तःकरण को मुक्त न कर सकें तो बुद्धि को मुक्त करने का कोई मूल्य नहीं है। हमें इस पशु को वश में करना है। सभ्यता इस पशु पर हमारी आत्मा की विजय है। मैं आशा करता हूं कि बाण्डुंग में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विचार-विमर्श में आप शान्तिपूर्ण तरीक़े अपनायेंगे जिससे समझौता पैदा होगा।

२८

भारत और यूगोस्लाविया

(प्रेसीडेण्ट टीटो के आगमन के अवसर पर संसद् के सदस्यों के सामने दिया गया भाषण, २१ दिसम्बर १९५४)

इतिहास आम तौर पर सैनिक हलचलों का या अन्तर्राष्ट्रीय हेरफेरों का वर्णन करते हैं और इस प्रकार यह सुझाव देते हैं कि इंसान बर्बर, लोभी और दुष्ट हैं तथा हमेशा आपस में लड़ते रहते हैं। मानवीय प्रकृति का एक दूसरा रूप भी है जो संगीत और नृत्य में, कला और भवन-निर्माण में, दर्शन और संस्कृति में, रीति-रिवाजों में अभिव्यक्त होता है। ये इतिहास के रुख को भी निर्धारित करते हैं। युग की भावना और इनको एक केंद्र में लाने वाली प्रतिभा इतिहास की प्रगति की दो मूल बातें हैं।

हमारे युग की तीन विशेषताएं हैं: राजनीतिक आजादी, समाज की समाजवादी पुनर्व्यवस्था और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, इन तीन चीजों की चाहें।

आपने (प्रेसीडेण्ट टीटो) अपने भाषण में इन तीन आदर्शों को, जो कि न केवल अमेरिका और यूरोप को बल्कि मिस्र से लेकर जापान तक सब पूर्वी देशों को आन्दोलित किये हुए हैं, पूरा करने के अपने देश के स्वप्न का उल्लेख किया है। आपके देश ने प्रथम महायुद्ध के बाद १९१८ में आजादी हासिल की। दूसरे महायुद्ध में वह फिर परतंत्र हुआ और आपके महान् नेतृत्व में मुक्त हुआ। आपने अपने देश की एकता को बचाया और अन्दरूनी तथा बाहरी खतरों से उसकी स्वतंत्रता की रक्षा की।

हमने जो आज़ादी अभी हासिल की है उसे हम बहुत क़ीमती समझते हैं। हम भी अपने देश की एकता को बचाने का प्रयत्न कर रहे हैं। हम एकता की भावना को निर्बल बनाने वाली सभी शक्तियों का प्रतिरोध करने की कोशिश कर रहे हैं। हम इस देश की विशाल जनता को एक राष्ट्र में संगठित करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

दूसरी बात समाज की समाजवादी पुनर्व्यवस्था की है। आपने हमारी बहुधन्धी योजनाओं की और नदियों के ऊपर बांध बनाने की उन योजनाओं की उदारतापूर्वक प्रशंसा की है जिनके द्वारा हम ज्यादा से ज्यादा ज़मीन को सींचने की और अधिक से अधिक लोगों को खिलाने की कोशिश कर रहे हैं। आप यह न सोचें कि हमने अब तक जो प्रगति की है उससे हम सन्तुष्ट हैं। हमें उन बहुत सी चीजों की जानकारी है जो हमें अभी करनी हैं। हम जानते हैं कि हमने थोड़ा सा किया है और बहुत सा करना बाक़ी है।

यद्यपि हमारा लक्ष्य समाजवाद है, तथापि यह ध्यान देने की बात है कि इस समाजवाद का आधार नैतिक है और हम बल-प्रयोग के स्थान पर सलाह-मशविरे से काम लेना चाहते हैं। हम अपने सामाजिक ढांचे को, अपनी सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति को मौलिक मानवीय मूल्यों का आधार देने का प्रयत्न कर रहे हैं। हम विश्वास करते हैं कि सभ्यता का मतलब औद्योगिक प्रगति या सम्पत्ति की वृद्धि मात्र नहीं है। सभ्यता एक मानसिक अवस्था है, एक सामाजिक व्यवस्था है, मानवीय सम्बन्धों की एक अवस्था है। हम समाज की इसी सभ्य व्यवस्था का निर्माण करने की कोशिश कर रहे हैं। आर्थिक पुनर्वास मात्र हमारा लक्ष्य नहीं है। सामाजिक और सांस्कृतिक पुनर्वास भी हमारा लक्ष्य है। हम जानते हैं कि हम युगों पुराने पूर्वाग्रहों और शङ्काओं में जकड़े हुए हैं, लेकिन हम इनको

तोड़ने की कोशिश कर रहे हैं ताकि इस देश में एक अधिक अच्छे समाज का निर्माण हो सके।

तीसरी चीज अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति है। आज लोकतंत्र की परीक्षा हो रही है। हम तब तक अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति क़ायम नहीं कर सकते जब तक कुछ देश पिछड़े हुए हैं या अपने समाज की राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था का विकास करने के लिए एक-दूसरे से लड़ रहे हैं। अगर लोकतंत्र राजनीतिक दृष्टि से अल्पवयस्क और आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए देशों की मदद करने के लिए तैयार है तो पारस्परिक संघर्ष के कारण बहुत कम हो जायेंगे। हमें हर्ष है कि आप भी हमारी ही तरह सब राष्ट्रों की राजनीतिक स्वतंत्रता, सब लोगों का आर्थिक विकास और सब राष्ट्रों के साथ मैत्री, चाहे उनकी विचार-धाराएं कुछ भी क्यों न हों, इन आदर्शों को अपना लक्ष्य बनाये हुए हैं। आप एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण युग में रह रहे हैं और आपके देश की स्थिति बहुत महत्त्व रखती है। आपके देश की भौगोलिक और ऐतिहासिक स्थिति, आर्थिक प्रणाली, आपके लोगों की मिश्रित नस्ल—ये सब बातें आपको इस दुनिया में शान्ति की स्थापना के लिए नेतृत्व करने का महान् अवसर प्रदान करती हैं। हम इस देश के लोग आपके आगमन से अत्यधिक प्रसन्न हैं। इसकी वजह यह है कि आपने भी राजनीतिक स्वतंत्रता, आर्थिक न्याय और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के वही तीन आदर्श अपनाये हैं जो हमने अपनाये हैं।[1]

डॉ० राधाकृष्णन् : दोस्तो, हम प्रेसीडेण्ट टीटो के आभारी हैं कि उन्होंने यूगोस्लाविया के कुछ वर्ष पूर्व की बातें, उसकी वर्तमान स्थिति और राजनीति इतनी अच्छी तरह से बतलायीं। उन्होंने कई

---

[1] इसके बाद प्रेसीडेण्ट टीटो का भाषण हुआ।

विचारणीय बातों का उल्लेख किया है। एक बात यह है कि हम सब एक हैं। हमारा उद्देश्य लोगों की आर्थिक दशा सुधारना है। तरीक़ों का चुनाव हरेक देश अपने इतिहास को ध्यान में रखते हुए करता है। उद्देश्य आवश्यक हैं जबकि उनको पूरे करने के तरीक़े इच्छाधीन हैं। हमारे तरीक़े सफल हुए हैं या असफल, यह हमारे पेशों से नहीं बल्कि हमारी उपलब्धियों से जांचा जायेगा। अतः हमें सावधानी से अपने लोगों के सामाजिक और आर्थिक कल्याण की उपलब्धि की दिशा में प्रगति को तेज़ करना चाहिए।

आपने (प्रेसीडेण्ट टीटो ने) संयुक्त-राष्ट्रों में सब देशों के शामिल न होने की बात कही। व्यवहारतः हमने चीन को मान्यता दे दी है। जेनेवा-सम्मेलन में चीन के मंत्री अमेरिका के मंत्रियों से मिले हैं। अब संयुक्त-राष्ट्रों के महासचिव चीन जा रहे हैं। इस तरह की सन्धि-वार्ताओं को संयुक्त-राष्ट्र-संघ के अन्दर नहीं बल्कि बाहर चलाकर हम संयुक्त-राष्ट्रों की स्थिति को निर्बल कर रहे हैं। हम आपसे इस बात में पूर्णतया सहमत हैं कि संयुक्त-राष्ट्रों में सार्वभौमता का अभाव है।

सह-अस्तित्व के बारे में आपका जो आम दृष्टिकोण है उससे भी हम सहमत हैं। सह-अस्तित्व का मतलब यह नहीं है कि विभिन्न पद्धतियों में किसी तरह का अन्तिम समझौता हो जाय और किसी तरह का परिवर्तन न हो। सह-अस्तित्व का मतलब है एक-दूसरे को समझना, एक-दूसरे से शिक्षा लेना और इस प्रकार हम विभिन्न पद्धतियों में परिवर्तन कर सकेंगे। दूसरे शब्दों में, स्वयं यूगोस्लाविया ही अपनी पद्धति बदल सकता है; इस दुनिया में अन्तिम कुछ नहीं है। हम एक गतिशील दुनिया में रह रहे हैं और इसमें पारस्परिक समायोजन के द्वारा तब्दीलियां हो सकती हैं।

अब मैं एक दूसरा भाषण नहीं देना चाहता। मैं केवल यह कहना

चाहता हूं कि हम दोनों देशों की अनेक समस्याएं समान हैं और अनेक आदर्श भी समान हैं। अतः दुनिया के दो अलग-अलग हिस्सों से सम्बन्ध रखने वाले हम दो राष्ट्रों के सहयोग के लिए एक बड़ा क्षेत्र पड़ा हुआ है और मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि इन सब बातों में हम आपको सहयोग देंगे।

२९

भारत और सोवियत-संघ

(रूसी नेता बुल्गानिन और ख्रुश्चेव के आगमन पर
संसद् में दिया गया भाषण, २१ नवम्बर १९५५)

मैं संसद् की ओर से और भारत की जनता तथा सरकार की ओर से आपका और आपके दल के सदस्यों का हार्दिक स्वागत करता हूं। हमें अत्यन्त हर्ष है कि अक्टूबर १९१७ की क्रान्ति के बाद सोवियत-संघ के नेता पहिली मर्तबे हमारे बीच पधारे हैं, हालांकि थोड़े ही समय तक वे यहां रहेंगे। पिछले जून में हमारे प्रधान मंत्री का आपने अपने देश में जो हार्दिक स्वागत किया था उसका हमारे हृदयों पर गहरा प्रभाव पड़ा है और मैं आपको विश्वास दिलाता हूं, हालांकि आप अपनी आंखों से देख ही रहे हैं और इसलिए मेरा विश्वास दिलाना अनावश्यक है, कि हम आपका जो स्वागत कर रहे हैं वह सच्चा, हार्दिक और मित्रतापूर्ण है। इस तरह के आगमन से जो अनौपचारिक सम्पर्क होते हैं उनसे हम एक-दूसरे को समझते हैं और एक दूसरे को समझने से भय और सन्देह मिट जाते हैं।

हमारी पीढ़ी के लोगों ने गहरी रुचि के साथ आपका निरन्तर बढ़ते हुए शक्ति और प्रभाव प्राप्त करना देखा है। १९१७ की परिस्थितियों में जब कि सरकार स्वेच्छाचारी और कमजोर थी, चर्च भ्रष्टाचारी था, रूस की मानव-शक्ति अनेक मृत्स्थलों में बिखरी हुई थी, अकाल और अव्यवस्था से आर्थिक स्थिति बहुत ही खराब थी और मंगोलों और तुर्कों से मिली हुई अनेक हारों की याद ताजी थी, तब आपने महसूस किया था कि निराशा की भावना को हटाने

और आशा की दुनिया बसाने के लिए क्रान्ति आवश्यक है। आप यूरोप के अन्य उन्नत देशों की तुलना में शताब्दियों पिछड़े हुए अपने देश को एक विशाल औद्योगिक और आर्थिक विकास से युक्त शक्तिशाली आधुनिक राष्ट्र बनाने में सफल हुए हैं। शुरू के वर्षों में वहां जो गृह-युद्ध और विदेशियों का हस्तक्षेप हुआ उससे आपने देश के अन्दर कठोर नियंत्रण किया और विदेशी राष्ट्रों के प्रति आपका रवैया सन्देह करने का हो गया। ऐसे कारणों का ऐसा ही फल होता है। लेकिन आज परिस्थितियां बदल गयी हैं। विदेशी बड़ी तादाद में रूस में आ रहे हैं और रूसी लोग भी विदेशों का भ्रमण कर रहे हैं। जो लोग रूस जाते हैं उन्हें विश्वास हो जाता है कि आप और आपके लोग दूसरों के साथ शान्ति और मित्रता के साथ रहने के लिए उत्सुक हैं। मार्क्स या लेनिन के सिद्धान्तों का उल्लेख करना व्यर्थ होगा, क्योंकि तथ्यों की दलील सिद्धान्तों की दलील से शक्तिशाली होती है।

जैसा कि आपको बखूबी मालूम है, हम दस या बीस सालों के अन्दर ऐसा काम कर दिखाने की कोशिश कर रहे हैं जिसे पूरा होने में साधारणतया दस-बीस पीढ़ियां लग जाती हैं। हम अपने इतिहास और अपनी परम्परा से मेल रखने वाले तरीक़ों से समाजवादी नमूने पर अपने समाज का पुनर्निर्माण कर रहे हैं। लेनिन ने कहा था: 'सभी राष्ट्र समाजवादी लक्ष्य को प्राप्त करेंगे; यह अवश्यम्भावी है। लेकिन सभी राष्ट्रों का समाजवादी लक्ष्य प्राप्त करने का तरीक़ा एक ही नहीं होगा।' आप अपने वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुभव हमें बताना चाहते हैं। हम इसके लिए आपके आभारी हैं। हम इसे स्वीकार करते हैं लेकिन तभी तक जब तक इससे हमारी आज़ादी को हानि न पहुँचे या हमारे ऊपर किसी क़िस्म का दबाव न पड़े या हमारे घरेलू मामलों में हस्तक्षेप न हो। आपने

कठिनाइयां सहीं और अपनी तरक़्क़ी की। हमारी उन्नति हमारी सहज सामर्थ्य, नैतिक चरित्र और सहयोगपूर्वक काम करने के लिए तैयार होने पर निर्भर है। हमारा अपनी जनता पर विश्वास है और इसलिए अपने भविष्य में आस्था है। हमारे तरीक़े भिन्न हैं, फिर भी हमारा लक्ष्य एक ही है और दुनिया को अधिक सुरक्षित और अधिक स्वस्थ बनाने के लिए हम कई क्षेत्रों में सहयोग कर सकते हैं।

इतिहास पहिले की अपेक्षा अधिक तेजी से बदल रहा है और अगर हम समझदार और इच्छुक हों तो एक विश्व-समाज की स्थापना कर सकते हैं। हमें साथ रहना और साथ-साथ काम करना है। संयुक्त-राष्ट्र-संघ विश्व-समाज का प्रतीक है जिसे हम सब चाहते हैं। लेकिन दुर्भाग्य से अभी इसमें दुनिया के सब बड़े राष्ट्र नहीं हैं। उदाहरणार्थ, चीन अभी इससे बाहर है जिसके फल-स्वरूप उससे सन्धि-वार्ताएं संयुक्त-राष्ट्र-संघ के बाहर करनी पड़ती हैं जिससे संयुक्त-राष्ट्र-संघ का प्रभाव घट जाता है।

अपने हाल के भाषणों में आपने विज्ञान और उद्योग के इस युग की दो सम्भावनाएं बतायी हैं—या तो पृथ्वी स्वर्ग बन जायेगी या सभ्यता नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगी। हम इससे सहमत हैं। उद्योग और आधुनिक युद्ध-प्रणालियों को देखते हुए हम तीसरे महायुद्ध के भयानक परिणामों की स्पष्ट कल्पना कर सकते हैं। अगर अकस्मात् या जानबूझकर हम तीसरे महायुद्ध को शुरू कर दें तो इतिहास में हमें जिम्मेदार नेता नहीं बल्कि पागल माना जायेगा। यह कहा जायेगा कि सभ्यता ने उन्माद की अवस्था में आत्म-घात कर दिया। हम मानसिक और दिल की बीमारी से पीड़ित हैं। आपने और हमारे प्रधान मंत्री ने पंचशील को माना है। ये पांच उसूल खोखले वाक्य नहीं हैं। अगर हम उन्हें गम्भीरतापूर्वक लें

तो हमें अपने अतीत की ओर वापस जाना होगा, अपने कड़ुवे झगड़ों और विवेकहीन भावनाओं को भूल जाना होगा, अपनी निश्चित धारणाओं और निष्फल निषेधों को छोड़ देना होगा, नयी दृष्टि, नयी भावना, नयी मानवता और नयी सहनशीलता से अपने दिमागों को ठीक करना होगा। लेकिन दुर्भाग्य से दुनिया में अब भी बहुत अहंकार है, अब भी बहुत संगठित स्वार्थपरता है। जो राष्ट्र अपनी राजनीतिक शक्ति को बढ़ाने के उत्सुक हैं वे कभी-कभी कठोर, दूसरों से पृथक् रहने वाले, सन्देह करने वाले और हमला करने वाले हो जाते हैं। सुदूर पूर्व की परिस्थितियां, पश्चिमी एशिया की परिस्थितियां जहां कि शस्त्रों की दौड़ खतरनाक रूप लेती जा रही है, पिछले जिनेवा-सम्मेलन के निराशाजनक नतीजे इसके उदाहरण हैं। ऐसे समय में हमें समझौता करने में छोटी-छोटी बातों को लेकर नहीं झगड़ना चाहिए। हमारा दृष्टि-कोण विशाल होना चाहिए और हमारे दिल उदार होने चाहिए। हमें लगन और धैर्य के साथ शान्ति के लिए काम करना चाहिए, जिस बोझ के नीचे हम रह रहे हैं उसे उठाना चाहिए और दुनिया को चैन की सांस लेने देना चाहिए। इस उद्यम में सभी शान्ति के प्रेमी राष्ट्र हमारे भरपूर सहयोग पर निर्भर रह सकते हैं। न बल से, न शक्ति से, बल्कि समझौते और सहयोग से हम अपने लक्ष्य पर पहुँच सकते हैं।

अन्तिम भाषण :

आपने अपने भाषणों से जो हमें अपनी घरेलू और विदेशी नीतियों से परिचित किया है उसके लिए हम आपके आभारी हैं।

हम आपके इस कथन से बहुत प्रभावित हुए हैं कि तुलसीदास, गान्धी, प्रेमचन्द और जवाहरलाल नेहरू के ग्रन्थों के अनुवाद

रूसी भाषा में उपलब्ध हैं और बहुत पढ़े जाते हैं। मैं आपको बताता हूं कि हम भी पुश्किन, टॉलस्टॉय, डोस्टोवस्की, चेखोव, तुर्गनेव और गोर्की के ग्रन्थों को पढ़कर लाभान्वित होते हैं। हम आशा करते हैं कि कला और साहित्य के क्षेत्रों में हम अधिक सहयोग करेंगे।

श्री ख्रुश्चेव ने हमें बताया कि सोवियत-संघ में बौद्धिक और धार्मिक स्वतंत्रता है। इस सिलसिले में उनके वचन प्रामाणिक हैं और हमें रूस में इस स्वतंत्रता की बात सुनकर खुशी हुई है, क्योंकि यह लोकतंत्र के लिए आवश्यक है। अब चूंकि सोवियत-संघ ने अपना आधार पुष्ट कर लिया है और अपनी जनता को वे चीजें दे दी हैं जिनके बग़ैर वे ज़िन्दा नहीं रह सकते, इसलिए हम आशा करते हैं कि वह उन्हें उन मानसिक और आध्यात्मिक गुणों का विकास करने के लिए भी अवसर देगा जिनके बिना जीवन ज़िन्दा रहने के योग्य नहीं होता। हम अब वहां साहित्य और कला की महान् कृतियों की उत्पत्ति की आशा करते हैं जो दुनिया में प्रकाश और आनन्द पैदा करेंगी।

हम शान्ति, समृद्धि, स्वतंत्रता और न्याय की तथा सच्चे लोकतंत्र की नयी दुनिया का निर्माण करने में मित्रों और सहकारियों की तरह काम करना चाहते हैं और आपसे भी यही आशा करते हैं।

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वः भद्राणि पश्यतु
सर्वस्सद्बुद्धिमाप्नोतुस वंस्सर्वत्र नन्दतु।

३०

संयुक्त-राष्ट्र-संघ का लक्ष्य

(संयुक्त-राष्ट्र-दिवस पर ऑल इण्डिया रेडियो से प्रसारित,
२४ अक्टूबर, १९५३)

संयुक्त-राष्ट्र-संघ के उद्देश्यों का उल्लेख उस चार्टर की प्रस्तावना में हुआ है जिस पर २६ जून १९४५ को सैन फ्रांसिस्को में हस्ताक्षर किये गये थे, उसमें लिखा है :

> हम, संयुक्त राष्ट्रों के लोग, आने वाली पीढ़ियों को उस युद्ध की विभीषिका से बचाने के लिए जिसने हमारे जीवन-काल में दो बार मानव-जाति को अकल्पनीय शोक में आप्लावित किया है, मौलिक मानवाधिकारों में पुनः आस्था उत्पन्न करने के लिए....तथा ऐसी परिस्थितियां पैदा करने के लिए जिनमें न्याय को और उन कर्तव्यों के प्रति सम्मान को क़ायम रखा जा सकता है जो सन्धियों और अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के अन्य उद्गमों से पैदा होते हैं, कृतसंकल्प होकर यह निर्णय करते हैं कि हम उक्त उद्देश्यों को पूरा करने के लिए संगठित प्रयत्न करेंगे।

संयुक्त-राष्ट्र-संघ की स्थापना इन उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु की गयी थी।

संयुक्त-राष्ट्र-संघ जैसी संस्था का होना एक अतीव हर्ष की बात है, क्योंकि यह एक नयी दुनिया की आशा और प्रतीक है। हमारे अतीत व्यवहार से, बोलने, देखने और काम करने के तरीक़ों से एक ऐसा वातावरण पैदा हो गया है जो दुनिया के लोगों की

शान्ति और समृद्धि की गहरी इच्छा के प्रतिकूल है। संयुक्त-राष्ट्र-संघ इस वातावरण को दूर करेगा। संयुक्त-राष्ट्र-संघ ने आशा की जो ज्योति दिखायी है वह अगर फैलकर अन्धकार को दूर नहीं करती और अगर भय और सन्देह, घृणा और कटुता का वातावरण अब भी मौजूद है, तो इसका कारण हमें स्वयं ढूंढ़ना होगा।

यदि हम अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को देखें जिसमें कि बड़ी-बड़ी शक्तियां ऐसे झगड़ों में फँसी हुई हैं जो पूर्ण युद्ध का रूप ग्रहण कर सकते हैं, जिसमें कि वे मित्र पैदा करके और शत्रुपक्ष के अन्दर विध्वंसक आन्दोलनों को प्रोत्साहन देकर सैनिक अड्डे क़ायम करने की कोशिश कर रहे हैं, तो हमें बड़ी निराशा और बेचैनी का अनुभव होता है। व्यक्ति व्यक्ति को गिरा सकता है, लेकिन वह सरकार जिसकी नीति शक्ति और अवसरवादिता पर आधारित होती है, पूरे राष्ट्र को बिगाड़ सकती है। हम अस्त्र-शस्त्रों के ढेर इकट्ठे करते रहें और लोगों को युद्ध के लिए तैयार करते रहें और फिर भी स्वयं को युद्ध के ख़तरे से बचाये रखें, ऐसा सम्भव नहीं है। या तो एक ऐसा विस्फोट होगा जो दुनिया को ध्वंस कर देगा या हमको शान्ति और सबकी समृद्धि के युग को लाने के लिए संगठित प्रयत्न करना होगा। यह दूसरी बात केवल तभी सम्भव है जब संयुक्त-राष्ट्रों के चार्टर पर हस्ताक्षर करने वाले ईमानदारी और गम्भीरता के साथ संयुक्त-राष्ट्र-संघ के उसूलों का अपनी गृह और विदेश-नीति में पालन करें।

संयुक्त-राष्ट्र-संघ ने फ़िलिस्तीन, इण्डोनेशिया, काश्मीर और कोरिया की समस्याओं को हल करने में जो सेवाएं की हैं वे सबको मालूम हैं। उसकी विशिष्ट समितियों ने विभिन्न क्षेत्रों में, ख़ास तौर से दुनिया में स्वास्थ्य और शिक्षा का स्तर ऊंचा करने में, जो उच्च कोटि का काम किया है वह प्रशंसनीय है। इन

महत्त्वपूर्ण सफलताओं के बावजूद संयुक्त-राष्ट्र-संघ अपनी नैतिक शक्ति को खोता जा रहा है। लोगों की यह आम धारणा बनती जा रही है कि उसका अपने प्रारम्भ से अब तक का इतिहास असफलता और निर्बलता का, मूल उद्देश्य की विकृति का, गम्भीर निर्णयों के उल्लंघन का इतिहास रहा है।

संयुक्त-राष्ट्र-संघ के सदस्य होने के बावजूद राज्य-सरकारें राष्ट्रवादी अधिक हैं और अन्तर्राष्ट्रीयतावादी कम। दुनिया के स्वतंत्र राष्ट्रों की बढ़ती हुई राष्ट्रीयता का कारण भय और असुरक्षा की भावना है। अगर अन्तर्राष्ट्रीयतावाद सुरक्षा की भावना पैदा करता है तो भय दूर हो जायेगा, लेकिन असुरक्षा की भावना और भय को दूर करने के लिए कोशिश कम की जा रही है।

एशिया और अफ्रीका में जो राष्ट्र अब तक परतंत्र हैं उनके राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के आन्दोलनों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इन ऊपर उठने के उत्सुक लोगों की परम्पराएं पुरानी हैं, हालांकि उनकी राजनीतिक आकांक्षाएं नयी हैं। वे संवेदनशील और स्वाभिमान वाले हैं, हालांकि वे निर्बल, परतंत्र, ग़रीब और भूखे हैं। उनकी ग़ुलामी से मुक्त होने की इच्छा जितनी दबायी जाती है उतनी ही बढ़ती है। जो परतंत्रता में तड़प रहे हैं वे अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के लाभों को नहीं समझ सकते। मुक्ति के आन्दोलनों की मदद करने और उनके साथ सहानुभूति दिखाने से इंकार करके हम उपनिवेशों के लोगों के मन में उन लोगों के प्रति रोष पैदा करते हैं जिनको वे सही या ग़लत तरीक़े से अपने उत्पीड़क मानते हैं। संयुक्त-राष्ट्र-संघ के प्रमुख राष्ट्रों को चाहिए कि वे उपनिवेशों में अपना अधिकार क़ायम रखने के लिए नहीं बल्कि संयुक्त-राष्ट्र-संघ को शान्तिपूर्ण परिवर्तन पैदा करने का साधन बनाने के लिए अपने प्रभाव का उपयोग करें। अगर हम उपनिवेश-

वाद का और भ्रष्टाचारी और अप्रतिनिधानात्मक शासन का, जो कि मानवीय अधिकारों का उल्लंघन और पुरानी सामन्तशाही अर्थ-नीति का अनुसरण करता है, समर्थन करते हैं, और अगर यह समर्थन सैनिक सहायता के रूप में होता है, तो विश्वशान्ति के लिए गम्भीर खतरा पैदा हो जाता है।

अगर मानवीय अधिकारों की घोषणा को अर्थहीन नहीं होना है, अगर उसे महज एक काग़ज़ी कार्रवाई नहीं होना है, तो संयुक्त-राष्ट्र-संघ को अपने आदर्शों को कार्यान्वित करना चाहिए। जो लोग जातिगत पृथक्करण के शिकार हैं उनकी कटुता बढ़ती जा रही है। जो लोग जातिगत उत्पीड़न के शिकार हैं वे अपने उत्पीड़कों से जिनके पास उच्च कोटि के वैज्ञानिक शस्त्र हैं, चाहे खुली लड़ाई न लड़ सकें, फिर भी उनसे यह उम्मीद नहीं की जा सकती कि वे अपने उत्पीड़कों को प्यार करेंगे। राष्ट्र-संघ की शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति से सम्बन्धित समिति ने हाल में जो अनुसन्धान किये हैं उनसे पता चलता है कि कोई जाति दूसरी जातियों से स्वभावतः श्रेष्ठ नहीं है या जातियों में जन्मजात विरोध नहीं है। जातियों की समस्याओं को जादू के बल से नहीं सुलझाया जा सकता, फिर भी जातियों का पृथक्करण कोई हल नहीं है। हमें चाहिए कि हम सभी जातियों के लोगों में पारस्परिक सम्मान और मैत्री की भावना भरें और किसी को किसी का शोषण न करने दें।

आजकल यह धारणा हो गयी है कि राष्ट्र-संघ अब एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था नहीं रही जो स्वतंत्र होकर काम करती हो। उसकी कार्यवाहियों पर शक्तियों के गुटों की तनातनी का प्रभाव है। राष्ट्र-संघ के आश्रय में ही राष्ट्र एक-दूसरे को गाली देने और बदनाम करने का आन्दोलन चला रहे हैं जिससे भय, घृणा और विद्वेष को प्रश्रय मिल रहा है। बदला लेने की धमकियां देना एक ऐसी

चीज़ है जो स्वतंत्र राज्यों के बीच सन्धि-वार्ता चलाने का सफल साधन शायद ही कभी हो। हमको यह मानने की ज़रूरत नहीं है कि जो लोग हमसे भिन्न विचारों के अनुयायी हैं वे हमसे भिन्न हैं या हमसे अधिक दुष्ट हैं। मूलतः हम सब बहुत कुछ समान हैं। सोवियत रूस में सरकार बहुत संगठित है और विरोधियों का वहां निर्दयतापूर्वक दमन कर दिया जाता है। हो सकता है कि हम साम्यवाद की भौतिकवादी बुनियाद से सहमत न हों या जिस उत्साह के साथ उसे लादा जाता है उसको उचित न समझें। लेकिन जिन देशों ने साम्यवाद को मान लिया है उनमें साम्यवाद का मतलब शिक्षा, अवसर और वे जीवन-परिस्थितियां हैं जो अगर कठोर भी हैं तो पहिली परिस्थितियों से अधिक कठोर नहीं हैं। साम्यवादी उन देशों में एकदम नयी सामाजिक पुनर्व्यवस्था की आवश्यकता महसूस करते हैं जिनमें ग़रीबी और विलासिता साथ-साथ पनप रही हैं। भूखे किसान या शोषित मजदूर को व्यक्तिगत और नागरिक स्वतंत्रता की बात सिखाना व्यर्थ है। उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि वह उस लोकतंत्रवादी को पसन्द करेगा जिसने पहिले उसके कष्ट की उपेक्षा की है या उसके श्रम का शोषण किया है और अब जो उसे अपनी स्थिति में सुधार के लिए अनिश्चित भविष्य की प्रतीक्षा करने को कहता है। साम्यवाद के भय ने दुनिया की परिस्थिति के बारे में और आधुनिक समाज में जो शक्तियां काम कर रही हैं उनके बारे में हमें गुमराह कर दिया है। साम्यवाद के मददगार वे अनुदार राज्य और वे प्रतिक्रियावादी व्यक्ति हैं जो दुनिया की उत्पीड़ित जनता की राजनीतिक स्वतंत्रता, सामाजिक समानता और आर्थिक प्रगति के विरोधी हैं। भूखे और परतंत्र लोगों का साम्य वाद के प्रति जो आकर्षण है वह उस हालत में बहुत घट सकता है जब लोकतंत्र अपने आदर्शों को ईमानदारी के साथ कार्यान्वित करे।

यह विश्वास कि हम सारे सत्य को जानते हैं और जो हमसे मतभेद रखते हैं वे न केवल ग़लत हैं बल्कि दुष्ट भी हैं, हमारी एक गम्भीरतम आध्यात्मिक बीमारी है। इस गतिशील दुनिया में हमें स्थिर दृष्टिकोणों से नहीं चिपके रहना चाहिए। हमें अपनी ही कठोर नीतियों के क़ैदी नहीं बनना चाहिए। कट्टरता पवित्रता की कसौटी नहीं है। 'बुराई मत देखो, अन्यथा तुम्हारी भी बुराई देखी जायगी।'

लोकतंत्रीय पद्धति भारतीयों के, जिनकी धर्म, अहिंसा और व्यक्तिगत स्वतंत्रता की परम्पराएं बहुत पुरानी हैं, मन के अनुकूल है। हमारा विश्वास है कि हम उनके साथ मित्रतापूर्वक काम कर सकते हैं जिनके दृष्टिकोण और पद्धतियां हमसे मूलतः भिन्न हैं। राष्ट्र-संघ का इरादा है कि वह उन राष्ट्रों के साथ जिनके धर्म, राजनीति और विचार-धाराएं हमसे बिल्कुल भिन्न हैं, मेल से रहने में हमारी मदद करेगा। यह सम्भव है क्योंकि हम सब मनुष्य हैं और हमारे समान स्वार्थ हैं। युद्ध के बजाय शान्ति की संस्थाओं का निर्माण करना मुश्किल काम है; इसके लिए धैर्य की ज़रूरत होती है। समझौते और सहिष्णुता की सबसे पहिले आवश्यकता है। केवल इन गुणों का निरन्तर अभ्यास करते हुए ही हम युद्ध के विनाशक शस्त्रों की जगह विवेक और सहयोग के तरीक़े प्रतिष्ठित करने की आशा कर सकते हैं। गाली-गलौज का मुक़ाबला हमें विनय से, बाधा का विवेक से, सन्देह और घृणा का विश्वास और सद्भाव से करना चाहिए। विरोधियों के दिलों को बदलने का इससे अच्छा तरीक़ा नहीं है। इस दृष्टिकोण में यह मान्यता छिपी हुई है कि प्रत्येक आदमी के अन्दर एक अच्छाई का अंश है, एक ईश्वरीय अंश है जिसे उभाड़ा जा सकता है। अगर हमारा उद्देश्य तनावों को शान्त करने का और वर्तमान शीत-युद्ध की तीव्रता घटाने

का है, अगर हमारी नीति जीवित रहने और दूसरों को जीवित रखने की और इस या उस जीवन-प्रणाली को नष्ट न करने की है, तो हमें वह लोकतंत्रीय भावना प्रदर्शित करनी चाहिए जिसकी हम दूसरों से उम्मीद करते हैं।

सर विंसटन चर्चिल ने ५ जून १९४६ को कहा था : 'एक बँटी हुई दुनिया की अपेक्षा एक संयुक्त दुनिया अच्छी है; लेकिन एक विनष्ट दुनिया की अपेक्षा एक बँटी हुई दुनिया ही अच्छी है।' कुछ समय पहिले तक वे महान् शक्तियों के एक उच्चस्तरीय सम्मेलन का जोरदार समर्थन करते रहे। सम्मेलन-कक्ष का द्वार शान्ति का द्वार हो सकता है। हो सकता है कि हम अपने विरोधियों के इरादों पर शक करें, फिर भी राष्ट्र-संघ का, जिसके कि हम सदस्य हैं, यह काम है कि वह उन्हें समझे और उनके इरादों को बदले। बाकी दुनिया बदल सकती है तो सोवियत सरकार का रुख भी बदल सकता है। सम्भव है कि साम्यवादी एक दिन समझ जायं कि जैसे कुछ भौतिक वस्तुएं ऐसी हैं जिनके बिना हम जीवित नहीं रह सकते वैसे ही कुछ नैतिक और आध्यात्मिक मूल्य ऐसे भी हैं जिनके बिना हम जीवित नहीं रहना चाहेंगे। जब वह दिन आयेगा तब साम्यवादी पद्धति अपना लोकतंत्रीकरण कर देगी।

समझदारी की एकमात्र व्यावहारिक राजनीति यह है कि हमारा व्यवहार धर्मनिष्ठ हो। गतिरोध और भय के इस युग में हमें सब धर्मों के इस आधारभूत उसूल को नहीं भूल जाना चाहिए कि बुराई पर विजय पाने का एकमात्र तरीका भलाई करना है।

भारत शक्तियों के किसी भी गुट में शामिल नहीं होना चाहता और न वह पहिले से ही किसी का साथ देने की प्रतिज्ञा करना चाहता है। वह हमेशा शान्ति, लोकतंत्र और विश्व-समाज का पक्ष ग्रहण करेगा और इस तरह से शक्तियों के मध्य खाई पैदा कर

महत्त्वपूर्ण समस्याओं के शान्तिपूर्ण समाधान में थोड़ा सा योगदान करने की आशा करता है। भारत इस बात को नहीं मानता कि प्रत्येक राष्ट्र को मौजूदा शीत-युद्ध में एक या दूसरा पक्ष लेना चाहिए। अमेरिकी संयुक्त-राज्य को अनेक एशियाई राष्ट्रों के इस रवैये से सहानुभूति रखनी चाहिए, क्योंकि उसका भी एक लम्बे अर्से तक तटस्थता और गुटबन्दी में न पड़ने का यही रवैया रहा है। दोनों विरोधी पक्षों ने भारत के पुल-निर्माण के प्रयत्न को ग़लत समझा है और उसकी नुक़्ताचीनी की है। कोरिया इसका उदाहरण है। लेकिन पुल तो एक ऐसी चीज़ है जिसका उपयोग दोनों ही पक्ष कर सकते हैं।

हम समझते हैं कि धैर्य, लगन और सबके प्रति सद्भाव के साथ शान्ति की आधार-शिला रखनी चाहिए। हम चीन की साम्यवादी सरकार को राष्ट्र-संघ में लाने के लिए ज़ोर दे रहे हैं, इसलिए कि हम समझते हैं कि इससे शान्ति का पक्ष मज़बूत होगा और राष्ट्र-संघ जितना इस समय है उससे अधिक प्रतिनिधानात्मक हो जायेगा। इससे सभी राष्ट्र-संघ के सदस्य हो जावेंगे, तनाव घटेगा और चीन के लोगों में पुनः आशा का संचार हो जायेगा।

इस समय मनुष्य-जाति एक दुर्लभ मनःस्थिति में है जो उसका दृष्टिकोण बदलने के अनुकूल है। परम्परा की बाध्यता अपना बल खो चुकी है। क्रान्ति केवल वातावरण में ही नहीं है बल्कि लोगों के हृदयों में प्रवेश कर चुकी है। हमें श्रद्धा, व्यवस्था और मानवीय गौरव, जिनके बिना कोई भी समाज अपनी एकता क़ायम नहीं रख सकता, के तत्त्वों के आधार पर नयी दुनिया का निर्माण करना चाहिए। नयी दुनिया जिसका राष्ट्र-संघ एक प्रतीक है, एक स्वप्न प्रतीत हो सकती है, फिर भी वह इस दुःस्वप्न की दुनिया से अच्छी है जिसमें हम रह रहे हैं। इस स्वप्न को वास्तविकता में परिणत

करने के लिए हमें अधिक से अधिक प्रयत्न करना चाहिए और असफलताओं से नहीं घबराना चाहिए। हमारे सभी कार्य इस आशा से नहीं होते कि हम सफल हो ही जायेंगे। सही उद्देश्य के लिए काम करते हुए असफल हो जाना गलत उद्देश्य के लिए काम करते हुए सफल हो जाने से अधिक अच्छा है। अन्त में सत्य की ही विजय होती है, असत्य की नहीं। सत्यमेव जयते, नानृतम्।

३१

यूनेस्को

(५ नवम्बर १९५६)

संयुक्त-राष्ट्र-संघ से जितनी भी समितियां सम्बन्धित हैं उनमें यूनेस्को का महत्त्व कुछ कम नहीं है, क्योंकि इसका लक्ष्य हमारे जीवन और विचार की धुरी को बदलना है। अगर मैं इसके उस काम के बारे में कहूं जो उसने पिछले दस वर्षों में शान्ति और सुरक्षा के लिए, दुनिया में सद्भावना बढ़ाने के लिए और दुनिया में शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति के स्तर को ऊंचा उठाने के लिए किया है, तो कहा जायगा कि मैं यूनेस्को की जिससे मैं इन दस वर्षों तक सम्बन्धित रहा, प्रशंसा कर रहा हूं। मैं इसे दूसरों के लिए छोड़ता हूं।

विचारकों को दुनिया की मौजूदा स्थिति को देखकर अभिमान, उलझन और भय होता है। अभिमान इसलिए होता है कि हमारी पीढ़ी ने विज्ञान और उद्योग की उन महान् उपलब्धियों का विकास किया है जो आकाश पर आधिपत्य करने, नक्षत्रों तक पहुँचने और विश्व की सीमाओं तक फैलने में हमें समर्थ बनाती हैं। हमारी सभ्यता की यह विशेषता है कि यह हमें एक विश्व-व्यापी सामाजिक व्यवस्था के लिए आधार प्रदान करती है। विश्व के इस एकीकरण की उपमा भूतकाल में कहीं नहीं मिलती। नयी परिस्थिति की चुनौती को मानने के लिए हमें सामाजिक और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के वंशक्रमागत नमूनों को नहीं दोहराना है बल्कि नये साधन ईजाद करने हैं। उलझन इसलिए होती है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के द्वारा समानता और स्वतंत्रता के उसूलों के अनुसार एक विश्व-

व्यवस्था स्थापित करने के हमारे प्रयत्न सफल नहीं हुए हैं। हम जानते हैं कि दुनिया एक है, कि हम इसे चाहे पसन्द करें चाहे न करें, राजनीतिक, राष्ट्रीय और जातीय भेदों के बावजूद हरेक की सुख-समृद्धि दूसरों की सुख-समृद्धि से जुड़ी हुई है, लेकिन जानकर भी हम इसे अपने अन्दर महसूस नहीं करते। जब हम देखते हैं कि महान् राष्ट्र दूसरों के साथ व्यवहार करने के अपने तरीक़े बदलने के लिए तैयार नहीं हैं बल्कि वे पुराने और ख़तरनाक तरीक़ों से चिपके हुए हैं, तब हम न केवल उलझन में पड़ जाते हैं बल्कि भयभीत भी हो जाते हैं। दुनिया का एकीकरण बहुत ही एकाएक हो गया है और इस बलात् लादी हुई घनिष्ठता ने पारस्परिक मत-भेदों को तीव्र कर दिया है तथा संघर्ष की सम्भावनाओं को बढ़ा दिया है। हमारे युग ने जिन समस्याओं को पैदा किया है उन्होंने हमें विमूढ़ कर दिया है, क्योंकि उन्नत राष्ट्र जिनसे हम नेतृत्व की आशा करते हैं हमें निराश कर रहे हैं। उन्होंने लीग ऑव नेशंस को नष्ट कर दिया और अगर हम सावधान न रहे और अगर जन-मत का दबाव उनको रोके नहीं, तो वे सम्भव है संयुक्त-राष्ट्र-संघ को भी तोड़ दें।

यह सोचना ग़लत साबित हुआ कि हम उत्क्रान्ति के मार्ग में हैं और न चाहते हुए भी एक अधिक अच्छी दुनिया में पहुँच जायेंगे। पिछले युग में प्रगति की अवश्यम्भाविता में हमारा विश्वास था। जब यह पृथ्वी पिघली हुई अवस्था में थी, तब कोई स्वप्न में भी नहीं सोच सकता था कि इसमें जीवन के वर्तमान रूप पैदा होंगे। धीरे-धीरे पृथ्वी ठंडी हुई, महासागर पैदा हुए और बाद में पेड़-पौधे पैदा हुए। इसमें अमीबा से शुरू करके अनन्त प्रकार के जन्तुओं में से होते हुए, सरीसृप, बन्दर, वनमानुष, आदिम मनुष्य और अन्त में सभ्य मनुष्य तक धीरे-धीरे विकास का क्रम चला। लघु दृष्टि

से देखने पर उसमें कहीं-कहीं अवनति दिखायी दे जा सकती है, लेकिन दीर्घ दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि अवनति के कालों के बावजूद इसकी प्रवृत्ति ऊर्ध्वमुखी ही रही है। इसलिए यह मान लिया जाता है कि हम अनिवार्यतः टटोलते हुए, रुक-रुककर और अनचाहे भी आगे बढ़ते हुए सभ्य जीवन की उच्चतर अवस्थाओं में पहुँचेंगे। उन्नीसवीं शताब्दी में हमारा प्रगति की अवश्यम्भाविता में दृढ़ विश्वास था। उत्क्रान्तिवाद में विश्वास करने वाले बताते हैं कि प्राकृतिक चुनाव के नियम वर्तमान अपूर्ण समाज को बदल कर एक अधिक पूर्ण समाज बना देंगे जिसमें मनुष्य उच्चतर कोटि के पैदा होंगे। इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या इस मत की पुष्टि करती है। दो महायुद्धों के बाद अब हम अपने भविष्य के बारे में उतने निश्चिन्त नहीं हैं। पहिले महायुद्ध के बाद हमने सोचा था कि हम समझदार प्राणी हैं और सभी लोगों के स्वार्थ एक ही हैं। हम सब शान्ति चाहते थे और शीघ्र ही एक नये सामाजिक संगठन को प्राप्त करने की प्रतीक्षा में थे। दूसरे महायुद्ध ने हमारी कल्पना को चूर-चूर कर दिया।

उक्त तर्क में मौलिक दोष यह है कि हम प्राकृतिक इतिहास और मानवीय इतिहास में, मनुष्य से नीचे के जीवों पर शासन करने वाले नियमों और समाज में रहने वाले मनुष्य पर लागू होने वाले नियमों में अनुचित रूप से सादृश्य देखते हैं। इसमें सन्देह नहीं है कि मनुष्य शुरू के जीव-जन्तुओं से बहुत आगे बढ़ा हुआ है, लेकिन इसका हमें यक़ीन नहीं है कि मनुष्य के सुख और सामाजिक नैतिकता में निरन्तर प्रगति हुई है। अगर हम भूतकालीन सभ्यताओं के इतिहास पर दृष्टिपात करें, तो देखेंगे कि उनमें उतार-चढ़ाव हुए हैं, ऊपर की ओर गति हुई है, समस्याएं आयी हैं, शक्ति का क्षय हुआ है, धीरे-धीरे

निरन्तर ह्रास हुआ है, और अन्त में रचनात्मक शक्तियों का लोप हुआ है।

जिस सभ्यता का हमने विकास किया है वह परिवर्तन के नियम से मुक्त नहीं है। इसकी प्रगति होगी या ह्रास होगा, यह आकाश के तारों पर नहीं बल्कि स्वयं हमारे ऊपर निर्भर है। सभ्यता मनुष्य की सृष्टि है, मनुष्य की बुद्धि और इच्छा की विजय है। आणविक क्रान्ति को लीजिये। यह मनुष्य का एक महान् प्रयत्न है। वैज्ञानिक कौशल और आदर्शों से प्राप्त नयी शक्ति के उपयोग का फल है। यह मनुष्य-कृत है। इतिहास दैवी घटना नहीं है। उसमें सच्चे विकल्प हैं। हम चुनाव कर सकते हैं, चाहे वे ग़लत हों चाहे सही। अगर हम समझदार हैं तो यह महान् औद्योगिक क्रान्ति सबकी सुख-समृद्धि का और शान्ति का कारण हो सकती है, और अगर हम नासमझ हैं तो यही सारी आशाओं और समग्र जीवन के विनाश का कारण हो सकती है। लोकसंग्रह के हमारे युगों पुराने स्वप्न के पूरे होने में जो चीज़ रुकावट डालती है वह है हमारे पुराने तरीक़े और श्रद्धा की वस्तुएं। हमें अपनी द्विविधा का ज्ञान है। जब इंसान को अपने भाग्य का ज्ञान हो जाता है तब भाग्य समाप्त हो जाता है और आदमी होश में आकर अपने भविष्य को अपने हाथ में ले लेता है।

यह संघ जानता है कि हमारे अन्दर दोष क्या है। अगर यह ज्ञान तीव्र है तो इससे अपने भविष्य को अपनी हार्दिक इच्छा के अनुसार ढालने में हमें मदद मिल सकती है। कुछ आवश्यक बातें हैं जो सभी राज्यों को करनी चाहिए :

(१) जिन सैनिक तरीक़ों में उनका शताब्दियों से विश्वास रहा है उन्हें छोड़ देना चाहिए। लगता है कि हम अभी भी उसी सैनिक-वाद से चिपके हुए हैं, क्योंकि उन्नतिशील राष्ट्र सोचते हैं कि जब तक वे उदजन बम नहीं बनायेंगे तब तक उनका आदर नहीं होगा। इस

मामले में बड़ी शक्तियों के बीच एक घृणित प्रतिद्वंद्विता चल रही है और हरेक दूसरों को यह दिखाने की कोशिश कर रही है कि आणविक अस्त्रों के निर्माण में वही अगुआ है। वे यह भूल जाते हैं कि युद्ध की परिस्थितियां इतनी बदल चुकी हैं कि जय और पराजय में अधिक अन्तर नहीं रह गया है। आणविक युद्ध में विजय नाम की चीज सम्भव नहीं है। अगर कोई राष्ट्र आणविक युद्ध शुरू करता है तो यह उसकी विध्वंसकारी बेवक़ूफ़ी होगी, क्योंकि इसका मतलब होगा एक-दूसरे का विनाश। फिर भी हम बराबर इन शैतानी अस्त्रों का निर्माण करते जा रहे हैं और मनुष्य-जाति के ऊपर भय के घने बादल फैला रहे हैं। अगर हम सोचें कि उनकी विध्वंसक शक्ति का भय हमें उनका इस्तेमाल करने से रोकेगा तो हम अपने साथ छल करेंगे। घृणा से ज़्यादा ख़तरनाक भय होता है। जिस राष्ट्र को यह भय है कि शत्रु-राष्ट्र पहिले इन अस्त्रों का उपयोग कर सकता है, वह स्वयं इस आशा से इनका उपयोग कर सकता है कि इस तरह वह अपने विनाश को टाल देगा। हमें साफ़-साफ़ समझ लेना चाहिए कि आणविक अस्त्रों को तैयार करके हम अपने को भ्रम में डाल रहे हैं। अगर युद्ध का अन्त नहीं होता तो मानव-समाज का अन्त है; और अगर मानव-समाज का अन्त नहीं होता तो युद्ध का अन्त है।

(२) दुनिया के मुक़ाबले में राष्ट्र-भक्ति का स्थान गौण होना चाहिए। पांचवीं शताब्दी ई० पू० के एक चीनी विचारक मोत्ज़ु ने अपने समय की चीन की अशान्त अवस्था का जो वर्णन किया है वह हमारी मौजूदा स्थिति पर भी लागू होता है। एक चोर अपने ही परिवार से प्रेम करता है और वह सोचता है कि उस प्रेम के खातिर वह दूसरे परिवारों को ठग सकता है और बर्बाद कर सकता है। मुखिया अपने क़बीले से प्रेम करता है और दूसरे क़बीलों का शोषण करना उचित समझता है। ज़मीन्दार अपनी ज़मीन्दारी से

प्रेम करता है और दूसरी जमीन्दारियों का शोषण करना उचित समझता है। आज हमारे ऊपर राष्ट्र-राज्यों का आधिपत्य है। राष्ट्रवाद वहां तक तो एक उपयोगी शक्ति है जहां तक वह कर्तव्य-परायणता, सार्वजनिक हित और सार्वजनिक हित के लिए स्वार्थ का बलिदान करने के ऊंचे आदर्शों की शिक्षा देता है। लेकिन यदि वह हमें ग़लत रास्ते पर ले जाता है, यदि वह हमें सिखाता है कि अपने देश का ही हम समर्थन करें चाहे वह सही रास्ते पर हो चाहे ग़लत रास्ते पर, तो वह निन्दा करने योग्य है। हम एक ऐसी स्थिति में पहुँच गये हैं जिसमें राष्ट्रवाद काफ़ी नहीं है। हमारी आवश्यकताएं और समस्याएं बीसवीं सदी की हैं। हमें सारी मानवता के प्रति वफ़ादार होना चाहिए। हमारे अन्दर यह भावना होनी चाहिए कि अगर हमारे राष्ट्रीय स्वार्थों की हानि से सम्पूर्ण मानवता का हित हो सकता है तो कोई बात नहीं है। हमें ध्यान रखना चाहिए कि हमारी राष्ट्र-भक्ति दुनिया की आध्यात्मिक एकता में बाधा न पहुँचाए।

(३) हमें व्यक्तिगत और सामूहिक अभिमान और अहंकार को त्याग देना होगा। मानवीय इतिहास में बुनियादी बुराई अभिमान अर्थात् यह भावना है कि हमें ईश्वर ने इस बात के लिए चुना है कि हम दूसरों को अपनी जीवन-प्रणाली सिखावें। यूनानी कवियों के अनुसार अभिमान सारे व्यक्तिगत और राष्ट्रीय दुःखों की जड़ है। मिस्र के सम्राटों, यूनान के शासकों, ईरान के सम्राटों, बग़दाद के ख़लीफ़ाओं और मध्ययुगीन रोम के पोपों का पतन अभिमान का ही दुष्परिणाम था। हाल में घटित उदाहरणों का उल्लेख अनावश्यक है। केवल अभिमानी लोग ही यह विश्वास करते हैं कि उनकी चतुरता और सद्गुण दूसरों पर शासन करने के लिए पर्याप्त हैं। जो अभिमान विनय की हंसी उड़ाता है वह सबसे ज्यादा

खतरनाक है। जो लोग मनुष्य के गौरव, मानवीय समानता की भावना और सब लोगों के स्वतंत्रता के अधिकार की जानबूझकर एक लम्बे अर्से तक उपेक्षा करते रहते हैं उनको शिक्षा देने का तरीक़ा ईश्वर जानता है।

आज हमको विनय की जरूरत है। हमें इस रवैये को त्याग देना चाहिए कि हम सही रास्ते पर हैं और हमारे शत्रु ग़लत रास्ते पर या हम बिल्कुल निर्दोष चाहे न हों, लेकिन फिर भी अपने शत्रुओं से निश्चित रूप से अच्छे हैं। लगता है कि हम वर्षों तक सामूहिक वध करके कठोर और हृदयहीन हो गये हैं। पिछले हफ़्ते की घटनाओं से सिद्ध हो गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में हमारा उचितानुचित का बोध बिल्कुल लुप्त हो गया है। सर्वाधिक उन्नत राष्ट्रों में बर्बरता का बहुत अंश है और पिछड़े हुए लोगों में बहुत कुछ सभ्यता है। एक समय ऐसा था जब सभ्यताएं बाहरी बर्बर लोगों के आक्रमण से नष्ट हो गयीं; हमारे युग में अन्दर के बर्बर लोगों के हाथों उनके नष्ट हो जाने का ख़तरा है। एक ऐसी नैतिक क्रान्ति की आवश्यकता है जो वर्तमान औद्योगिक क्रान्ति के उपयुक्त हो। हमें राष्ट्रों के अन्दर नये मानवीय सम्बन्धों का विकास करना होगा, बौद्धिक समानता और नैतिक एकता पैदा करनी होगी। यही यूनेस्को का मुख्य उद्देश्य है। सरकारों को यह भावना बढ़ानी चाहिए कि हम एक ही बिरादरी के सदस्य हैं जो जाति या वर्ग का भेद नहीं जानती।

यूनेस्को ने एक विश्व-चेतना के विकास के लिए बहुत कुछ किया है। उदाहरण के लिए, यूनेस्को के विशेषज्ञों के एक समूह ने यह घोषणा की है कि वे किसी भी जाति को कठिन से कठिन काम करने की योग्यता की दृष्टि से दूसरी जातियों से हीन या अयोग्य नहीं समझते। उपनिवेशवाद अपने शासन करने के अधिकार को

इस मान्यता पर आधारित करता है कि मूल निवासियों को सभ्यता के तरीक़े नहीं सिखाये जा सकते। दुनिया के प्रमुख राष्ट्रों में से अनेक ऐसे हैं जो चेतन या अचेतन रूप से अपने को श्रेष्ठ मानते हैं।

अगर सारे विश्व के प्रति वफ़ादारी की भावना को बढ़ाना है तो हमें अन्य परम्पराओं का आदर करना सीखना चाहिए। यह देश बहुत समय से आर्य और द्रविड़, हिन्दू और बौद्ध, यहूदी और पारसी, मुस्लिम और ईसाई इत्यादि अनेक संस्कृतियों का मिलन-स्थल रहा है। अब चूंकि दुनिया छोटी होती जा रही है, इसलिए हमें सभी जातियों और संस्कृतियों के इतिहास का अध्ययन करना चाहिए। अगर हम एक-दूसरे को ज़्यादा अच्छी तरह समझना चाहते हैं तो हमें अपनी पृथक् रहने और स्वयं को श्रेष्ठ समझने की भावना को त्याग देना चाहिए और यह मान लेना चाहिए कि अन्य संस्कृतियों के दृष्टिकोण भी समान रूप से सही हैं तथा उनके प्रभाव भी समान रूप से शक्तिशाली हैं। मानव-जाति के इतिहास के इस निर्णायक क्षण में हमें मानवीय प्रकृति को एक नयी दिशा में मोड़ने की ज़रूरत है। इस प्रसंग में हम यूनेस्को के उस महत्त्वपूर्ण कार्य की प्रशंसा करते हैं जिसे वह पूर्व और पश्चिम का मेल करने के हेतु कर रहा है।

आज भी पूर्वी यूरोप, पश्चिमी एशिया और अफ़्रीका में अशान्ति और संघर्ष दिखायी दे रहा है। एक और महायुद्ध होने का खतरा अभी दूर नहीं हुआ है और इसलिए हमें नम्रता और धैर्य के साथ काम करना चाहिए। हमें दिखा देना चाहिए कि जैसे व्यक्ति कभी-कभी निःस्वार्थ होकर व्यवहार करते हैं वैसे ही राष्ट्र भी निःस्वार्थ व्यवहार कर सकते हैं। हममें से हरेक का दिमाग़ समझदार और दिल प्रायश्चित्त की भावना से पूर्ण बने। मैं यक़ीन दिलाता हूँ कि तब युद्धों का प्रचलन ऐसे ही जाता रहेगा जैसे आज व्यक्तियों के द्वंद्व-युद्धों का प्रचलन जाता रहा है।

३२

विश्वबन्धुत्व : १

(कैको विश्वविद्यालय में दिया गया भाषण,
१३ जून १९५६)

यदि कोई चीज़ ऐसी है जो हमारे युग की विशेषता को प्रकट करती है, तो वह है मनुष्य-जाति की बढ़ती हुई एकता। जो बात दुनिया के एक हिस्से में होती है वह बाक़ी दुनिया पर भी असर डालती है। वह समय बहुत पहिले समाप्त हो चुका है जब एक देश दूसरे देशों के हस्तक्षेप के बिना स्वतंत्र रूप से चलता रहता था।

दुनिया के शुरू से ही पैग़म्बर लोग मनुष्य-जाति की एकता का स्वप्न देखते रहे। हिन्दू लोग कहते हैं कि तीनों लोक अपने देश हैं---स्वदेशो भुवनत्रयम्। बुद्ध ने सारी दुनिया में धर्म-राज्य स्थापित करने की बात सोची थी। कन्फ़्यूशियस ने कहा था: 'आसमान के नीचे एक परिवार हो।' ईसाई धर्म पृथ्वी पर शान्ति और सद्भावना की बात कहता है। सन्त पॉल के अनुसार हम एक-दूसरे के सदस्य हैं। सभी धर्म कहते हैं कि ईश्वर की दृष्टि में सब मनुष्य एक हैं। वे मानव-व्यक्तित्व को पवित्र मानते हैं। प्रत्येक आदमी सहज योग्यता और गौरव से युक्त है। हमारा विश्वास है कि गुरु और शिष्य, माता-पिता और सन्तान, मालिक और नौकर, सभी का सम्बन्ध प्रेम पर आश्रित होना चाहिए। आदमी घृणा और विनाश के लिए नहीं बना है बल्कि प्रेम और जीवन के लिए बना है।

स्वप्न तब तक सत्य नहीं हो सकते जब तक ऐसे भौतिक साधन उपलब्ध न हों जिनसे उनको वास्तविक बनाया जा सके।

आज विज्ञान और उद्योग की शक्तियां ऐसे भौतिक साधनों को सुलभ करती हैं।

दुनिया जितनी छोटी होती जा रही है, मनुष्य के मन को उतना ही विशाल होना चाहिए, अन्यथा संघर्ष होंगे। हम युद्धों को परिस्थितियों से पैदा होने वाले नहीं मान सकते। वे ईश्वर के काम नहीं हैं बल्कि आदमी के काम हैं। आज हमारे सामने एक चुनौती है और अगर हमें सभ्यता को बढ़ाना है तो इस चुनौती का पर्याप्त रूप से सामना करना होगा। हमें अपने विचार और जीवन की धुरी को बदलना होगा।

भूतकाल में हमारी निष्ठा सैनिक तरीक़ों में रही है। यदि हम अपने शत्रु से अधिक सैनिक शक्ति प्राप्त कर लें तो हम शान्ति को बनाये रखेंगे। यदि शत्रु चतुर है तो वह युद्ध शुरू नहीं करेगा, यदि वह बेवक़ूफ़ है और युद्ध शुरू करता है तो उसकी हार निश्चित है। इस आधार पर हम काम करते रहे हैं। मार्क्स ने कहा है कि शक्ति दाई है और पुराना समाज गर्भिणी है जिसके पेट में नया समाज भ्रूण के रूप में पनप रहा है। मार्क्स के कुछ अनुयायी कहते हैं कि शक्ति दाई मात्र नहीं है बल्कि नये समाज की मां है। कम्यूनिस्ट मैनीफ़ेस्टो में यह लिखा है: 'आज तक सारे समाज का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास रहा है।' सर विंसटन चर्चिल ने लिखा है: 'मानव-जाति की कहानी युद्ध है।' आज युद्ध-प्रणाली इतनी बदल चुकी है कि जीत और हार का निर्णय करना पहिले की तरह आसान नहीं रहा। एक आणविक युद्ध के होने का मतलब होगा हमारा और हमारे शत्रु दोनों का विध्वंस। आणविक शस्त्रों के विनाशक प्रभाव तथाकथित तटस्थ देशों पर भी पड़ेंगे और युद्ध करने वाले देशों पर भी। लड़ने वालों और देखने वालों सभी का अगले युद्ध से विनाश हो जायेगा।

कुछ लोग ऐसे हैं जो यह कल्पना करते हैं कि अगर आणविक शस्त्रों पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाय तो इस शताब्दी की पिछली दो लड़ाइयों की तरह की छोटी-मोटी लड़ाइयां लड़ी जा सकती हैं। लेकिन ऐसा प्रतिबन्ध व्यर्थ होगा, क्योंकि निरीक्षण की कोई भी प्रणाली यह विश्वास नहीं दिला सकती कि छिपे-छिपे अणु-बम नहीं बनाये जा रहे हैं। इसके अलावा अगर शत्रुता पैदा होने के समय किसी पक्ष के पास गुप्त अस्त्र न भी हों तो लड़ाई छिड़ने पर तो वे तुरन्त उनका निर्माण शुरू कर ही सकते हैं। हम मान सकते हैं कि किसी भी भावी महायुद्ध में दोनों ही पक्ष विज्ञान द्वारा आविष्कृत भयानक से भयानक और घातक से घातक शस्त्र इस्तेमाल करेंगे।

इस बात का कोई निश्चय नहीं है कि युद्ध नहीं होंगे। यह कल्पना करना ठीक न होगा कि लोग समझदार हैं और वे ग़लतियों को जानकर छोड़ देंगे तथा ऊंचे विचार अपनायेंगे। अगर स्नायुओं में रगड़ होती है और मिज़ाज तेज़ है तो विवेक काम नहीं करता। अगर युद्ध से होने वाला व्यापक विध्वंस हमें युद्ध में रत होने से रोकता है, तो विरोधी स्वार्थों के बीच समझौता करने के लिए अन्य उपायों का अवलम्बन करना होगा। शान्ति और सैनिक तैयारी साथ-साथ नहीं रह सकतीं। यह सम्भव नहीं है कि हम लड़ाई की तैयारी भी करते रहें और साथ ही शान्ति क़ायम करने का प्रयास भी करते रहें। एक नयी क़िस्म की वैदेशिक नीति अपनानी होगी जो युद्ध या युद्ध की धमकी पर निर्भर न हो। नये उसूलों और नये साधनों को ढूंढ़ना होगा।

आत्म-विध्वंस की असीम शक्ति का दुनिया में होना हमें मनुष्य बनने और अध्यात्मवाद को अपनाने के लिए प्रेरित करता है। आदमी के अन्दर आत्म-रक्षा की सहज प्रवृत्ति होती है, इसी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर हमने प्रथम महायुद्ध के बाद लीग ऑव

नेशंस की और दूसरे महायुद्ध के बाद संयुक्त-राष्ट्र-संघ की स्थापना की। इस संघ और इसकी विशिष्ट समितियों को बहुत से श्रेय प्राप्त हैं, लेकिन आधारभूत राजनीतिक झगड़ों के बारे में हमारी आशाएं अभी पूरी नहीं हो पायी हैं। संयुक्त-राष्ट्र-संघ की असफलताओं के क्या कारण हैं?

१. इसमें सब राष्ट्र शामिल नहीं हैं।

२. यह गुटों में बँटा हुआ है। राष्ट्र-संघ में झगड़ों का निपटारा न्याय के अनुसार नहीं होता बल्कि गुटों के दबाव से होता है।

३. यह सफलता के साथ शान्तिपूर्ण परिवर्तन नहीं पैदा कर रहा है। एशिया और अफ़्रीका में मुख्य समस्याएं अब भी वही ग़रीबी, भूख और बेकारी की बनी हुई हैं।

राष्ट्र-संघ में सबको शामिल होना चाहिए। जितने भी राष्ट्र ऐसे हैं जिनकी अपने-अपने क्षेत्रों में शक्तिशाली और मान्यता-प्राप्त सरकारें हैं, वे अगर संयुक्त-राष्ट्र-संघ के चार्टर को मानने के लिए तैयार हैं, तो उन्हें संघ में आने देना चाहिए। यह सन्तोष की बात है कि पिछले साल सोलह देशों को राष्ट्र-संघ में प्रवेश दिया गया। चीन जैसा एक विशाल देश अब भी इससे बाहर है। चीन के साथ हमें अनेक सन्धि-वार्ताएं करनी पड़ती हैं और जब तक चीन राष्ट्र-संघ में शामिल नहीं होता तब तक इन सन्धि-वार्ताओं को राष्ट्र-संघ से बाहर ही चलाना पड़ेगा। इससे राष्ट्र-संघ की उपयोगिता घट जाती है। अतः यह आवश्यक है कि राष्ट्र-संघ सच्चे अर्थ में एक विश्व-संघ बने। चीन, जापान और अन्य सुस्थापित सरकारों को राष्ट्र-संघ में स्थान मिलना चाहिए।

पूर्व और पश्चिम के संघर्ष ने राष्ट्र-संघ की समुचित कार्यवाही में रुकावट डाली है। सैनिक सन्धियां और गुटबन्दियां हमेशा ख़तरनाक होती हैं; इस समय जबकि आणविक शस्त्रों का इतना

अधिक विकास हो चुका है, वे मानव-जाति के लिए घातक हैं। अगर हम शस्त्रों का ढेर इकट्ठा करते जावें और लोगों के मन में युद्ध की बात भरते रहें, तो इसका मतलब है कि हम स्वयं को युद्ध के खतरे में डाल रहे हैं। अत्यधिक सम्पन्न और लोकतंत्रीय राष्ट्र लोकतंत्र-विरोधी और राष्ट्र-संघ के चार्टर की विरोधी नीति अपनाये हुए हैं। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद ही हमने आत्म-निर्णय के अधिकार की घोषणा की थी। राष्ट्र-संघ का चार्टर छोटे-बड़े सभी राष्ट्रों को स्वतंत्रता का अधिकार देता है। लेकिन राष्ट्र-संघ में जिन लोगों का प्रभाव है वे एशियाई और अफ्रीकी राष्ट्रों की मांगों के साथ सहानुभूति रखने की स्थिति में नहीं हैं। उत्पीड़ित देशों की आजादी की न्यायपूर्ण मांगों की अपेक्षा शीत-युद्ध को बनाये रखने की अधिक चिन्ता की जाती है। शीत-युद्ध में विपक्षी को नीचा दिखाने के लिए औचित्य का विचार त्याग दिया जाता है। लोकतंत्रीय राष्ट्र अपने विश्वासों के बावजूद एशियाई और अफ्रीकी लोगों की आजादी की मांग का तथा लैटिन अमेरिका और एशिया के लोगों की अपनी वर्तमान आर्थिक दासता से मुक्ति की मांगों का विरोध करते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अमेरिकी संयुक्त राज्य जो कि पहिले एक उपनिवेश था और बाद में संघर्ष करके आजाद हुआ, परतंत्र लोगों और उपनिवेशों की मुक्ति की आकांक्षाओं से सहानुभूति रखता है, लेकिन वह एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रवादी लोगों से सहानुभूति प्रकट करने में असमर्थ है, क्योंकि वह अपने मित्रराष्ट्रों को उलझन में डालना नहीं चाहता। इस दुमुँही नीति के कारण उसने अपने कई पूर्वी मित्र खो दिये हैं।

शुरू में राष्ट्र-संघ इस उद्देश्य से बनाया गया था कि वह झगड़ों का शान्तिपूर्ण तरीक़े से निपटारा करेगा और अपने निर्णयों को लागू करने के लिए उसके पास सम्भवतः सैनिक शक्ति भी रहेगी।

ज्यों-ज्यों शीत-युद्ध बढ़ा त्यों-त्यों वह एक ऐसा सामूहिक सैनिक साधन हो गया जिसका उपयोग आक्रमणकारी राष्ट्रों के विरुद्ध किया जा सके। बीच-बचाव करने और झगड़ों के शान्तिपूर्ण निब-टारे के अपने काम को छोड़कर उसने सामूहिक सुरक्षा का तरीक़ा अपनाया। यह तरीक़ा भी केवल तभी लागू किया गया जब शक्ति-शाली गुटों ने मांग की। कोरिया में सामूहिक कार्यवाही की गयी ग्वाटेमाला में नहीं की गयी, हालांकि दोनों ही जगह आक्रमण हुआ था। राष्ट्र-संघ शान्ति और सुरक्षा में वृद्धि तो करना चाहता है लेकिन चार्टर के उद्देश्य के अनुसार एक-दूसरे पर रोक लगाने के लिए सहयोगपूर्ण प्रयत्न के द्वारा नहीं बल्कि एक-दूसरे के विरोधी गुटों में अनिश्चित सन्तुलन करके।

अगर भारत और कुछ अन्य राष्ट्र दो गुटों में से किसी एक में शामिल नहीं होना चाहते, तो इसका मतलब यह नहीं है कि वे उचित और अनुचित के बीच चुनाव करने के इच्छुक नहीं हैं। हम शान्ति, लोकतंत्र और राष्ट्र-संघ के चार्टर के पक्ष में हैं। अगर हम समझते हैं कि युद्ध का मतलब सबका विनाश है, तो हमें अपनी समस्याओं को शान्तिपूर्ण तरीक़े से सुलझाने के लिए दूना प्रयत्न करना चाहिए। झगड़े का समझौते से निबटारा करना उसे जारी रखने की अपेक्षा दोनों पक्षों के लिए अधिक लाभदायक है। अगर ऐसी शक्तियां जो किसी भी गुट में शामिल न हों, इस समय न भी हों तो ऐसी शक्तियों को पैदा करना होगा। हम भले और बुरे में मेल कराना चाहते हैं और यह असम्भव नहीं है। हम उन सब से जिनका आणविक शस्त्रों पर अधिकार है, इन शस्त्रों को त्यागने की प्रार्थना करते हैं। हम महसूस करते हैं कि गुटों के विरोध को विनाशकारी युद्ध से नहीं बल्कि शान्तिपूर्ण तरीक़ों से शान्त करना चाहिए। हमारा विश्वास है कि अलग-अलग राजनीतिक पद्धतियों

वाले राष्ट्र साथ-साथ रह सकते हैं। हमें विश्वास है कि शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व तानाशाही देशों को व्यक्ति का गौरव समझना और नागरिक स्वतंत्रता का महत्त्व सिखायेगा, तथा लोकतंत्रवादी देशों को सामाजिक न्याय, जातियों के ऐक्य और राजनीतिक स्वतंत्रता की अधिक चिन्ता करना सिखायेगा। भारत ने जो लोकतंत्रीय दृष्टिकोण अपनाया है वह इस बात का काफ़ी पक्का सुबूत है कि हम शान्ति और युद्ध दोनों से अलग नहीं हैं। हम असन्दिग्ध रूप से लोकतंत्र और शान्ति के पक्ष में हैं। हमें दुःख है कि लोकतंत्र लोकतंत्र के आदर्शों को क्रियान्वित नहीं कर रहे हैं और कुछ स्थिर धारणाएं बनाये हुए हैं। वे उत्पीड़ितों का पक्ष लेने के बजाय वर्तमान स्थिति के संरक्षक ही अधिक मालूम पड़ते हैं। लाखों आदमी आदिम परिस्थितियों में रह रहे हैं, भूख और बीमारी से पीड़ित हैं और आधुनिक विज्ञान से प्राप्त सुविधाओं के उपभोग से वंचित हैं। हम अस्त्र-निर्माण में कमी करने और इस प्रकार अपरिमित आर्थिक बोझ को घटाने तथा युवकों के जीवन को विनाश के उद्देश्य को पूरा करने वाले व्यवसाय से हटाने के लिए तैयार नहीं हैं।

सोवियत संघ में हाल में जो घटनाएं हुई हैं उनसे सूचित होता है कि उसकी पद्धति अब भी लचीली है, अपने चरम रूप को प्राप्त नहीं हुई है। वहां नये परिवर्तन हो रहे हैं। सोवियत लोग अन्य आर्थिक और राजनीतिक पद्धतियों के प्रति अपनी कट्टर असहिष्णुता का त्याग करते प्रतीत होते हैं। वे समझ रहे हैं कि समाज की समाजवादी व्यवस्था को लाने के लिए गैर-साम्यवादी तरीके भी अपनाये जा सकते हैं। जो उदारवादी प्रवृत्तियां इस समय धीरे-धीरे अपने को प्रकट कर रही हैं उनको शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व से प्रोत्साहन मिलेगा। अगर हम एक नयी सामाजिक व्यवस्था के

लिए, एक सहयोगपूर्ण विश्व-समाज के लिए काम करते हैं, तो साम्यवाद और पूंजीवाद को उसके वैकल्पिक साधन मानना चाहिए और दोनों के ही गुण-दोष पर ध्यान देना चाहिए। जब वे परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया करेंगे, तब उनके दोष हट जायेंगे। और कालान्तर में न्याय और स्वतंत्रता की एक नयी व्यवस्था स्थापित हो जायेगी।

आज हमें विनय की आवश्यकता है। हमें इस रवैये को छोड़ देना होगा कि हम सही रास्ते पर हैं और हमारे विरोधी ग़लत रास्ते पर, या यद्यपि हम पूर्णतः निर्दोष नहीं हैं तथापि अपने विरोधियों से निश्चय ही अच्छे हैं। नैतिक श्रेष्ठता की भावना को हमें छोड़ देना होगा। हमें समझ लेना होगा कि हम भय के, असीमित अहंकार के दास हैं। 'तुममें से जो निष्पाप है वह पहिला पत्थर मारे।'

संयुक्त-राष्ट्र-संघ को शान्तिपूर्ण तब्दीलियों का साधन होना चाहिए। केवल समानता और पारस्परिक हित के आधार पर ही दुनिया के सब लोगों का सहयोग सम्भव है। हम न केवल अपनी बल्कि दूसरों की स्वतंत्रता में भी विश्वास करते हैं। किसी भी राष्ट्र को दूसरों का उत्पीड़न नहीं सहना चाहिए। किसी को भी अपनी ग़रीबी की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। जो लोग लोकतंत्र में विश्वास करते हैं वे सब यह दावा करते हैं कि वे राजनीतिक या आर्थिक शोषण में या जातिगत भेद-भाव में आस्था नहीं रखते। फिर भी जब संयुक्त-राष्ट्र-संघ में सवाल उठते हैं, जब उत्पीड़ित राष्ट्रों की आजादी के लिए या जातिगत भेद-भाव को मिटाने के लिए प्रस्ताव बनाये जाते हैं, तब लोकतंत्र उनका समर्थन करने में हिचकते हैं। वे या तो इन प्रस्तावों का विरोध करते हैं या अपना मत प्रकट ही नहीं करते। अगर ग़ुलाम राष्ट्र लोकतंत्रों की सद्भावना पर सन्देह करते हैं, तो उन्हें दोष देना व्यर्थ है। अगर दुनिया में शान्ति कायम

करनी है, तो यह केवल राजनीतिक स्वतंत्रता, जातियों के मेल और आर्थिक न्याय के आधार पर ही सम्भव है। जो लोग संयुक्त राष्ट्र-संघ के चार्टर को मानते हैं उन्हें उपनिवेशवाद और जातिगत उत्पीड़न का विरोधी होना चाहिए। दुर्भाग्य से राष्ट्रीय निःस्वार्थता व्यक्तिगत निःस्वार्थता की अपेक्षा कहीं अधिक कठिन है। जो व्यक्ति निःस्वार्थ हैं वे भी जब अपनी सरकार में उच्च पद पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं तब निःस्वार्थता का व्यवहार नहीं करते। वे 'मेरा देश है चाहे सही रास्ते पर हो चाहे ग़लत रास्ते पर' वाली कहावत को चरितार्थ करते हैं। विश्व-संप्रदाय की भावना का विकास अभी हमारे अन्दर नहीं हुआ है।

पूर्व और पश्चिम के संघर्ष को इस तथ्य के कारण बल मिलता है कि दुनिया की आधी आबादी भूखी है और उसका जीवन-मान निम्नतम से भी गिरा हुआ है। एशिया में लोग जाग गये हैं। अफ्रीका में लोग जाग रहे हैं।

लड़ाई की जड़ सामूहिक भूख और अन्य सामाजिक बुराइयां हैं। बजाय सैनिक शक्ति बढ़ाने की होड़ के हमें आर्थिक और सामाजिक नेतृत्व के लिए होड़ करनी चाहिए। अपने ही स्वार्थ को ध्यान में रखते हुए न कि भय या दोषी होने की भावना से प्रेरित होकर, उन्नत राष्ट्रों को पिछड़े हुए राष्ट्रों की मदद करनी चाहिए, क्योंकि शान्ति अन्ततः लाखों बीमार और भूखे लोगों के जीवन के स्तर को उठाने पर निर्भर करती है और अगर हम शान्ति चाहते हैं तो हमें जरूरतमन्दों की सेवा करनी चाहिए। हमें सब राष्ट्रों की पारस्परिक निर्भरता पर विश्वास करना चाहिए। राष्ट्र-वाद काफ़ी नहीं है। हमें एडिथ कैवेल के उन शब्दों को याद रखना चाहिए जो उसने तब कहे थे जब जर्मनों ने उसे १९१५ के अक्तूबर में गोली का निशाना बनाया था : 'यहां खड़ी होकर ईश्वर

का ख़याल करके मैं समझती हूं कि देश-भक्ति काफ़ी नहीं है। मेरे अन्दर किसी के प्रति घृणा या कटुता की भावना नहीं होनी चाहिए।'

हमें मानव-स्वभाव को बदलना होगा ताकि उसकी सहानुभूति और कल्पना अधिक व्यापक हो सके। हमें लोगों को सिखाना चाहिए कि वे दूसरों के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझें। हमें कहना चाहिए कि सत्य की विजय होती है और प्रेम अमर होता है। बल-प्रयोग के तरीक़ों का हमें त्याग करना चाहिए। 'तुमने सुना है कि अपने पड़ोसी से प्रेम और शत्रु से घृणा करो। लेकिन मैं तुम्हें कहता हूं कि अपने शत्रु से प्रेम करो. . .।' (मैथ्यू ५.४३-४४) कोई भी राष्ट्र आज की दुनिया में स्वाधीन होकर नहीं रह सकता। हम सब एक-दूसरे पर आश्रित हैं। हमें मैत्री और सहयोग से काम करना चाहिए। दुनिया का भाईचारा हमारा सर्वोच्च आदर्श है। यह केवल तभी सम्भव है जब हम शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के उसूल पर चलें। अपने घरेलू मामलों को सुलझाने में राष्ट्रों को पूरी तरह आज़ाद होना चाहिए। वे स्वयं ही उस शासन-पद्धति का विकास कर लेंगे जो उनकी प्रतिभा के अनुकूल होगी। छिपे हुए या प्रकट सैनिक या राजनीतिक आक्रमण से उनकी रक्षा होनी चाहिए। हम संघर्ष में नहीं बल्कि सहयोग में, घृणा में नहीं बल्कि प्रेम में विश्वास करते हैं। हमारे मामलों पर बल का नहीं बल्कि विवेक का आधिपत्य होना चाहिए।

लोकतंत्रीय राज्य की तरह लोकतंत्रीय विश्व में भी हमें अपने झगड़ों को समझौते और बातचीत से निपटाना चाहिए, तथा परस्पर आदान-प्रदान की प्रक्रिया से विरोधी स्वार्थों में एकता लाने वाले निर्णयों पर पहुँचना चाहिए। इस युग के झगड़े-झंझटों से एक ऐसी नयी सामाजिक व्यवस्था का उदय हो सकता है जिसका आधार नैतिक उसूल और आध्यात्मिक मूल्य हों तथा जो विरोधी

जातियों और अलग-अलग परम्पराओं को एकता प्रदान करे। हम विश्व-संप्रदाय के सदस्यों की तरह रहने की स्थिर आदतें विकसित कर सकते हैं। समान चेतना और समान बुद्धि से हम दुनिया में शान्ति और समृद्धि का साम्राज्य स्थापित कर देंगे। तब राष्ट्रों के युद्ध उसी तरह अप्रचलित हो जायेंगे जिस तरह अब व्यक्तियों के द्वंद्व-युद्ध अप्रचलित हो गये हैं।

३३

विश्वबन्धुत्व : २

(४ जून १९५६)

यद्यपि आकार और आबादी की दृष्टि से आपका देश कुछ छोटा है, तथापि आपने साहित्य और कलाओं में उल्लेखनीय अभिवृद्धि की है। आपके प्रमुख लेखकों को, विशेष रूप से मेटरलिंक को और कवि वेरहेरां को मेरे देशवासी खूब जानते हैं। चित्र-कला पर आपके देश की कला का जो प्रभाव पड़ा है वह यूरोप तक ही सीमित नहीं है। आपने केवल ललित कलाओं और साहित्य में ही दुनिया को प्रभावित नहीं किया है। यद्यपि आपको प्राकृतिक स्रोतों से अधिक प्राप्ति नहीं होती, तथापि अपने परिश्रम और उद्यम से आपने दुनिया के व्यापार में बहुत ऊंचा स्थान प्राप्त किया है। बेल्जियम एक बड़ा औद्योगिक देश है; इस्पात, सीसे और कपड़े के उद्योगों में इसने विशेष उन्नति की है। सबसे अधिक उल्लेखनीय बात यह है कि आपने लोकतंत्रीय पद्धति से अपनी आर्थिक दशा का विकास किया है। हम भी भारत में लोकतंत्रीय विधियों से जनहितकारी राज्य का निर्माण करना चाहते हैं और उसके लिए कोशिश कर रहे हैं। आपके यहां की लोकतंत्रीय परम्परा बहुत पुरानी और दृढ़ है। वह मध्य-युग से शुरू होती है जब यहां ब्रूग्ज, घेण्ट, लीज इत्यादि स्वतंत्र नगर थे। चौदहवीं शताब्दी में आपने एक चार्टर के द्वारा सबको क़ानूनी स्वतंत्रता और समानता प्रदान की थी। आप भूतकाल में कई परिवर्तनों में से गुजरे हैं और आपका लोकतंत्र दो महायुद्धों के उतार-चढ़ावों के बाद भी जिन्दा है।

आपने विभिन्न विचार-धाराओं में न उलझकर अपने लोक-तंत्र की मजबूती को क़ायम रखा है। यह न केवल राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से मजबूत है बल्कि बौद्धिक और नैतिक दृष्टि से भी मजबूत है। लोकतंत्र को ठीक से चलाने के लिए अन्य प्रकार की सरकारों को चलाने के लिए जो गुण चाहिए उनसे अधिक गुणों की आवश्यकता होती है। विश्वविद्यालयों में ही हम सच्ची लोकतंत्रीय भावना का विकास कर सकते हैं, अन्य दृष्टिकोणों को समझने की योग्यता प्राप्त कर सकते हैं, मतभेदों को वाद-विवाद से मिटाना सीख सकते हैं। व्यक्तिगत उत्तरदायित्व और निर्णय के द्वारा लोकतंत्रीय भावना को स्वस्थ और शक्तिशाली बनाये रखा जा सकता है। विश्वविद्यालयों में हम अतीत के संघर्षों को याद करते हैं और वर्तमान के खतरों, सम्भावनाओं, चुनौतियों और अवसरों को समझते हैं।

विज्ञान और उद्योग ने हमारे लिए सार्वजनिक सुख-समृद्धि को सुलभ बना दिया है। धर्म के उपदेशकों ने बहुत पहिले इंसानों के भाईचारे का और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का स्वप्न देखा था, लेकिन इन आदर्शों को कार्यान्वित करने के लिए शक्तियां अब उपलब्ध हुई हैं। इन आदर्शों को पूरा करने के लिए हमें इंसा-नियत और समझदारी की ज़रूरत है। मनुष्य-जाति का भविष्य मनुष्य के भविष्य पर, उसकी भावना पर, अपनी समस्याओं को हल करने के उसके तरीक़े पर निर्भर है। अगर वह शक्ति में विश्वास करता है और सैनिक तरीक़ा अपनाता है तो भविष्य सचमुच निराशा-जनक है; लेकिन अगर इसके विपरीत वह आत्मा में विश्वास करता है तो वह सुख-समृद्धि प्राप्त करेगा।

रॉयल सोसाइटी के प्रधान प्रोफ़ेसर एड्रियन ने विज्ञान और मानवीय प्रकृति के ऊपर भाषण करते हुए कहा था कि अब

प्राकृतिक शक्तियों के ऊपर मनुष्य का आधिपत्य इतनी पूर्णता को पहुँच चुका है कि 'हम शीघ्र ही दुनिया का दो-तिहाई हिस्सा एक बटन दबाने मात्र से नष्ट कर सकेंगे।' इस नियंत्रण के कारण अब यह ज़रूरी हो गया है कि हम सभ्य जीवन की कलाओं की अधिक जानकारी करके अपनी प्रकृति में सुधार करें। प्रो० एड्रियन ने कहा : 'अगर हम मानवीय व्यवहार की सूक्ष्मताओं को अधिक अच्छी तरह से समझ सकें तो शायद हम अपना सुधार अधिक शीघ्रता से कर सकें।' हमें यह ध्यान रखना है कि प्राकृतिक विज्ञान हमें प्राकृतिक शक्तियों पर नियंत्रण करने की योग्यता देते हैं, लेकिन सामाजिक विज्ञान हमें मानवीय प्रकृति पर नियंत्रण करने की योग्यता नहीं देते। सामाजिक विज्ञान हमें तथ्य और आंकड़े देते हैं। सामाजिक छानबीनें महत्त्वपूर्ण तो हैं लेकिन वे हमें आदर्श और लक्ष्य नहीं देतीं। प्रो० एड्रियन ने माना है : 'हमारा डर ठीक ही है। हमें शान्ति से कार्य करने के लिए अपने ऊपर विश्वास नहीं है। क्योंकि हम जानते हैं कि जब तक हम अपनी पुरानी आस्थाओं में से कुछ को छोड़ने के लिए तैयार नहीं होंगे तब तक हम एक ऐसे युद्ध में शामिल होने के लिए बाध्य किये जा सकते हैं जो मानव-जाति को नष्ट कर सकता है। हमारा संकट हमारी जिज्ञासा का और जिस दुनिया में हम रहते हैं उसकी भौतिक प्रकृति का अवश्यम्भावी परिणाम है, लेकिन अगर हम अपने व्यवहार को अपने बढ़े हुए ज्ञान के योग्य बना सकें तो हम शान्तिपूर्वक रह सकते हैं।' सामाजिक विज्ञान हमें बताते हैं कि कैसे आदमी समाज में व्यवहार करते हैं, लेकिन इस ज्ञान का उपयोग भले के लिए भी किया जा सकता है और बुरे के लिए भी। हमें दर्शन और धर्म से, साहित्य और कला से पथ-प्रदर्शन लेने की जरूरत है। दुर्भाग्य से एक ग़लत धारणा यह पैदा हो गयी है कि विज्ञान

उन विद्याओं के अनुकूल नहीं है जो इंसानियत और समझदारी सिखाती हैं।

आपका देश कैथोलिक धर्म को मानता है और इसलिए आप मानते हैं कि दुनिया की सबसे बड़ी आवश्यकताएं, न्याय, दानशीलता और दया, धर्म से मिलती हैं। इंसान एक जैविक या आर्थिक जन्तु नहीं है। वह एक आध्यात्मिक प्राणी है। वह दुनियावी चीज़ों से सन्तुष्ट नहीं होता। हिन्दू, बौद्ध, यहूदी, ईसाई, मुसलमान और सिक्ख धर्म के महान् उपदेशकों ने हमें पृथ्वी में शान्ति क़ायम रखने का उपदेश दिया है। यही आदमी की आध्यात्मिक खोज का सार है। मनुष्य-जाति की एकता एक पुराना आदर्श है और इसे प्राप्त करने के लिए जो बड़े युद्ध लड़े गये हैं वे ग़लत साधन हैं।

विश्वविद्यालयों का सबसे बड़ा काम अन्तर्राष्ट्रीय समझौते और शान्ति को बढ़ाना है। उनमें ही हमको सोचने और महसूस करने के नये तरीक़ों का विकास करना है। १८८८ में फ़्रांस के लुई पास्तुर ने कहा था :

> 'इस समय मुझे दो विरोधी उसूलों की प्रतिद्वंद्विता दिखायी दे रही है। एक रक्त और मृत्यु का उसूल है जो प्रति दिन विनाश के नये तरीक़े ईजाद कर रहा है और राष्ट्रों को हमेशा युद्ध के लिए तैयार रहने के लिए बाध्य करता है। दूसरा शान्ति, परिश्रम और स्वास्थ्य का उसूल है जिसका एकमात्र उद्देश्य आदमी को उन आपदाओं से बचाना है जिनमें वह पड़ा हुआ है. . इनमें से किस उसूल की विजय होगी, यह ईश्वर ही जानता है। लेकिन इतना निश्चित है कि विज्ञान इंसानियत के उसूल पर चल रहा है और जीवन की सीमाओं को बढ़ाने के लिए हमेशा काम करता रहेगा।'

अगर हम अपने दिमाग़ नहीं बदल सकते तो हम किसी भी

चीज को नहीं बदल सकते। राजनीतिज्ञों के कार्य घटनाओं को नहीं बदल पायेंगे। राजनीतिक इतिहास की सतह के नीचे जो छिपी हुई धाराएं लगातार बह रही हैं और जिनके परिणामों की भविष्य-वाणी करना असम्भव है वे घटनाओं को बदलेंगी। इन छिपी हुई धाराओं को केवल विचारों में परिवर्तन करके ही प्रभावित किया जा सकता है। विचारों को बदलने का तरीक़ा यह है कि सत्य का कथन किया जाय, भ्रम को दूर किया जाय, घृणा को समाप्त किया जाय और लोगों के दिल और दिमाग़ को उदार और विशाल बनाया जाय।

विज्ञान हमें ऐतिहासिक नियतिवाद को मानने के लिए बाध्य नहीं करता। एच० ए० एल० फ़िशर ने इतिहासकार के लिए एक ही सुरक्षित नियम बताया है और कहा है कि हमें मानवीय घटनाओं के विकास में आकस्मिक और अज्ञात तत्वों का हाथ मानना चाहिए। घटनाएं अनिवार्य नहीं होतीं। उनके अपरिवर्त-नीय पूर्व-निर्धारित नमूने नहीं होते। मनुष्य के दिमाग़ों और कामों पर विचारों और विश्वासों का जो प्रभाव पड़ता है वह उपेक्षणीय नहीं है। विचारों का अपना अलग ही जीवन होता है। जब वे आक-स्मिकताओं और व्यक्तित्वों के भँवर में पड़ते हैं तो विकसित हो जाते हैं या अपनी शक्ल बदल देते हैं। अगर हम उस आदमी को मिटा देते हैं जो नये विचारों का प्रचार करता है, अगर हम विचार-शक्ति को दबा देते हैं, अगर हम मनुष्य की आत्मा का गला घोट देते हैं, अगर हम उसकी स्वतंत्रता को नष्ट कर देते हैं, तो हम लोकतंत्रवादी नहीं हैं। जो कुछ आदमी कर चुका है उसे मिटा भी सकता है। मनुष्य-जाति का भविष्य केवल तभी सुरक्षित रह सकता है जब हर आदमी इसके लिए प्रयत्न करे।

विश्वविद्यालय के लोगों को अपने विचारों का देश और काल

में विस्तार करना चाहिए। जो लोग जाति और धर्म की दृष्टि से हमसे भिन्न हैं वे भी इंसान हैं। वे हमारी ही तरह हैं, हमसे ज़्यादा भिन्न नहीं हैं। हमें अपने युवकों को सिखाना चाहिए कि मनुष्य-जाति का एक समान लक्ष्य है और सब इंसान भाई हैं। दुनिया के सबसे बड़े आदमी अपनी इंसानियत और भ्रातृ-भावना के कारण बड़े हैं, ज्ञान, प्रेम और सौन्दर्य के आदर्शों के अपने प्रेम के कारण बड़े हैं। वे मनुष्यों का निर्माण करने वाले हैं। विश्वविद्यालयों में हम उन महापुरुषों की पूजा करते हैं जिन्होंने मनुष्य-जाति का कल्याण किया है और जो हिंसा और रक्तपात से दूर रहे हैं। बुद्ध, सुकरात, ईसा ऐसे ही महापुरुष हैं। इन्होंने हमें शत्रु से प्रेम करने का उपदेश दिया।

विज्ञान और विद्वत्ता सारी दुनिया की चीज़ें हैं। इन पर किसी युग-विशेष या संप्रदाय-विशेष का अधिकार नहीं है। ये राष्ट्रों की सीमाओं में नहीं बँधते। वे सभी लोग भाई हैं जिन्होंने विद्या की सेवा में अपने को अर्पित कर दिया है। वे सब साहित्यिक गण-राज्य के सदस्य हैं। ज्ञान की वृद्धि और मनुष्य-जाति के विकास का गहराई से अध्ययन करने में हमें एक दूसरे की मदद की ज़रूरत है। मैं आशा करता हूं कि यह महान् विश्वविद्यालय अपनी उदार परम्परा को जारी रखेगा तथा आपके देश की तरक़्क़ी और विश्व के कल्याण के लिए प्रयत्न करता रहेगा।

३४

पृथिवी पर एक परिवार हो

(कीव रेडियो से प्रसारित, २५ जून १९५६)

यदि अल्प परिचय के आधार पर कुछ कह सकना सम्भव हो तो कहा जा सकता है कि सोवियत लोग परिश्रमी, मैत्रीपूर्ण, अच्छे स्वभाव वाले और सीखने के उत्सुक हैं। उन्हें अपने देश पर बड़ा अभिमान है और उसके भविष्य में आस्था है। शान्ति के लिए उनका प्रेम सच्चा है।

एशियाई गणतंत्रों ने जो उल्लेखनीय आर्थिक प्रगति की है उसका किसी भी निष्पक्ष दर्शक पर प्रभाव पड़े बिना न रहेगा। यदि हम उनकी तीस वर्ष पूर्व की स्थिति की आज की स्थिति से तुलना करें तो हम देखेंगे कि ये गणतंत्र इतनी तरक़्क़ी कर चुके हैं कि पहिचाने नहीं जा रहे हैं। निस्सन्देह आर्थिक प्रगति ही सब कुछ नहीं है। यदि उच्चतर बौद्धिक और आध्यात्मिक मूल्यों का इस पर नियंत्रण न हो तो इसकी प्रतिक्रियाएं पैदा होने लगती हैं जिनका दुष्परिणाम आध्यात्मिक अशान्ति और दरिद्रता में प्रकट होता है। मैं क्षमा चाहता हूं अगर मैं मठों और भिक्षुओं के इस नगर में उन विद्याओं का उल्लेख करूं जो आत्मा का मानवीकरण करती हैं। मैं ऐसा करना चाहूंगा, क्योंकि इस मामले में सोवियत रवैए के बारे में काफ़ी मतभेद है।

सोवियत लोग वैज्ञानिक विधि को अपनाते हैं और सत्य को व्यक्ति-निरपेक्ष चीज़ मानते हैं जिसके अन्वेषण में आदमी को निष्पक्ष भाव से लगना चाहिए। चित्र-कला और स्थापत्य, संगीत

और नृत्य, वास्तुकला और साहित्य को उन्होंने जो प्रोत्साहन दिया है उससे उनकी सौन्दर्योपासना प्रकट होती है। साधारण आदमी के जीवन को सम्पन्न बनाने की, मानव-जीवन को सुविधाओं से पूर्ण, स्वतंत्र, समृद्ध और गौरवपूर्ण बनाने के लिए परिस्थितियों को पैदा करने की उनकी जो उत्सुकता है वह उनके आधारभूत मानवहितवाद का उदाहरण है। सत्य, शिव और सुन्दर के आदर्श मन की कल्पनाएं नहीं हैं। ये मानस-बाह्य मूल्य हैं जिनकी मनुष्य को पृथ्वी पर स्थापना करनी है। हममें से कई ईश्वर को सत्यं, शिवं, सुन्दरं और शान्तं मानते हैं।

कभी-कभी हमें कहा जाता है कि साम्यवाद धर्म का महान् शत्रु है और हमें उसके विरुद्ध धर्म-युद्ध करना चाहिए। लेकिन ऐसा कहने वाले यह भूल जाते हैं कि साम्यवादी जिस धर्म का विरोध करते हैं वह अविश्वसनीय सिद्धान्तों पर आधारित धर्म है जो आदमी-आदमी में भेद करता है, जो आदमी को अकर्मण्य बनाता है और सामाजिक विषमताओं तथा वर्ग-विशेष के स्वार्थों का समर्थन करता है।

अगर धर्म को एक ऐसा आन्तरिक समन्वय माना जाय जिसको प्राप्त करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति दूसरों का हस्तक्षेप न चाहते हुए स्वतंत्र है, अगर उसे एक समानता पर आधारित सामाजिक व्यवस्था को स्थापित करने का आह्वान माना जाय, तो ऐसे धर्म में कोई ऐसी बात नहीं है जिसके खिलाफ़ साम्यवादियों को आपत्ति हो सके। असल में धर्म मानवीय व्यक्तित्व का नये सिरे से एकीकरण है और मानव-समाज का सुधार है। जब हिन्दू 'ज्ञान' की, बौद्ध 'बोधि' की और ईसाई 'मेटा-नोइया' की बात कहते हैं, तब उनके मन में चेतना के परिवर्तन की, व्यक्तित्व के विकास की बात होती है। मानवीय व्यक्तित्व का

यह एकीकरण सभी प्रकार के मानवहितवाद का एक आवश्यक अंग है।

मार्क्स के इस सिद्धान्त के बावजूद कि सभी सामाजिक बातें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से समाज की आर्थिक स्थिति पर निर्भर होती हैं, मार्क्सवादियों ने आलोचनात्मक बुद्धि और व्यक्ति की इच्छा के स्वातंत्र्य के महत्त्व से इंकार नहीं किया। हमें सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल होने की प्रतीक्षा करने की जरूरत नहीं है। हम इतिहास के घटना-क्रम को मोड़ सकते हैं। यह अनुभूति कि हमारा कार्य विश्व के ऊंचे उद्देश्य के अनुकूल है, मार्क्स के अनुयायियों को स्फूर्तिमय और बलिदान का जीवन बिताने के लिए प्रेरित करती है।

सही अर्थ में धर्म व्यक्ति के मूल्य और महत्त्व को स्वीकार करता है। जब हिन्दू आत्मा में परमात्मा का निवास बताते हैं, जब बौद्ध बुद्धत्व-प्राप्ति को सम्भव बताते हैं, जब यहूदी कहते हैं कि इंसान की आत्मा ईश्वर का चिराग़ है, जब ईसाई यह घोषणा करते हैं कि 'ईश्वरीय राज्य तुम्हारे अन्दर है' और कि 'तुम नहीं जानते कि तुम ईश्वर के मन्दिर हो और ईश्वर की आत्मा तुम्हारे अन्दर निवास करती है,' जब इस्लाम के पैग़म्बर कहते हैं कि ईश्वर हमारे गर्दन की धमनी से भी निकट है, तब उन सभी का मतलब अपने-अपने तरीक़े से यह बताने का होता है कि ईश्वर एक सुल्तान, आकाश में बैठा हुआ एक स्वेच्छाचारी सम्राट् नहीं है बल्कि एक आन्तरिक तत्त्व, एक अन्तर्ज्योति है। हम ईश्वर के अंश हैं और हमें ईश्वर की सर्जन-क्रिया में सहायक होना है, परिस्थितियों से लड़ना है, बुराई और असमानता को जीतना है तथा मानव-जीवन के स्तर को ऊंचा करना है।

धर्म का यह स्वरूप सब अन्यायों और असमानताओं को दूर

करने और ऐसी सामाजिक व्यवस्था को स्थापित करने की मांग करता है जो व्यक्ति की पवित्रता के अनुकूल हो। संयुक्त-राष्ट्रों की आम सभा ने १० दिसम्बर १९४८ को मानव-अधिकारों की जिस आम घोषणा को स्वीकार किया उसने 'जाति, रंग, लिंग, भाषा, धर्म, राजनीतिक या अन्य सिद्धान्त, राष्ट्र, समाज, सम्पत्ति, जन्म या अन्य स्थिति' पर आधारित सभी भेदों की निन्दा की है। यद्यपि इस घोषणा को तब तक कार्यान्वित नहीं किया जा सकता जब तक इसकी शर्तों को विशिष्ट सभाओं में स्वीकार न किया जाय, तथापि राष्ट्रों के लिए इसके आदेश बिल्कुल स्पष्ट हैं। दफ़ा २८ में कहा गया है कि हरेक को एक ऐसे सामाजिक और अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का अधिकार है जिसमें घोषणा में उल्लिखित अधिकारों और स्वतंत्रताओं का पूरा उपभोग सम्भव हो सके। एक सार्वभौम सर्वहितकारी राज्य का यह आदर्श जिसमें हम सारे संसार को एक पवित्र परिवार के रूप में देखते हैं, धर्मोपदेशकों का स्वप्न है। सारी पृथ्वी एक परिवार हो। सच्चे धर्मनिष्ठ लोगों से यह मांग है कि वे विश्व-समाज का निर्माण करने और उसकी सेवा करने का प्रयत्न करें। जब तक यहां सुधारने के लिए ग़लतियां और दूर करने के लिए बुराइयां हैं तब तक धर्मनिष्ठ लोग क्रान्तिकारी रहेंगे। उनकी आकांक्षा मनुष्य के सबसे बड़े बोझ, मनुष्य के द्वारा मनुष्य का शोषण को हटाने की रहेगी। अगर लोग धर्म से असन्तुष्ट हैं तो इसकी वजह यह है कि धार्मिक संस्थाएं बाहरी पवित्रता की पोषक हैं, आध्यात्मिक जीवन की नहीं, और वे प्रायः मौजूदा स्थिति में तब्दीली करने के पक्ष में नहीं हैं।

हमें याद रखना चाहिए कि न केवल सोवियत रूस में बल्कि दुनिया के अनेक अन्य भागों में भी स्वर्ग, नरक और ईश्वर के बारे में ऐसी कथाओं को अस्वीकार किया जाता है जिन्हें आम लोग

अक्षरशः सही मानते हैं। बहुत से लोग ऐसे हैं जो प्रचलित धर्मों के अन्धविश्वासों और कृत्रिम रीति-रिवाजों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। अनेक बुद्धिमान् मनुष्य चाहे राजनीतिक दृष्टि से वे साम्यवादी, समाजवादी, रूढ़िवादी या उदारवादी कुछ भी क्यों न हों, वैज्ञानिक मानवहितवाद के एक या दूसरे रूप को मानते हैं। आज धर्म के प्रति जो उपेक्षा दिखायी देती है उसका कारण है अन्धविश्वास से और सामाजिक अन्याय के विरुद्ध नैतिक रोष के अभाव से विद्वेष।

यह सही है कि शुरू के सालों में सोवियत-संघ में निरीश्वरवाद का प्रचार किया गया था। जब धर्म ने ज़ार के अत्याचारों का समर्थन किया तब साम्यवादियों ने इसका विरोध करने के साथ-साथ धर्म का भी विरोध करना शुरू कर दिया। दूसरे महायुद्ध में जब चर्च ने सोवियत-पक्ष का समर्थन किया तब कुछ समझौता हो गया। आज सोवियत-संघ में कुछ लोग गिरजे और मस्जिद में जाते हैं। सोवियत-सरकार किसी भी धर्म का समर्थन नहीं करती, फिर भी वहां लोगों के धर्मानुसरण पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। हम चाहे मानवहितवादी हों चाहे धर्म में निष्ठा रखते हों, लोकतंत्र में हमारी आस्था है। उन्नतिशील राष्ट्रों के संविधान में इस आस्था का उल्लेख है और लोगों को इसे कार्यान्वित करने के लिए कहा गया है। संयुक्त राष्ट्रों का चार्टर लोकतंत्र की मांग करता है, लेकिन हम सब अपने कार्यों में इस आदर्श का पालन नहीं करते।

नया एशिया और नया अफ़्रीका विदेशी आधिपत्य को उलटने की कोशिश कर रहे हैं, बीसवीं शताब्दी के साथ चलने के लिए उत्सुक हैं, अपने उत्पीड़ित, भूखे, नंगे, अज्ञानी, निरक्षर लोगों के लिए परिस्थितियों को सह्य बनाना चाहते हैं और चाहते हैं कि उन्हें सब मनुष्यों के हित को ध्यान में रखते हुए अपना शासन आप

करने का अधिकार मिले। सभी उन्नतिशील राष्ट्रों का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वे उन समुदायों की सहायता करें जो अपने को उठाने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। शैतानी शस्त्रों के निर्माण में आगे बढ़ने के बजाय उन्हें गुलाम और दुःखी देशों को राजनीतिक और आर्थिक सहायता देने में सहयोग करना चाहिए।

दुनिया के कई भागों में जातीय भेद-भाव का बोलबाला है। हालांकि वे लोग सिद्धान्ततः इसके विरोधी हैं। सोवियत-संघ में जातियों का सामंजस्य है। वहां विभिन्न जातियों के लोग एक-दूसरे के साथ मेल से रहते हैं और यह महसूस करते हैं कि वे एक ही समाज के सदस्य हैं। हम जानते हैं कि दुनिया के विभिन्न भागों में जातीय अभिमान की खातिर जातीय न्याय की क़ुर्बानी की जाती है। उन्नतिशील लोकतंत्रों तक में हम श्रेष्ठता की भावना, जातीय पृथक्करण, जाति-विशेष के क्लब, काले-गोरे का भेद देखते हैं। जब तक जातीय उत्पीड़न जारी है और उसके खिलाफ़ रोष और द्वेष मौजूद है तब तक दुनिया में शान्ति दुर्लभ है।

यह सही है कि सोवियत-संघ में प्रशासन की संसदीय प्रणाली नहीं है। कहा जाता है कि बुखारिन ने कहा था : 'हमारे यहां दो दलों की प्रणाली हो सकती है, लेकिन उनमें से एक दल शासन करेगा और दूसरा जेल में रहेगा।' रूस में विरोधी दलों को क्रान्ति-विरोधी माना जाता रहा। लेनिन ने जब देश की सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों में कुछ स्थिरता आ गयी तब विरोधी दलों के ऊपर से प्रतिबन्ध हटा देने का इरादा किया। आज हम कह सकते हैं कि सोवियत-राज्य शक्ति, स्थायित्व और सुरक्षा हासिल कर चुका है। वहां व्यक्ति की पूजा का निषेध है, फिर भी जब तक राष्ट्र दल को चुनता है, दल संगठन को, संगठन केंद्रीय समिति को और केंद्रीय समिति नेता को जो प्रायः तानाशाह बन जाता

है, तब तक तानाशाही की सम्भावना हमेशा बनी रहेगी। इस वक़्त वहां जो तानाशाही के प्रति घृणा दिखायी दे रही है, सामूहिक नेतृत्व पर ज़ोर दिया जा रहा है, और दल के अन्दर वाद-विवाद की आज़ादी के लक्षण प्रकट हो रहे हैं, उसे सोवियत-राज्य के उदार बनने की दिशा में पहिला क़दम माना जा सकता है।

हमें यह सोचने की ज़रूरत नहीं है कि संसदीय लोकतंत्र मार्क्स-वाद का विरोधी है। मार्क्सवाद एक भावना है, एक प्रोग्राम नहीं, सामाजिक विश्लेषण का एक तरीक़ा है, पुस्तकों की व्याख्या नहीं। समाजवाद का लक्ष्य तो अनिवार्य है लेकिन उसको प्राप्त करने का साधन वैकल्पिक है। शासन-प्रणाली चाहे जो हो, आदर्श एक ही हैं जो सुख, समृद्धि और शान्ति से पूर्ण भविष्य को ध्यान में रखते हैं। इतिहास हमारे कामों से हमको जांचेगा, हमारे विश्वासों से नहीं।

आज हमारे सामने सबसे बड़ी समस्या लड़ाई को रोकने की है। यातायात के साधनों की तरक़्क़ी से दुनिया छोटी हो गयी है। वैज्ञानिक प्रगति का इस्तेमाल हम दुनिया को एक ऐसा परिवार बनाने के लिए कर सकते हैं जिसमें लोग कला, विज्ञान, उद्योग और वाणिज्य में सहयोग करते हुए निवास करें, अन्यथा हम अपना विनाश कर सकते हैं। ये दोनों ही सम्भावनाएं हमारे सामने हैं। आणविक युद्ध में न कोई सामने का हिस्सा होगा और न पीछे का। एक समय ऐसा था जब हम इस विश्वास के साथ युद्ध करते थे कि लड़ाई हारने से लड़ाई जीतना अच्छा है। आज विजेता और विजित का भेद कोई माने नहीं रखता। आधुनिक युद्ध एक सामूहिक आत्म-हत्या होगा। कुछ भी करना पड़े हमें लड़ाई रोकनी ही होगी। शान्ति के लिए जो परिस्थितियां आवश्यक हैं, उन्हें पैदा करना चाहिए। दुनिया के अहंकार को छुड़ा देना होगा और उसके अच्छाई-बुराई के विवेक को नींद से उठा देना होगा।

दो गुटों के आपसी मतभेदों ने सन्देह, भय और घृणा का वातावरण पैदा कर दिया है। हमारे बहुत-से निर्णय भावनाओं पर आधारित हैं और इसलिए विश्वास के अयोग्य तथा खतरनाक हैं। अगर हमें वर्तमान परिस्थिति को ठीक समझना है तो हमें अपनी भावनाओं से ऊपर उठना होगा और सोवियत-संघ में जो नये सिरे से विचार और कार्य होना शुरू हुआ है उस पर ध्यान देना होगा। घृणा और पुराने रवैयों को छोड़ देना होगा। अपने शत्रुओं को भी गाली देना हमारे लिए उचित नहीं है। दोनों गुटों को चाहिए कि वे आज की समस्याओं पर विवेक और संयम से विचार करें। मुझे कोई सन्देह नहीं कि अन्त में राजनीतिज्ञों के विवेक और दूरदर्शिता से समस्याएं अवश्य हल हो जावेंगी।

३५

विश्व-समाज की रचना : १

(विश्व-धर्म-सम्मेलन, टोक्यो, उद्घाटन-भाषण, ३ अक्टूबर १९५६)

हम चाहते हैं कि हमारी पीढ़ी का स्मरण इतिहास में इसलिए न हो कि हमने परमाणु का भंजन किया है या उद्जन बम का निर्माण किया है बल्कि इसलिए हो कि हमने दुनिया के लोगों को एक किया और उनसे एक विश्व-समाज की रचना की। अब चूंकि राष्ट्र एक-दूसरे के दरवाजे पर आ गये हैं इसलिए हमें मानवीय सम्बन्धों के नये तरीक़ों का विकास करना हैं। यदि सभ्यता को क़ायम रहना है तो राष्ट्रों का समझौता आवश्यक है। दुनिया को एक सूत्र में आबद्ध होना है; वह अपनी आत्मा को खोजने की कोशिश कर रही है। हमें मनोवैज्ञानिक एकता की, आध्यात्मिक सामंजस्य की जरूरत है। हम अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के द्वारा शान्ति और लोगों में मेल पैदा करने के लिए उत्सुक हैं। संयुक्त राष्ट्र-संघ, अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-संघ, संयुक्त राष्ट्रीय शिक्षा-विज्ञान और संस्कृति-संघ, विश्व-स्वास्थ्य-संघ इनमें से कुछ संस्थाएं हैं। अगर संयुक्त-राष्ट्र-संघ बन सकता है तो संयुक्त-धर्म-संघ क्यों नहीं बन सकता ? दुर्भाग्य से सभी धर्म सदाचार के जीवन, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और मनुष्यों के भाईचारे में विश्वास प्रकट करते हुए भी आपस में सहयोग करने के इच्छुक नहीं हैं। वे आपस में प्रतियोगिता करते हैं और अपने अनुयायियों को एक-दूसरे से अलग रखते हैं। दुनिया छोटी हो गयी है और विभिन्न धर्म एक-दूसरे के सामने खड़े हैं। उनमें सहयोग पैदा करना एक बहुत बड़ी आवश्यकता है।

हम गुट-विशेषों के प्रति भक्ति रखते हुए भी उस चीज का सम्मान कर सकते हैं जो सच्ची, ऊंची, सुन्दर और शुभ है। हम यह प्रस्ताव नहीं करते कि एक ही धर्म हो जिसमें सब धर्मों की अच्छी बातों का समावेश हो। हम यह नहीं चाहते कि विभिन्न धर्मों का एक अस्पष्ट और संश्लिष्ट धर्म में विलय कर दिया जाय। हम यह चाहते हैं कि विभिन्न धर्मों के अनुयायी परस्पर निकट आवें, उनमें सद्भावना और समझौता हो और वे यह समझें कि प्रत्येक धर्म अपने खास तरीक़े से आदमी के पशुत्व को देवत्व में परिवर्तित करने की चेष्टा कर रहा है। धर्म का लक्ष्य आदमी को पशु से इंसान बनाना, इंसान से देवता बनाना है, उसे अशान्त से शान्त बनाना है, अन्धकार से उसे प्रकाश में ले जाना है।

हिन्दू और बौद्ध-धर्म तथा उनसे प्रभावित अन्य पूर्वी धर्म विभिन्न धर्मों को प्रतिद्वंद्वी नहीं बल्कि मनुष्य-जाति के आध्यात्मिक जीवन को पोषण प्रदान करने वाले सहयोगी मानते रहे। ये धर्म को एक अनुभव मानते हैं। वेद जो कि हिन्दुओं के आदि धर्म-शास्त्र हैं, आधारभूत सत्ता की खोज करने वाले ऋषियों के अनुभवों के भाण्डार हैं। वेदों को मानने का आधार ईश्वर-विषयक कुछ वाक्यों की तार्किक यथार्थता नहीं है और न ईश्वर की क्रियाओं के बारे में उनकी उक्तियों की ऐतिहासिक यथार्थता ही है। ऐसे कथन वैज्ञानिक या ऐतिहासिक खोजों से असत्य सिद्ध हो सकते हैं। वेदों के माने जाने का आधार आध्यात्मिक अनुभव है जो कि हरेक इन्सान का जन्मसिद्ध अधिकार है। इस अनुभव को कोई भी एक निश्चित साधन-मार्ग का अवलम्बन करके और प्रयत्न करके पा सकता है। ऋग्वेद के समय से लेकर आज तक हिन्दू लोगों ने अन्य धर्मों को आदर की दृष्टि से देखा है। सहिष्णुता की भावना के कारण उन्हें हानि उठानी पड़ी है। फिर भी उन्होंने दूसरे धर्मों के प्रति अपने

आदर-भाव को कदापि नहीं छोड़ा और उन्हें धार्मिक भावना के विविध प्रकाशनों के रूप में, देश, काल और मानवीय बुद्धि की सीमाओं से परिच्छिन्न प्रतीकों के रूप में देखा। धर्मों की एकता का विचार हिन्दू मस्तिष्क के लिए अस्वाभाविक नहीं है। बुद्ध ने भी यही रवैया अपनाया। उन्होंने अपने शिष्यों से कहा कि वे सैद्धान्तिक झगड़ों में न पड़ें। उनके समय में असिद्ध मान्यताओं से अनुमान निकालने के बारे में अनन्त वाद-विवाद चल रहा था जिससे सत्य की खोज करने वाले उलझन में पड़ गये थे और उनकी कठिनाइयां बढ़ गयी थीं। बुद्ध ने उनसे दुनिया को देखने और उसका स्वरूप जानने के लिए कहा। दुनिया में हम देखते हैं कि सब चीजें नाशवान् हैं, प्रकृति क्षणभंगुर है और सर्वत्र दुःख-दैन्य है। धार्मिक भावना के जाग्रत् होने में पहिला चरण है दुनिया के अस्थायित्व का ज्ञान होना। दो महायुद्धों के बाद और उनसे उत्पन्न बड़े-बड़े सामाजिक परिवर्तनों के बाद आदमी की परिस्थिति की अनिश्चितता सब कोई समझने लगे हैं। हम एक ऐसे समय में रह रहे हैं जब हमें एकाकीपन और भविष्य की चिन्ता तथा अनिश्चितता की भावना सता रही है। इस दुनिया में जिसमें कि बहुत ही कम चीजें सुरक्षित लगती हैं, हमें सुरक्षा कैसे प्राप्त हो ? ऐसे ज्ञान की प्राप्ति कैसे हो जिससे हमें स्वतंत्रता और साहस मिले ? हम अपने अन्दर शक्ति के एक नये केंद्र को कैसे खोजें जो हमें असुरक्षा से बचावे ? बुद्ध ने हमें आश्वासन दिया है कि हम अन्धकार, अज्ञान और मृत्यु से प्रकाश, ज्ञान और अमरत्व में पहुँच सकते हैं। यह संसार ही सब कुछ नहीं है। अनुभव से हम सत्य को जान सकते हैं। व्हाइटहेड की प्रसिद्ध उक्ति है कि आदमी एकान्त में जो करता है वही धर्म है। यह ज़ेन बौद्ध-मत के इस केंद्रीय सिद्धान्त की टीका है कि ध्यान का फल प्रज्ञा है। इस मत की स्थापना बोधिधर्म ने की थी जिसकी मृत्यु ४७५ ई०

में हुई थी। इस मत का सिद्धान्त यह है कि हमें सब सूत्रों और शास्त्रों को, सब सिद्धान्तों को छोड़ देना चाहिए और केवल ध्यान करना चाहिए। इससे दिव्य दर्शन के क्षण, अमरत्व के सन्देश मिलते हैं। आदमी अपने बारे में सत्य को जान सकता है। अपने अज्ञान को वह ध्यान से दूर कर सकता है।

विश्वातीत का ज्ञान अपरोक्ष अनुभव से होता है। धर्म का अर्थ कुछ सिद्धान्तों को मानना या कर्म-काण्ड नहीं है। सत्ता के रहस्य से एक हो जाना धर्म है। सत्ता को समझना धर्म है। जिसे ठीक तरह से नहीं व्यक्त किया जा सकता उसका उपदेश कैसे हो सकता है? 'अनक्षरस्य धर्मस्य श्रुतिः का देशना च का।' अशोक के प्रसिद्ध शिला-लेख में दूसरे धर्मों का आदर करने के लिए कहा गया है। अशोक ने कहा है कि दूसरे धर्मों की निन्दा करके हम अपने ही धर्म की हानि करते हैं। दूसरों के साथ अन्याय करना अपने साथ अन्याय करना है।

हिन्दू और बौद्ध विचारकों ने तरह-तरह से सब धर्मों की मौलिक एकता और ऊपरी विविधता पर जोर दिया है। धर्म का लक्ष्य एक है लेकिन उस लक्ष्य पर पहुँचने के मार्ग अनेक हैं। गायों के रंग अलग-अलग हो सकते हैं लेकिन उनके दूध का रंग एक ही होता है। दीपक अलग-अलग तरह के होते हैं लेकिन उनकी ज्योति एक ही होती है। हाथी और छः अन्धों की कहानी प्रसिद्ध ही है। जब हमारी आंखें खुल जाती हैं तब हम समझते हैं कि जिन विभिन्न मार्गों पर हमने जोर दिया था वे एक ही समष्टि के अंग हैं, एक ही सत्य के विभिन्न पहलू हैं।

इस देश में अगर मन्दिर और मठ एक साथ हैं, अगर लोग सब धर्मों का आदर करते हैं, तो यह इसलिए नहीं कि लोगों के दिमाग़ उलझे हुए नहीं हैं। जापान में शिण्टो और बौद्ध-मत मिले-

जुले हैं। शिण्टो देवता बोधि-सत्त्व के रूप माने जाते हैं और शिण्टो आचारों से बोधि की प्राप्ति मानी जाती है। इन दो मतों को एक ही सत्य की अलग-अलग अभिव्यक्तियां समझा जाता है। कभी-कभी हम देखते हैं कि मन्दिरों में दोनों ही मतावलम्बी उपासना करते हैं। यूनानी और रोमन भी दूसरे धर्मों के प्रति यही भाव रखते थे लेकिन इसके विपरीत भाव का भी प्राधान्य रहा। याहवेह ने मूसा को बताया कि वह एक 'ईर्ष्यालु देवता' है और उसका पहिला आदेश यह है कि किसी दूसरे देवता की पूजा नहीं होनी चाहिए। वह तब भी ईर्ष्यालु रहा जब उसका शासन सारी मनुष्य-जाति के ऊपर हो गया। ईसाइयत और इस्लाम को भी यह दृष्टिकोण विरासत में मिला जिसके अनुसार झूठे देवताओं से घृणा करना सबसे बड़ी धर्मनिष्ठा है। इस दृष्टिकोण के भयानक दुष्परिणाम धार्मिक उत्पीड़न के लम्बे इतिहास में दिखायी देते हैं। जब हम सही विश्वास पर जोर देते हैं तब हम न केवल अन्य देवताओं की उपासना के लिए दण्डित किये जाते हैं बल्कि उसके अज्ञेय स्वरूप के बारे में गलत धारणाएं बनाने के लिए भी। पेट्रार्क ने लिखा था : 'तुर्क शत्रु हैं लेकिन यूनानी मत-भेद के कारण पृथक् होने वाले हैं और शत्रु से भी बुरे हैं।'

आज हम अविश्वसनीय विश्वासों से और असह्य धारणाओं से थक गये हैं और धार्मिक अन्धविश्वासों को छोड़कर सब धर्मों के केंद्रीय सत्यों पर जोर दे रहे हैं। इस्राइल के नबियों ने धर्म की सरलता पर जोर दिया। अमोस ने कहा कि याहवेह उपासना से प्रसन्न नहीं होते बल्कि केवल न्याय और सदाचार से प्रसन्न होते हैं। होसिया ने न केवल सदाचार पर बल्कि प्रेम पर भी जोर दिया। मिकाह ने कहा : 'ऐ इंसान, उसने तुझे दिखा दिया है कि शुभ क्या है; और ईश्वर तुझसे इसके अलावा और क्या चाहता है कि तू न्यायपूर्वक

काम करे, दया से प्यार करे और अपने ईश्वर के साथ नम्रतापूर्वक चले।'

ईसाई-धर्म के प्रमुख विचारक ईसा के उपदेशों के केंद्रीय सत्यों पर जोर दे रहे हैं। किसी भी धर्म को हम ईश्वर की एकमात्र सच्ची अभिव्यक्ति नहीं मानते। समझदार लोगों को यह मान्य नहीं हो सकता कि ईश्वर इतिहास के एक विशेष क्षण में थोड़े से लोगों के सामने प्रकट हुआ और मनुष्यों ने जो कि ग़लती कर सकते हैं ईश्वर के वचनों के ऊपर जो विभिन्न परस्पर-विरोधी कहानियां गढ़ी हैं वे सच्ची हैं। स्थिति तब और भी बुरी हो जाती है जब हम तथाकथित ईश्वरोक्त सिद्धान्त पर एकमत नहीं हो सकते या समाज को उसके अनुसार नहीं चला सकते। ईसा ने हमें दुबारा जन्म लेने का, अज्ञान की अवस्था से जाग उठने का उपदेश दिया है। 'तुम उन्हें उनके फलों से जानोगे, उनके विश्वासों से नहीं।' ऑगस्टाइन ने कहा था कि अगर कोई अपने विश्वास की वस्तु को जानता है तो वह जो कुछ जानता है वह ईश्वर नहीं है। प्रेम का ईश्वर उन सबके सामने अपने को प्रकट करेगा जो उसे खोजते हैं, हालांकि उसे पूरी तरह से जानने की कोई उम्मीद नहीं करेगा। इस विचार को सभी ईसाई विचारक नहीं मानते कि मुक्ति ईसाई धर्म के अलावा और किसी साधन से नहीं मिल सकती। प्राचीन इतिहास के कुछ सन्त ऐसे भी हैं जिनका पुरानी इंजील में उल्लेख हुआ है। उदाहरणार्थ, इरेज्मस ने सुकरात, अरस्तू, वर्जिल और सिसरो को स्वर्ग में स्थान दिया है। दान्ते वर्जिल को अपना पथ-प्रदर्शक बनाता है। बाइबिल तक में ऐसे पुरुषों को सन्त कहा गया है जो न यहूदी हैं और न ईसाई।

मुहम्मद ने कहा है : 'कोई भी लोग ऐसे नहीं हैं जहां सचेत

करने वाले न गये हों और हरेक जाति को एक-एक दूत भेजा गया है' (क़ुरान ३०.५.२५)।

मानव-जाति के सभी धर्म आधुनिक विचारों के दबाव से धर्म की मूल बातों की ओर जा रहे हैं, सत्य और प्रेम के मूलभूत शाश्वत सिद्धान्तों को पकड़ रहे हैं। उनके अनेक अनुयायी धीरे-धीरे समझने लगे हैं कि पृथक् रहना धर्म का एक दूषण है। जो भी धर्म अभिमान और असहिष्णुता पैदा करता है वह सच्चा धर्म नहीं है। हमें चाहिए कि हम विभिन्न धर्मों के मध्य सहयोग पैदा करें। पारस्परिक सम्मान से हमें दूसरे धर्मों का अच्छे से अच्छा मतलब निकालने में और उनसे शिक्षा ग्रहण करने में मदद मिलती है। अगर हम हर समय दूसरे धर्म को मिटाने की कोशिश करते रहें तो हमारा उसके लिए सम्मान नहीं हो सकता। हमें दूसरों की धार्मिक आस्था को कमज़ोर नहीं करना चाहिए। 'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्'। यह प्रचार करके कि सामाजिक और धार्मिक मुक्ति का एकमात्र तरीक़ा हमारा ही है, हम अपने को दूसरों से अलग करते हैं।

इस समय जबकि हम विज्ञान और उद्योग की महान् प्रगतियों के कारण भविष्य के बारे में भयभीत हैं, उन सबके लिए जो किसी भी धर्म में विश्वास करते हुए ईश्वर की सर्वज्ञता और प्रेम में आस्था रखते हैं यह आवश्यक है कि वे इकट्ठे होकर एक धार्मिक बिरादरी का निर्माण करें और उस सहयोग के लिए काम करें जो कि मनुष्य के सुधार का एकमात्र तरीक़ा है।

विश्व-समाज की रचना : २

(धर्मानुशीलन-संघ की भारतीय शाखा के समक्ष दिया गया भाषण
२६ दिसम्बर १९५६)

मेरी उत्कट अभिलाषा है कि विभिन्न धर्मों के अनुयायी एक-दूसरे को समझें तथा दूसरे धर्मों का अच्छा से अच्छा मतलब निकालें और एकता की भावना को बढ़ावें। इस भयभीत और युद्ध से क्षत-विक्षत दुनिया में जिस चीज़ की आवश्यकता है वह है सहिष्णुता और समझौता। हमें चाहिए कि हम दूसरे धर्मों को मानें, लेकिन शिकायत करते हुए नहीं बल्कि प्रसन्नतापूर्वक यह समझते हुए कि मानवीय बुद्धि एक नहीं है।

विलियम वान हम्बोल्ट ने कहा है : 'अगर हम उस प्रवृत्ति की ओर संकेत करना चाहें जो इतिहास के आदि-काल से पायी जाती है और अब भी मौजूद है, तो वह है उन कृत्रिम सीमाओं को तोड़ने की प्रवृत्ति जो तरह-तरह के पूर्वाग्रहों और पक्षपातपूर्ण विचारों के कारण मनुष्यों के बीच में खिंच गयी है। सारे इतिहास में यह विचार व्याप्त है कि सारी मनुष्य-जाति एक समाज है और उसकी स्वाभाविक शक्तियों को विकसित करना चाहिए। मनुष्य के अन्दर यह जो स्वाभाविक प्रवृत्ति है उसको पूरा करना मानवीय समाजों का अन्तिम लक्ष्य है। सारी मानव-जाति का संघ आदमी की अन्दरूनी प्रकृति में बद्धमूल है और मानव-जाति के इतिहास में महान् पथ-प्रदर्शक विचारों में से एक है।' विश्व-समाज के इस आदर्श की घोषणा सभी धर्मों के महापुरुषों ने की है, लेकिन इस आदर्श को कार्यान्वित करने

के लिए आवश्यक साधन विज्ञान और उद्योग की प्रगतियों के फलस्वरूप अभी सुलभ हो पाये हैं। हम एक ऐसे युग में रह रहे हैं जब सब देशों के बीच आने-जाने के साधन सुलभ हैं, व्यापार होता है और युद्ध भी होते हैं। विश्व में संस्कृतियों का और पवित्र परम्पराओं का आदान-प्रदान हो रहा है और हम सब चाहते हैं कि विभिन्न परम्पराओं की विशेषताएं सुरक्षित रहें, न कि घुलमिलकर एक हो जायं। धर्मों के अध्ययन का संघ भेदों को नष्ट करना नहीं चाहता बल्कि विभिन्न धर्मों के विशिष्ट गुणों का अध्ययन करना चाहता है, यह जानना चाहता है कि उन्होंने अपने को क्या से क्या बनाया, किस प्रकार उनका निर्माण हुआ और दूसरों के सम्पर्क में आकर उन्होंने क्या बातें सीखीं। आज मनुष्य-जाति की बहुत ही श्री-वृद्धि होगी अगर विभिन्न धर्मों के अनुयायी अपने से भिन्न दृष्टिकोणों को ठीक-ठीक समझें और एक-दूसरे से शिक्षा ग्रहण करें। आध्यात्मिक साहचर्य ही इतिहास का अर्थ है।

उस स्थिति में धर्मों की भी मृत्यु हो जाती है और उनका भी महत्त्व जाता रहता है जब हरेक पीढ़ी नयी बौद्धिक शक्तियों की रोशनी में नये सिरे से उनको समझने की और उनकी व्याख्या करने की कोशिश नहीं करती। हमारी आधुनिक सभ्यता अभी निर्माण की अवस्था में है। आधुनिक उद्योग-प्रधान समाज को जितनी आवश्यकता है उतना विकसित इसका सामाजिक नीति-शास्त्र नहीं हुआ है। दुनिया को आज उत्साह की नहीं बल्कि सूझ-बूझ की जरूरत है, यह समझने की कि सभी धर्म मनुष्यों के एक ही किस्म की अप्रिय परिस्थिति से निकलने की राहें हैं। बहुत से शिक्षित लोग धर्म के परम्परागत रूपों को बहुत ही संकीर्ण पाते हैं और ऐसे धर्म की खोज में हैं जो अधिक बुद्धिसम्मत हो और साथ ही अधिक सहिष्णु भी हो। कुछ लोगों ने वैज्ञानिक मानवतावाद को स्वीकार

किया है; कुछ राजनीतिक विचार-धाराओं को अपना चुके हैं; कुछ मनोविश्लेषणवादी बन गये हैं। फिर भी अनेक ऐसे हैं जिनको एक ऐसे धर्म की आवश्यकता है जो युग की भावना के अनुकूल हो।

जिन बातों में धर्मों की संगति है वे संख्या और महत्त्व की दृष्टि से उनसे अधिक हैं जिनमें उनका मतभेद है। इसमें सन्देह नहीं है कि भेद भी महत्त्व रखते हैं लेकिन हमें उन बातों को नहीं भूलना चाहिए जिनमें वे एक हैं।

आदमी शरीर और मन ही नहीं है। मानवीय व्यक्तित्व के अन्दर एक ऐसा अंश है जो इन दोनों से भिन्न है और इनका इस्तेमाल करता है। बढ़ती हुई आयु और क्षीण होता हुआ बल आत्मा की कान्ति को मन्द करने में असमर्थ हैं। आत्मा अन्य वस्तुओं की तरह एक वस्तु नहीं है बल्कि वस्तुओं का द्रष्टा है, आदमी जो है और जो करता है उसका सक्रिय स्रोत है। वस्तुओं की तरह उसका ज्ञान करना कठिन है। जब हम किसी चीज़ को जानते हैं तो वह विचार का विषय बन जाती है। द्रष्टा या ज्ञाता के रूप में स्वयं को जानने के लिए हमें पीछे मुड़कर देखना पड़ता है जिससे हमको अपनी एक क्षणिक झलक मिलती है। यह झलक मौलिक होती है क्योंकि यह आत्मा के सच्चे रूप को प्रकट करती है।

परमात्मा का ज्ञान, ब्रह्म का साक्षात्कार वर्णनातीत है, उसका तार्किक विश्लेषण नहीं हो सकता। प्रत्येक धार्मिक सिद्धान्त सर्वोच्च सत्ता का सांकेतिक वर्णन है। अच्छा-से-अच्छा वर्णन भी सत्ता की पूर्ण अभिव्यंजना से बहुत पीछे रह जाता है। ईश्वर ने कहा कि 'मेरे विचार तुम्हारे विचार नहीं हैं और तुम्हारे तरीक़े मेरे तरीक़े नहीं हैं।' 'जैसे स्वर्ग पृथ्वी से ऊंचा है वैसे ही मेरे तरीक़े तुम्हारे तरीक़ों से ऊंचे हैं और मेरे विचार तुम्हारे विचारों से ऊंचे हैं।'

हरेक मत अन्तिम सत्य की अभिव्यक्ति है और दूसरे मतों से ज्ञान की मात्रा में अन्तर रखता है। हमारा लक्ष्य परमात्मा को जानना है और इस लक्ष्य पर पहुँचने तक हमें किसी एक मत को अपनाकर काम चलाना पड़ता है। इस प्रकार हरेक मत एक कामचलाऊ सूचना है। विभिन्न धर्म एक ही आध्यात्मिक भाषा की अलग-अलग बोलियां मात्र हैं। उन सबका लक्ष्य जो धार्मिक अनुभव है वह बोलियों के भेदों से ऊपर है। वर्णन बदल सकते हैं लेकिन सत्य हमेशा वही रहता है। यह सत्य, ये आध्यात्मिक मूल्य मानवीय आत्मा की गहराइयों में निवास करते हैं।

जिनको अपने अन्दर ईश्वर का साक्षात्कार हो चुका है उनकी आस्था अडिग होती है लेकिन वे हठधर्मिता से दूर होते हैं। यह पूर्व के लोगों की कल्पना नहीं है। पश्चिम की रहस्यवादी विचारधारा ने इसका समर्थन किया है।

तत्त्वदर्शी लोग जानते हैं कि रहस्य की भावना को कम करना, असीम को ससीम प्रत्ययों में बांधना ग़लत है। सुकरात ने कहा था : 'सबको बनाने वाले पिता को पाना कठिन है और उसे पाने के बाद उसका वर्णन करना असम्भव है।' बहुत पहिले प्लैटो ने कहा था कि ईश्वरीय ज्ञान दूसरों को नहीं बताया जा सकता। डियोनीसियस ने प्लैटो से अपने दर्शन को संक्षेप में कहने के लिए कहा था। प्लैटो ने अविस्मरणीय शब्दों में कहा था : 'मैंने अपने दर्शन के ऊपर कोई किताब नहीं लिखी और न कोई ऐसी किताब कभी लिखी ही जायेगी। इस दर्शन को दूसरी विद्याओं की तरह शब्दों से प्रकट करना सम्भव नहीं है। इस दर्शन को जानने का एकमात्र तरीक़ा ईश्वर से तीव्र बौद्धिक सम्पर्क और घनिष्ठ व्यक्तिगत समागम करना है जो उठती हुई लपटों से पकड़े हुए प्रकाश की तरह आत्मा के अन्दर एकाएक इस ज्योति को जला देता है; और एक बार जल चुकने के

बाद यह ज्योति स्वयं ही अपना पोषण करती रहती है।' ईश्वर का ज्ञान एक अनुभव है। रहस्यवादी धर्मों के बारे में अरस्तू ने कहा था : 'इनमें दीक्षित लोग सीखते इतना नहीं हैं जितना कुछ संवेगों का अनुभव करते हैं; वे एक विशेष मानसिक अवस्था में रखे जाते हैं।' ईसाई धर्म-ग्रन्थों में जो महत्त्व का शब्द हमें मिलता है वह है 'देखो'। 'देखो, मैंने सब चीज़ों को नया बनाया।' मनुष्य का लक्ष्य एक सृजनशील अनुभव है जो जीवन को विशाल और सम्पन्न बना देता है। सिम्मेचस सन्त अंब्रोज से वाद-विवाद के सिलसिले में कहता है : 'इतने महान् रहस्य के हृदय में केवल एक रास्ते से नहीं पहुँचा जा सकता।' व्हाइटहेड ने कहा है : 'रहस्यवाद हमसे रहस्यात्मक अनुभव से कोई ऐसी चीज़ पैदा करवाता है जो उसे, या कम से कम उसकी स्मृति को सुरक्षित रखेगी। शब्द उसे प्रकट नहीं कर सकते, अगर करें भी तो उनकी अभिव्यंजना बहुत निर्बल होती है। हम जानते हैं कि हमारा असीम से सम्पर्क हुआ है और हम जानते हैं कि ससीम रूपों में उसे प्रकट नहीं किया जा सकता।' व्हाइटहेड ने आगे कहा है : 'पूर्ण सत्य कहीं नहीं है; सब सत्य आधे सत्य हैं। उन्हें पूर्ण सत्य समझना ही शरारत है।' सन्टायना के अनुसार, 'धर्म को सत्य और जीवन का सांकेतिक वर्णन नहीं बल्कि हूबहू वर्णन समझना एक असम्भव विचार है।'

जो लोग इस अनुभव को कर चुके हैं वे चाहे कोई भी धर्म अपनायें, एक ही आध्यात्मिक बिरादरी के सदस्य हैं। वे सन्त हैं जो ईश्वर में अपना जीवन बिताते हैं। ये अपने को सब चीज़ों से वंचित कर चुके हैं और फिर भी किसी चीज़ के अभाव में नहीं हैं। वे दुनिया का सामना सम-भाव से करते हैं और एकाकीपन का अनुभव नहीं करते। तुलसीदास ने राम की ऐसी ही भावना का उल्लेख किया है :

प्रसन्नतां या न गताभिषेकत-
स्तथा न मम्लौ वनवासदुःखतः।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे
सदास्तु सा मंजुलमंगलप्रदा॥

'जो अभिषेक से प्रसन्नता को प्राप्त नहीं हुई और वनवास के दुःख से म्लान नहीं हुई, रामचंद्र जी की वह कमलमुख की शोभा सदा मुझे मंगल प्रदान करे।'

इस सम-भाव को प्राप्त करने के लिए संघर्ष, परिश्रम, साधना, व्यक्तिगत शुद्धता और सत्कर्म आवश्यक हैं। बड़े से बड़े सन्त भी प्रलोभनों में फँस जाते हैं। जड़ प्रकृति से, जंगल, बाढ़, हिंस्र पशुओं से लड़ना आसान है, लेकिन स्वयं अपने दिल की वासनाओं से, अपने भ्रमों से लड़ना मुश्किल है। सबसे बड़ा प्रलोभन जिस पर हमको विजय पानी है वह यह सोचना है कि हमारा अपना धर्म ही एकमात्र सच्चा धर्म है, हमारा दर्शन एकमात्र सच्चा दर्शन है, ईश्वर ने केवल हमको ही दर्शन दिया है और हम ही उसके प्यारे हैं, हम ही प्रकाश में हैं और बाक़ी सब लोग अन्धकार में हैं। सन्त लोग यह विश्वास नहीं करते कि ईश्वर किसी व्यक्ति-विशेष या समूह-विशेष की ही सम्पत्ति है।

धार्मिक शिक्षा प्रवचनों पर बहुत कम निर्भर करती है। जो सन्त लोग ईश्वर में वास करते हैं, उसके प्रेम में मग्न रहते हैं और सेवा में लीन रहते हैं उनके दृष्टान्त से धार्मिक शिक्षा मिलती है। सन्तों की छोटी-छोटी गतियां भी उनकी आन्तरिक महिमा को प्रकट करती हैं, उनके शब्द विवेक से परिपूर्ण रहते हैं, उनके दैनिक कार्य अर्थ-पूर्ण होते हैं। वे क्रूरता से प्रत्येक रूप में घृणा करते हैं और मनुष्य के द्वारा मनुष्य का शोषण बर्दाश्त नहीं करते।

सुकरात की परम्परा

(चार्ल्स-विश्वविद्यालय, प्राहा से सम्मान-सूचक उपाधि ग्रहण करने के बाद दिया गया भाषण, ७ जून १९५६)

हमारे देश में भूतकाल में बहुत समय तक आधुनिक विश्वविद्यालयों की तरह की बड़ी-बड़ी संस्थाएं रहीं। सातवीं शताब्दी ई० पू० में तक्षशिला में भारत से बाहर के विद्यार्थी पढ़ने के लिए आते थे और वहां साहित्य और कला, सैनिक विज्ञान और औषध-विज्ञान इत्यादि अनेक विषयों को पढ़ने-पढ़ाने का प्रबन्ध था। बाद में नालन्दा, वल्लभी और विक्रमशिला में विश्वविद्यालय खोले गये। उनमें प्रतिष्ठित विद्वान् काम करते थे। नालन्दा विश्वविद्यालय के अध्यापक-वर्ग में नागार्जुन, आर्यदेव, वसुबन्धु, असंग, स्थिरमति, धर्मपाल, शीलभद्र, शान्तिदेव और पद्मसम्भव जैसे महान् विचारक शामिल थे। इन प्राचीन विश्वविद्यालयों में राष्ट्र का आन्तरिक जीवन सुरक्षित होकर फलता-फूलता था। कुछ शताब्दियों तक हमारा देश एक बीमारी से ग्रस्त रहा और आज वहां के सब [illegible] की आयु केवल सौ वर्ष है। इन [illegible] ०० विद्यार्थी शिक्षा पाते हैं और यह संख्या बहुत कम है। देश के आकार को देखते हुए और अपने पुनर्निर्माण के भावी कार्यों को ध्यान में रखकर हम अपने विद्यार्थियों को उन विषयों की शिक्षा के लिए जिनके अध्ययन की पर्याप्त सुविधाएं हमारे यहां उपलब्ध नहीं हैं विदेशों में भेज रहे हैं। हमारे विश्वविद्यालयों का विकास हो जाने के बाद भी

हमारा दूसरे देशों और उनके विश्वविद्यालयों से सम्पर्क बना रहेगा, क्योंकि विश्वविद्यालयों का काम है विश्व की एकता की भावना को बढ़ाना। मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं है कि आगामी वर्षों में हमारे विद्यार्थी औद्योगिक विषयों में शिक्षा लेने के लिए बहुत बड़ी संख्या में आपके यहां आयेंगे।

आपके विश्वविद्यालय के पीछे बौद्धिक पवित्रता और सामाजिक न्याय की एक लम्बी और महान् परम्परा है जिसका आज भी आप पालन करते हैं। चेकोस्लेविया के इतिहास के महापुरुषों में से एक जॉन हस (१३६९-१४१५) हैं जो एक बड़े धार्मिक सुधारक थे। जब वे प्राहा विश्वविद्यालय के विद्यार्थी थे तब उनका जॉन वाइक्लिफ़ के ग्रन्थों से परिचय हुआ था। वे १४०२ में इस विश्वविद्यालय के रेक्टर बने। जब उन्होंने क्लर्कों के भ्रष्टाचार के खिलाफ़ आवाज़ उठायी तब उनके कार्य को तत्कालीन सरकारी अधिकारियों ने नापसन्द किया। फिर भी इस विश्वविद्यालय ने उन्हें १४०९ में दुबारा रेक्टर चुना और इस प्रकार यह घोषित किया कि वह सरकार की वफ़ादारी से ज्यादा महत्त्व विद्या-प्रेम को देता है। इनके ज़माने में चर्च सबसे बड़ी सामन्तशाही शक्ति थी। न केवल उसके पास बड़ी-बड़ी रियासतें थीं बल्कि जनता के विचारों और भावनाओं पर भी उसका आधिपत्य था। चर्च सामन्तशाही समाज-व्यवस्था का संरक्षक बन गया था। जो कोई सामन्तशाही व्यवस्था के विरुद्ध आवाज़ उठाता था उसे चर्च धर्म-विरोधी और क़ानून का शत्रु क़रार देता था। धर्म-विरोध का मतलब न केवल कैथोलिक मत का विरोध था बल्कि चर्च ने जिस समाज-व्यवस्था के साथ अपना तादात्म्य कर दिया था उसका विरोध भी था।

यूरोप की बौद्धिक परम्परा की शुरुआत सुकरात से हुई जो

कि सत्य का खोजी था। जब राज्य के अधिकारियों ने सुकरात की शिक्षाओं को देश के युवकों को बिगाड़ने वाली बताया और उससे शिक्षा देना बन्द करने और प्राण-दण्ड में से एक को चुनने के लिए कहा, तब सुकरात ने अपने आदर्शों को छोड़ने के बजाय मृत्यु का ही वरण किया। जॉन हस ने सुकरात की ही परम्परा को आगे बढ़ाया। जब उनको अपने विचारों के लिए अपराधी घोषित किया गया और ५ जून १४१५ को उन पर मुक़दमा चलाया गया तब उन्होंने ईसाई-धर्म-विरोध और वाइक्लिफ़ के सिद्धान्तों को मानने के आरोपों का खण्डन किया। उनसे अपनी ग़लतियों को मानने, काउंसिल के सामने आत्म-समर्पण करने और जिन सिद्धान्तों को मानने का दोषी उन्हें पाया गया उनका प्रचार न करने की प्रतिज्ञा करने के लिए कहा गया, लेकिन उन्होंने नम्रता और दृढ़ता के साथ इंकार कर दिया। जब उन्हें खम्भे से बांधा गया और उनके चारों ओर गले तक लकड़ियां चुन दी गयीं, तब फिर काउंसिल से संदेशवाहक आये और उनसे क्षमा मांगकर अपनी जान बचाने के लिए कहा गया। तब उन्होंने जवाब दिया था: 'जो कुछ मैंने प्रचार किया, सिखाया, लिखा और किया उस सबका मुख्य उद्देश्य लोगों को पाप से विरत करने का था। जिन सत्यों को मैंने कहा, सिखाया और लिखा वे ईश्वर के वचन के अनुसार और धर्मशास्त्रियों के मतानुसार हैं और उनके लिए मैं आज अपनी इच्छा से मृत्यु का वरण करता हूं।' वे अपने आदर्शों के लिए मृत्यु का आलिंगन करने के लिए तैयार थे। खम्भे पर आग लगा दी गयी और ६ जुलाई १४१५ को इस महान् विचारक के जीवन का आग की लपटों में अन्त हो गया। हस का जीवन भौतिक पराजय और नैतिक विजय का ज्वलंत उदाहरण है।

हस न केवल नेक देश-भक्ति के एक महान् उदाहरण हैं बल्कि

दूसरे देशों के लोगों के साथ भ्रातृत्व के उदाहरण भी हैं। उन्होंने कहा था: 'यदि मुझे कोई ऐसा विदेशी मिले जो सदाचारी और मेरे भाई से अधिक ईश्वर-प्रेमी तथा भलाई के लिए प्रयत्न करने वाला हो, तो मैं उसे अपने भाई से भी ज़्यादा प्यार करूंगा। अतः भले अंग्रेज पादरी बुरे चेक पादरियों से ऊंचे हैं; एक भला जर्मन एक बुरे चेक से ऊंचा है।' हस मनुष्य-मात्र के हितेच्छु थे।

इस विश्वविद्यालय की स्थापना १३४८ में पवित्र रोमन साम्राज्य के सम्राट् चार्ल्स चतुर्थ ने एक चार्टर निकाल कर की थी और इसमें धर्म, क़ानून, औषध-विज्ञान तथा कला, ये चार विभाग खोले गये थे। तब से इसके प्रबन्ध और शिक्षण-कार्य में कई तब्दीलियां हुईं। ७ अप्रैल १९४८ को इसकी छठी शताब्दी मनायी गयी। अपने सारे इतिहास में यह विश्ववादी विचारों से प्रेरणा पाता रहा।

जब हम किसी को महान् कहते हैं तब हमारा मतलब यह नहीं होता है कि वह शारीरिक साहस में या बौद्धिक योग्यता में या कला-कौशल में महान् है। ये गुण समय-समय पर बदलते रहे हैं। कोई आदमी महान् होता है अपनी मानवता और विवेक के कारण। आदमी बनना एक गौरव का काम है। आत्मा की पवित्रता, मानव-व्यक्तित्व का गौरव लोकतंत्र का नैतिक आधार है। कार्ल मार्क्स ने पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था की निन्दा इस आधार पर की थी कि वह इंसान की इंसानियत को ख़त्म कर देती है। आदमी को जानवर की तरह हांककर, उसके दिमाग़ को क्षीण करके, उसकी इंद्रियों को उत्तेजित करके, उसकी कल्पना-शक्ति को नष्ट करके वह आदमी को मशीन बना देती है। आदमी की बुद्धि के हीन होने से, उसकी संकल्प-शक्ति के कमज़ोर होने से, उसकी दृष्टि के नष्ट होने से आदमी कठपुतली की तरह बन जाता है जिसमें कोई

जीवन नहीं होता और जो डोरियों के द्वारा घुमाया जाता है। आदमी महान् तब होता है जब वह समाज की मशीन का एक पुर्जा नहीं होता, घटनाओं का एक अंग नहीं होता, गुमनाम लोगों की भीड़ में एक इकाई नहीं होता। वह महान् तब होता है जब वह अपने लिए सोचता है, अपने लिए निर्णय करता है और अपने लिए सृष्टि करता है। सत्य का अनुसरण सबसे बड़ा तप है। ज्ञानमयं तपः (मुण्डकोपनिषत् १.१.९)। महान् कृतियों का जन्म ध्यान की, कठोर विचार की आग से होता है। जो लोग कठोर विचार करते हैं वे त्यागी पुरुष हैं और मानवता के प्रेम से परिपूर्ण हैं। वे हमेशा सही न रहे हों लेकिन सच्चे थे।

भौतिक अस्तित्व की दृष्टि से हम इस युग के हैं लेकिन विश्व-विद्यालय के लोगों की हैसियत से हम अपने युग और राष्ट्र के बन्धनों से मुक्त हैं तथा सभी युगों के सम-सामयिक हैं। भूतकाल के महान् विचारकों के प्रति आदर भाव और भविष्य में ज्ञान की सीमाओं का विस्तार करना विश्वविद्यालय का विशेषाधिकार है। मैं जानता हूं कि भारतीय विद्याओं के अध्ययन में इस विश्व-विद्यालय के विद्वानों ने महत्त्वपूर्ण वृद्धि की है और मैं आशा करता हूं कि भविष्य में भी करते रहेंगे। विण्टरनिट्ज़ और लेस्नी के नाम इस प्रसंग में स्मरणीय हैं।

आदमी के, प्रकृति के ऊपर, नियंत्रण में जो वृद्धि होती है उसका परिणाम या तो भला होता है या बुरा। हाल में जो औद्योगिक प्रगति हुई है उससे आर्थिक प्रचुरता मिली है और साथ ही आण-विक युद्ध भी। आज अगली पीढ़ी में सारी दुनिया की भौतिक समृद्धि के बढ़ने की सम्भावना इतनी बढ़ गयी है जिसकी अब तक कल्पना भी नहीं थी। इसका कारण एक ही आविष्कार और उससे सम्ब-न्धित खोजें हैं। अगर हम समझदार हैं तो हम दुनिया से गरीबी

और भूख को निकाल बाहर कर सकते हैं; अगर हम समझदार नहीं हैं तो हम भयानक आपत्ति में पड़ सकते हैं, यहां तक कि महाविनाश तक आ सकता है। इस अणु-युग में जीवित रहने के लिए सहिष्णुता, धैर्य, दया और साहस का विकास करने की आवश्यकता है।

मानवीय विकास का अर्थ : १

(मास्को-विश्वविद्यालय द्वारा अवैतनिक प्रोफ़ेसर नियुक्त किये जाने के अवसर पर दिया गया भाषण, १८ जून १९५६)

१९१७ की अक्टूबर की क्रान्ति के बाद यहां बच्चों की देख-रेख, युवकों की शिक्षा तथा कलाकारों, बुद्धिजीवियों, विश्वविद्यालयों और विद्वत्-संस्थाओं की उन्नति पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया है। यह विशाल और वैज्ञानिक उपकरणों से भरपूर इमारत समाज के बौद्धिक जीवन में आपकी अत्यधिक रुचि का एक और प्रमाण है।

लेकिन इमारतों से विश्वविद्यालय नहीं बनते। विश्वविद्यालय की आत्मा वहां रहने वाले अध्यापक, विद्यार्थी और उनका विद्याभ्यास है। विश्वविद्यालय किसी देश के बौद्धिक जीवन का आश्रय-स्थान होता है, राष्ट्रीय जीवन की स्वस्थ जड़ें जनता के अन्दर पायी जाती हैं। जनता राष्ट्रीय जागृति की स्रोत है। जनता ही समाज के क्रान्तिकारी आन्दोलनों के पीछे रहने वाली आत्मा है। जब हम शिक्षा देते हैं तब हम मूलभूत सिद्धान्तों के विचार-विमर्श को प्रोत्साहन देते हैं। शिक्षाप्राप्त युवक अपने विचारों का प्रचार करेंगे और प्रचलित बातों में दोष निकालेंगे। इस विश्वविद्यालय में हम न केवल डॉक्टरों और इंजीनियरों को पैदा करते हैं बल्कि उन पुरुषों और महिलाओं को भी जो स्वतंत्र सोच-विचार करते हैं। ऐसे लोग हर बात को दल की दृष्टि से नहीं देखेंगे। अगर हम लोगों की कार्य करने की स्वतंत्रता को नष्ट कर देते हैं तो इस

तरह अपने ही लिए खतरा पैदा करते हैं। अगर लोगों की बौद्धिक स्फूर्ति जाती रहे तो सभ्यता का भविष्य सचमुच नष्ट हो जायेगा।

यांत्रिक कुशलता की प्राप्ति या ज्ञान-वृद्धि मानवीय विकास से पृथक् चीज है। मानवीय विकास का अर्थ है आदमी के अन्दर रहने वाली आत्मा का विकास। आज का इंसान समूह के अन्दर लुप्त हो गया है। समाज जो कुछ कहता है और सिनेमा, रेडियो, टेलीविजन, समाचार-पत्र इत्यादि अपने प्रचार के साधनों के द्वारा जो कुछ प्रचार करता है उसी को वह मानता है। हमारा विचार बहुत कुछ यांत्रिक हो गया है। बौद्धिक शुद्धता खतरे में पड़ गयी है और सचाई का गला घुट रहा है। महान् पुस्तकों के गम्भीर अध्ययन से स्वतंत्र विचार का विकास होता है। महान् विचारों को देने वाले महान् ग्रन्थों के अध्ययन से हमारी आत्माओं का विकास होता है। हमारा शरीर इस देश और इस युग का है लेकिन विश्व-विद्यालय के विद्यार्थियों के रूप में हम सब देशों और सब युगों के हैं। हमने अपने विश्वविद्यालयों में आपके महान् लेखकों, पुश्किन, टॉल्स्टॉय, डोस्टॉयस्की, तुर्गनेव, चेखोव, गोर्की इत्यादि के ग्रन्थ पढ़े हैं। उनसे हमने आप लोगों और आपकी प्रतिभा को समझा है। उनसे हमें आपकी पीड़ित आत्मा और आध्यात्मिक भूख का ज्ञान हुआ है। हम जानते हैं कि आपके महापुरुषों ने सत्य, शुभ और सौन्दर्य के सम्बन्ध में अपनी मौलिक सूझों की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेने का साहस किया और वे जान का खतरा उठाकर अपने निर्णयों पर डटे रहे। आप लोग स्वभावतः अध्यात्मवादी हैं और मैं आशा करता हूं कि आपकी विद्याएं और शिक्षा सत्य, शुभ और सुन्दर के आपके सहज प्रेम का विकास करने में सहायक होंगी और आपकी अदृश्य की भूख को नष्ट नहीं करेंगी। हमें याद रखना चाहिए कि कोई राष्ट्र अपने आकार या सम्पत्ति के कारण

बड़ा नहीं होता। अगर हम अपने भौतिक साधनों को आत्मा की मुक्ति और आत्मा की विशालता के लिए इस्तेमाल करें तो हम महान् कहलाने के योग्य होंगे।

बहुत से निरीश्वरवादी ऐसे हैं जो ईश्वर को न मानते हुए भी ऐसा व्यवहार करते हैं जैसे कि मानों वे ईश्वर को मानते हों। बहुत से आस्तिक ऐसे हैं जो नास्तिकों-जैसा व्यवहार करते हैं। जिन लोगों ने आणविक शक्ति का विकास किया उन्होंने जान का खतरा मोल लेकर एक सच्चे मानव-समाज का निर्माण करने की कोशिश की। आज हमें ज़रूरत इस बात की है कि हम उदारता और भ्रातृभाव पैदा करें और मनुष्य का गौरव प्राप्त करें।

अगर आज सोवियत-संघ में धर्म के प्रति शत्रु-भाव है तो इसका दोष अकेले संघ को नहीं है। जो लोग मनुष्यों के आध्यात्मिक कल्याण के जोश में धार्मिक प्रचार का आश्रय लेते हैं वे धार्मिक वाद-विवाद का अशोभनीय तरीक़ा इस्तेमाल करते हैं। धर्म-परिवर्तन कराने वाले जो आत्माओं के उद्धार की बात करते हैं उनके तरीक़े सच्ची धार्मिक भावना के अनुकूल नहीं हैं। सोवियत संघ के लोग उस धर्मान्धता की बात जानते हैं जिसने यूरोप को धर्म-युद्धों में लगाकर बर्बाद किया। अब भी ऐसे लोग मौजूद हैं जो कहते हैं कि उनको तत्त्व का ज्ञान हो गया है और शेष सब लोग अन्धकार में हैं। यही लोग धार्मिकता के पतन और दुनिया के बड़े-बड़े हिस्सों में अनास्था के प्रचार के लिए परोक्ष रूप से उत्तर-दायी हैं। इनकी असफलता का कारण विनय का अभाव और धार्मिक आक्रामकता है। जो लोग विज्ञान के वातावरण में पले हैं और आलोचनात्मक दृष्टि रखते हैं उनके लिए धार्मिक कट्टरता की ओर लौटना आध्यात्मिक कायरता का लक्षण है। बहुत से आधुनिक विचारक पुराने कट्टरपन्थी धर्मों को मानने में असमर्थ

हैं। एक-दो उदाहरण लीजिये। प्रोफ़ेसर ए० एन० व्हाइटहेड ने कहा था कि सारे झंझट की शुरुआत ईसाई-धर्म के उन व्याख्याकारों ने की जिन्होंने विचार-विमर्श को निषिद्ध क़रार दिया और कहा कि धर्म के विषय में जो कुछ जानने योग्य है उसकी जानकारी उनको ही है। इस प्रकार विचार अन्धविश्वास की ज़ंजीरों में जकड़ गया। व्हाइटहेड ने नयी इंजील के प्रथम व्याख्याकार पॉल को सबसे बुरा कहा। उन्होंने ईसाई धर्म-शास्त्र को मानव-जाति की एक सबसे बड़ी दुर्घटना बताया। व्हाइटहेड धार्मिक अनुभव और धर्म-शास्त्र के स्वरूप के बारे में भारतीय विचारकों से सहमत हैं। उन्होंने कहा है : 'रहस्यवाद हमसे रहस्य के अनुभव से एक ऐसी चीज़ का निर्माण करवाता है जो उसे बचाये रखेगी या कम से कम उसकी स्मृति को सुरक्षित रखेगी। शब्द उसे अभिव्यक्त नहीं कर सकते; अगर करते भी हैं तो उनकी अभिव्यक्ति बहुत ही निर्बल होती है। हमें असीम के साक्षात्कार का ज्ञान रहता है और हम जानते हैं कि हम उसे किसी भी ससीम रूप में अभिव्यक्त नहीं कर सकते।' हम धर्म को ईश्वर का साक्षात्कार मानते हैं और धार्मिक मतभेदों को महत्त्वहीन नहीं समझते। हम नहीं चाहते कि सारी दुनिया का एक ही धर्म हो। हम धर्मों की सहकारिता में विश्वास करते हैं। प्रोफ़ेसर आर्नल्ड टॉयनबी लिखते हैं: 'मुझे यह विश्वास करना सिखाया गया था कि एकमात्र ईसाई धर्म ही ऐसा है जिसे सम्पूर्ण सत्य का ज्ञान हुआ है। अब मेरा विश्वास यह है कि सभी प्रसिद्ध धर्मों और दर्शनों को सत्य के एक या दूसरे पहलू का थोड़ा-थोड़ा ज्ञान है। विशेष रूप से मैं यह मानता हूं कि बौद्ध-धर्म और हिन्दू-धर्म ईसाई, मुसलमान और यहूदी धर्मों को 'एकविश्व' का सबक़ सिखा सकते हैं, जिसमें कि हम अब 'दूरी के विनाश' से पहुंच रहे हैं। भारतीय धर्म असहिष्णु नहीं हैं जब कि ये धर्म असहिष्णु हैं। वे इस सम्भावना

को मानते हैं कि सत्ता के रहस्य को जानने के अनेक मार्ग हो सकते हैं; और लगता है कि यहूदी, ईसाई और मुसलमान धर्मों के इन दावों की अपेक्षा कि अन्तिम सत्य का ज्ञान अकेले उन्हीं को है, यह अधिक सही है। इस भारतीय दृष्टिकोण को सामने रखकर ही मैंने अपने ग्रन्थ की अन्तिम चार जिल्दें लिखी हैं। इसमें सन्देह नहीं है कि हममें से हरेक के लिए विश्व की पहेली को समझने का सबसे आसान तरीक़ा अपने पूर्वजों का धर्म है; लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि हमें दूसरे धर्मों के दृष्टिकोण को बिलकुल ही त्याज्य समझना चाहिए। यदि हम दूसरे धर्मों के दृष्टिकोण भी अपना सकें तो इससे फ़ायदा ही होगा, नुक़सान नहीं।''[1]

हमें धर्मान्धता की बीमारी से बचना चाहिए और साथ ही एक बुद्धिग्राह्य धर्म की आवश्यकता भी महसूस करनी चाहिए। आज का इंसान आत्म-निर्भर बन गया है और उस शक्ति को भूल गया है जो उसकी समझ और नियंत्रण के बाहर है। इसके फलस्वरूप इंसान अपंग बन गया है। उसके अंगभंग को दूर करने के लिए एक बुद्धिपरक धर्म की आवश्यकता है। ऐसा धर्म विज्ञान की भावना के प्रतिकूल नहीं होगा। 'दि वर्ल्ड ऐज़ आइ सी इट' में आइनस्टाइन ने लिखा है : 'उसकी धार्मिक भावना का रूप यह होता है कि वह प्राकृतिक नियम की एकता को देखकर आश्चर्य और आनन्द में मग्न हो जाता है तथा इसे इतनी ऊंची बुद्धि का प्रकाशन मानता है कि जिसकी तुलना में इंसान का सारा समष्टिबद्ध विचार और व्यवहार बिलकुल ही तुच्छ प्रतीत होता है। जहां तक वह स्वयं को स्वार्थपूर्ण इच्छाओं से अलग रखने में समर्थ होता है वहां तक

[1] इण्टर्नेशनल अफ़ेयर्स (१९५५), पृष्ठ १-४—'अ स्टडी ऑव हिस्ट्री : व्हॉट आय ऍम ट्राइंग टु डू'

यह भावना उसके जीवन का पथ-प्रदर्शन करती रहती है। यह भावना सभी युगों की धार्मिक प्रतिभाओं की भावना की तरह अव्याख्येय है।' मैं आशा करता हूं कि आप एक तर्कपरक और नैतिक धर्म को अपनाने की आवश्यकता को समझ गये होंगे।

विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों को अज्ञान, अन्याय, उत्पीड़न और भय के विरुद्ध संघर्ष करने की शिक्षा मिलनी चाहिए। ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका और रूस में जो महान् क्रान्तियां हुई हैं वे स्वतंत्रता की प्रगति के मार्ग के महत्त्वपूर्ण सोपान हैं। इनकी प्रतिध्वनियां दुनिया के सभी हिस्सों में सुनी गयीं और उन्होंने लोगों के दिमाग़ में हलचल पैदा की। इन सबका आधार यह विश्वास है कि व्यक्ति पवित्र है और उसे अपने विश्वास के अनुसार सोचने, बोलने और उपासना करने की आज़ादी है। क़ानून की दृष्टि में सब व्यक्तियों को बराबर होना चाहिए। उसे अपनी शक्तियों का विकास करने के लिए अनुकूल अवसर मिलना चाहिए। दुनिया में, खास तौर से एशिया और अफ़्रीका में ऐसे-ऐसे विशाल प्रदेश हैं जहां इन सार्वभौम उसूलों को नहीं माना जाता। जिन राष्ट्रों ने अपने क्रान्तिकारी उसूलों से मानव-जाति को प्रेरणा दी वे तक इन उसूलों को मनवाने में बाधा दे रहे हैं। वे यह भूल गये प्रतीत होते हैं कि समय चुप नहीं बैठा रहता और कि परिवर्तन मनुष्य-जीवन का स्वभाव है और इसलिए राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय तब्दीलियां अनिवार्य हैं।

मेरा इस विश्वविद्यालय का प्रोफ़ेसर नियुक्त किया जाना विद्या की दुनिया की एकता का प्रतीक है। हमें विश्वविद्यालयों में दुनिया के दिमाग़ को उस विश्व-समाज की स्थापना के लिए तैयार करना है जिसकी एक चेतना हो और एक अन्तःकरण हो। यह तभी सम्भव है जब पारस्परिक विनाश की शक्ति रखने वाले राष्ट्र उस शक्ति को छोड़ दें। इसके लिए आस्था की जरूरत है।

अध्यापक का काम यह नहीं है कि वह विद्यार्थियों को वह चीज़ दे जो वे चाहते हैं, बल्कि उसका काम है उनके अन्दर उस चीज़ की चाह पैदा करना जो वह देता है। जब आप ग़लत रास्ते पर जायेंगे तो मैं प्रोफ़ेसर की हैसियत से अपने विशेषाधिकार का प्रयोग करके आपको प्रताड़ित करूंगा।

३९

मानवीय विकास का अर्थ : २

(गान्धी-स्मारक अकादमी, नैरोबी, उद्घाटन-भाषण
१२ जुलाई १९५६)

महापुरुष किसी एक राष्ट्र के नहीं होते। वे सारी मानव-जाति के होते हैं। राष्ट्र के नायक और योद्धा इतिहास के चलायमान क्षणों के प्रतिनिधि होते हैं, वे प्रादेशिक संवेगों को और दलगत भावनाओं को संगठित करते हैं, कुछ समय हलचल दिखाते हैं और लुप्त हो जाते हैं। साधु और सन्तों का हमारी आत्माओं पर प्रभाव पड़ता है, चाहे हम किसी भी देश के क्यों न हों। वे हमको ऊंचा उठाते हैं। गान्धी ने भारत के भाग्य को दुनिया के भाग्य से संयुक्त कर दिया। हमारे युग में अपने जीवन से उन्होंने यह प्रमाणित कर दिया कि आदमी की आत्मा जब ईश्वरीय ज्योति के प्रकाश से दीप्त होती है तब उसकी शक्ति सबसे शक्तिशाली शस्त्र से भी बड़ी होती है।

यह स्वाभाविक और उचित ही है कि अफ्रीका के लोग गान्धी के नाम का स्मरण करें और उनका यह स्मारक खड़ा करें। इस देश के एक हिस्से में गान्धी जी का शुरू का सार्वजनिक जीवन व्यतीत हुआ। यहीं उन्होंने पहिले-पहल सविनय अवज्ञा-विधि का प्रयोग किया। आपको बुराई के साथ सहयोग नहीं करना चाहिए। आपको उसका विरोध करना चाहिए, लेकिन हिंसक उपाय से नहीं। बुराई अज्ञान है और अपनी बुरी से बुरी शक्ल में एक बीमारी है। हमें उसे हटाने में उदारता का प्रयोग करना चाहिए, क्रोध का

नहीं, हमें क्रोध को अक्रोध से जीतना चाहिए : अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्। आपको अपने शत्रु से ऐसा व्यवहार करना चाहिए कि एक दिन वह आपका मित्र हो जाय। १९२८ में गान्धी जी ने अपने अनुयायियों को यह सिखाया : यदि आपको क़ैद किया जाता है तो चुपचाप जेल चले जाओ; यदि आप पर मार पड़े तो हँसते हुए उसे सहो; यदि आपको कोई गोली मारे तो शान्ति के साथ मरो।

गान्धी जी के लिए राजनीति का मतलब अवसरवादिता नहीं था। उन्होंने लोगों को नैतिक कार्य के उच्चतर स्तरों में ले जाने की इच्छा की। गान्धी जी बुराई को मानते थे, लेकिन वे किसी को शत्रु नहीं मानते थे, क्योंकि सब मनुष्य भाई-भाई हैं। उन्हें पक्का विश्वास था कि सत्य और प्रेम की कभी पराजय नहीं होगी। पारस्परिक कलहों को दूर करने का उनका तरीक़ा आज विशेष बल रखता है। इस अणु-युग में राष्ट्रों के झगड़ों का निपटारा शान्तिपूर्ण तरीक़े से होना चाहिए। सैनिक तरीक़ा अपनी समाप्ति पर पहुँच चुका है। इस नयी दुनिया में हम सुरक्षा के पुराने तरीक़ों पर निर्भर नहीं रह सकते।

गान्धी जी ने जातीय उत्पीड़न का प्रतिरोध करने और जातियों का मेल पैदा करने के अपने तरीक़े का अभ्यास दक्षिणी अफ़्रीका में किया था। अफ़्रीका के कुछ भागों में अधिकारियों ने जातियों के पृथक्करण और भेद-भाव करने के जो तरीक़े अपनाये हैं उनका जन्म भय से हुआ है, ऐसा भय जो न्याय से डरता है। हम सामाजिक न्याय के नाम पर अन्याय का समर्थन करने की कोशिश करते हैं : अगर भय को दूर करना है तो अन्याय को दूर करना होगा।

अगर देश के सार्वजनिक जीवन में जातीय सहिष्णुता को कार्यान्वित करना है तो शिक्षण-संस्थाओं में नये सिरे से शिक्षा देने का काम शुरू करना होगा। साथ-साथ रहकर, साथ-साथ काम करके

हम एक-दूसरे को समझ सकते हैं और इस तरह हमारी भावनाओं और कल्पना को जो खाई अलग किये हुए है उसे मिटा सकते हैं। जब हम दूसरों को नहीं जानते तब हम डरते हैं और क्रुद्ध होते हैं। जब हम दूसरों को जान लेते हैं तब हम उन्हें समझ लेते हैं और उनकी कमजोरियों से सहानुभूति रखते हैं। यहां का रॉयल टेक्निकल कॉलेज जातियों की एकता क़ायम करने को अपना लक्ष्य बनाता है। गान्धी जी जिस आदर्श के लिए जिये और मरे वह लोगों में समझौता पैदा करने का और दुनिया में भाईचारा पैदा करने का आदर्श है।

दृष्टिकोण की सार्वभौमता का विकास करने के लिए, जातीय सहिष्णुता अपनाने के लिए, हमें मानवीय विद्याओं की शिक्षा देने की जरूरत है। मुझे प्रसन्नता है कि इन विद्याओं के अध्ययन में संलग्न यह गान्धी-स्मारक-अकादमी रॉयल टेक्निकल कॉलेज का एक भाग है। मैं समझता हूं कि इसे उसका एक आवश्यक भाग समझा जाना चाहिए। इस देश के लोगों को औद्योगिक विकास और सामाजिक प्रगति करने के लिए प्रशिक्षित करना चाहिए। इस देश को इंजीनियरों और कारीगरों की, डॉक्टरों और अध्यापकों की जरूरत है। इससे भी ज्यादा जरूरत इसे ऐसे लोगों की है जो अपने लिए सोचने में समर्थ हों और इंसानों की तरह रह सकें। अगर आज हम दुनिया की ओर देखें तो प्रकृति को वश में करने में जो प्रगति हुई है उससे हमको आश्चर्य होगा, लेकिन मानवीय प्रकृति को वश में करने में हमने जो नगण्य प्रगति की है उसे देखकर हमें निराशा होगी। हम संगीत को बोतल के अन्दर बन्द कर सकते हैं, पृथ्वी के चारों ओर रस्सी बांध सकते हैं, अणु के टुकड़े कर सकते हैं, लेकिन दुनिया में इंसानों की तरह रहना अभी हमको सीखना है। एक बटन दबाकर हम एक पूरे महाद्वीप को विनष्ट कर सकते हैं। लेकिन परिणामों का भय अभी तक इंसान को विपत्ति

लाने से नहीं रोक सका है। दो महायुद्धों ने दिखा दिया है कि इंसान कैसे बौद्धिकता के शिखर पर पहुँचने के बावजूद अनैतिकता के गहरे गर्त में गिर सकता है। आज जिस गतिरोध में हम हैं वह बौद्धिक गतिरोध नहीं है बल्कि आध्यात्मिक गतिरोध है। जब तक क़बीले, जाति और राष्ट्र का अहंकार प्रेम और भलाई के सामने सिर नहीं झुकाता तब तक हमारा भविष्य सुरक्षित नहीं है।

दुर्भाग्य से हम अपनी शिक्षण-संस्थाओं में इंसान के अन्दर रहने वाले पशु को खिलाते हैं, उसकी बुद्धि को प्रशिक्षित करते हैं, लेकिन उसकी आत्मा पर ध्यान नहीं देते।

हम रेडियो सुनते हैं, सिनेमा देखते हैं, टेलीविज़न देखते हैं, अखबार पढ़ते हैं, नारों को दोहराते हैं, जो संस्कार हम पर डाले जाते हैं उनको ग्रहण करते हैं। जो भी चीज हमारे सामने आती है हम उसको प्रतिबिम्बित करने वाले दर्पण बन गये हैं। हम अन्दर से खोखले हैं और तुच्छ बातों, स्वयंचालित क्रियाओं और सम्बद्ध प्रतिक्रियाओं के ज्वार में बहते रहते हैं। जीवन में हमें कोई प्रयोजन या सार्थकता नहीं दिखायी देती। हम उन मशीनों की तरह हो गये हैं जिन्हें हम चलाते हैं और सम्भोग, खान-पान या राष्ट्रीय झंडे को लेकर सन्तुष्ट हैं। हमारे आन्तरिक साधन समाप्त हो गये हैं और इसलिए हम बाहरी आमोद-प्रमोद पर निर्भर हो गये हैं। हम खण्डित हो गये हैं और स्वयं अपने से डरते हैं। मानवीय विद्याओं को पढ़कर हमें अपने अन्दर की आत्मा को समझना चाहिए। महान् ग्रन्थों के अध्ययन से हमें महत्ता के आदर्श का ज्ञान होगा।

अगर हमें आधुनिक जीवन के निर्बल बना देने वाले प्रभावों और मानसिक दबावों से बचने की इच्छा है, अगर हम उन आघातों से बचाव चाहते हैं जो सिनेमा, रेडियो, युद्ध का प्रचार करने वाले अखबार और उत्तेजक भाषण लगातार हमारे ऊपर डाल रहे

हैं, अगर लोगों के मनों को इनके दुष्प्रभावों से बचाना है, अगर हमारे अन्दर मानव-जाति के कल्याण के हेतु स्थायी रुचियां पैदा करनी हैं, तो दैनिक जीवन में हमें थोड़ा समय एकान्त अध्ययन और चिन्तन के लिए निकालना चाहिए। व्यायाम जितना आवश्यक शारीरिक स्वास्थ्य के लिए है उतना ही आवश्यक यह मानसिक स्वास्थ्य के लिए है। बुद्धि के यांत्रिकीकरण से बचने का और एक जीवित और सृजनशील इंसान बनने का यही एकमात्र उपाय है। दुनिया के शोर-गुल से दूर आत्मा की खामोशी में आदमी को आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त होती है। वह एकाकी हो सकता है लेकिन उदास नहीं, क्योंकि उसका शाश्वत आन्तरिक ज्योति से सम्पर्क रहता है। दिव्य दर्शन और सफलता के ऐसे क्षणों में ही आदमी अपना परिष्कार करता है और मनुष्यत्व देवत्व में रूपान्तरित हो जाता है। सच्चे धर्मनिष्ठ पुरुषों ने अपने अन्दर ही, अपने दिल की गहराइयों में क्रान्ति शुरू की और उनके सारे काम भ्रातृ-प्रेम से प्रेरित हुए। गान्धी जी ऐसे ही अमर महापुरुषों में से एक हैं।

यह सोचना ग़लत है कि विज्ञान और उद्योग आध्यात्मिक मूल्यों की उपेक्षा करते हैं। विज्ञान में जो महान् प्रगतियां हुई हैं वे पुद्गल की सर्वशक्तिमत्ता प्रकट नहीं करतीं, बल्कि पदार्थ-जगत् से मानवीय बुद्धि की उच्चता प्रकट करती हैं। विज्ञान विश्व के आन्तरिक रहस्य का उद्घाटन करता है। वह आध्यात्मिक जीवन की दौलत खोलता है।

आप मुझसे ज्यादा अच्छी तरह से जानते हैं कि गान्धी-स्मारक-अकादमी का विचार कैसे उत्पन्न हुआ, कैसे उस पर काम हुआ और कैसे वह रॉयल टेक्निकल कॉलेज का अंग बन गयी। स्मृति-ग्रन्थ में इस आन्दोलन का इतिहास है और उन सबके नामों का उल्लेख है जिन्होंने इसका निर्माण करने में दान और परामर्श देकर सहायता

की। जिन लोगों ने इस आन्दोलन में मदद की वे सब धन्यवाद के पात्र हैं। जो लोग इन कमरों में से गुज़रेंगे वे याद करेंगे कि इस पीढ़ी ने उनके लिए क्या किया।

जिस प्रतिमा का मैं अनावरण कर रहा हूं उसका निर्माण एक भारतीय मूर्तिकार श्री कर्मारकर ने किया था। मैं आशा करता हूं कि यह प्रतिमा भावी पीढ़ियों के लिए गान्धी जी की प्रेरणा की महिमा की, उनकी मानवता की, विशालता की, उनके भविष्य के स्वप्न की और उस दिन की प्रतीक होगी जब सारी दुनिया के लोग अपने झगड़ों को भूलकर एक विशाल परिवार के सदस्यों की तरह रहने लगेंगे। यह संस्था इस कठिन समय में भी गान्धी जी के आध्यात्मिक शान्ति, मानव-प्रेम और जाति और धर्मों के सामंजस्य के आदर्शों को याद रखे, यही मेरी कामना है।

४०

विज्ञान, सेवा और पवित्रता

(बीरबल साहनी इंस्टिट्यूट, लखनऊ में दिया गया भाषण
१४ नवम्बर १९५६)

स्वर्गीय डॉ० बीरबल साहनी से मेरा कई साल पुराना परिचय था। आंध्र-विश्वविद्यालय आयोग, वाल्टेर में हम दोनों ने साथ-साथ काम किया था और तबसे हम एक-दूसरे को अच्छी तरह जानने लगे थे। हम चाहते थे कि वे विश्वविद्यालय-शिक्षा-आयोग में भी काम करते, लेकिन वैज्ञानिक अनुसन्धान में लगे रहने के कारण उन्होंने थोड़े समय के लिए भी अपने कार्य से अलग होना न चाहा। प्राचीन-वनस्पति-विद्या में उन्होंने इतनी उच्च कोटि का काम किया था कि वे विश्व में इस विषय के अधिकारी विद्वान् माने गये थे। उन्होंने यहां अपनी प्रयोगशाला में छात्रों की एक विशाल संख्या को इस विषय का शिक्षण दिया। साहनी न केवल एक महान् वैज्ञानिक खोजी थे बल्कि एक बड़े देश-भक्त और सबसे अधिक एक महान् व्यक्ति भी थे। वे अनुभूतिशील, और कल्पनात्मक स्वभाव के थे, वे आदर्श और लगन के आदमी थे, और यह संस्था जिसकी स्थापना उन्होंने १९४६ में की थी उनके महान् व्यक्तित्व की प्रतिमा है। मैं आशा करता हूं कि वर्षों तक यह प्राचीन-वनस्पति-विद्या को समृद्ध करती रहेगी और उनके नाम को जीवित रखेगी।

यह बड़े सौभाग्य की बात है कि उनकी मृत्यु के बाद उनकी पत्नी श्रीमती सावित्री साहनी उनके आदर्शों के प्रति अनन्य भक्ति के साथ उनके कार्य को आगे बढ़ा रही हैं।

आज १४ नवम्बर के दिन हमारे प्रधान मंत्री जिन्होंने १९५३ में इस इमारत का उद्‌घाटन किया था, अपने जीवन के ६७ वर्ष पूरे कर रहे हैं। उनके जीवन की महत्ता न केवल इससे प्रकट होती है कि वे हमारे देश के घटना-क्रम को अपने आदर्शों के अनुसार मोड़ रहे हैं बल्कि इसमें भी कि वे अपने देशी और विदेशी समसामयिकों के ऊपर अपने विचारों और व्यक्तित्व का प्रभाव डाल रहे हैं। वे हमको जगाने की और हमारी विचार-धारा को नयी दिशाओं में मोड़ने की योग्यता रखते हैं। उनका जीवन देश-सेवा और मनुष्य-जाति की सेवा में अर्पित है। हमारी कामना है कि वे अनेक वर्षों तक जीवित रहें। उनकी इस संस्था में रुचि प्रसिद्ध ही है।

१४ नवम्बर का दिन एक अन्य महत्त्व भी रखता है। सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ईसाई-जगत् में 'बर्लाम और जोसाफ़त' की एक कहानी प्रचलित थी जिसका श्रेय अगली शताब्दी के दमिश्क़ के सन्त जॉन को दिया गया था। इस कहानी के अनुसार, बुद्ध जो कि काल-क्रम से पहिले बोधिसत्, फिर जोसाफ़त और अन्त में भारत के सन्त जोसाफ़त हो गये, एक हिन्दू युवराज थे और बर्लाम ने उनको ईसाई बना दिया था। उनको १५८९ में सिक्सटस पंचम ने सन्तों की सूची में स्थान दिया और इसका समर्थन पीयस नवम ने १८७३ में किया। १४ नवम्बर को इसका उत्सव मनाया जाता है।

इस दिन हमको विज्ञान, सेवा और पवित्रता के मूल्यों का स्मरण होता है। ये परस्पर पृथक् आदर्श नहीं हैं बल्कि एक समन्वय-पूर्ण जीवन के अंग हैं। सत्य का अनुसरण, मनुष्य की सेवा और जीवन की पवित्रता सच्चे सभ्य पुरुषों में एक साथ पाये जाते हैं। आज दुनिया में हम जो तकलीफें देख रहे हैं उनका मूल कारण विज्ञान और पवित्रता का एक-दूसरे से अलग हो जाना है।

हमारे शास्त्र कहते हैं : वेद के रहस्य, वेद के मूल, शुद्ध और ज्ञानस्वरूप बुद्ध को नमस्कार है :

नमो वेदरहस्याय, नमस्ते वेदयोनये।
नमो बुद्धाय शुद्धाय नमस्ते ज्ञानरूपिणे॥

सत्य की खोज करना, ज्ञान प्राप्त करना मनुष्य की विशेषता है।

सत्येन पन्था विततो देवयानः।

देवताओं को प्राप्त कराने वाला मार्ग सत्य से बना हुआ है। गान्धी जी कहते थे कि सत्य ही ईश्वर है। ईश्वर सत्यस्वरूप है। इस संस्था में जो अनुसन्धान-कार्य आप करते हैं वह सत्य की वृद्धि करता है।

भूतकाल में हमारा देश वैज्ञानिक और औद्योगिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ रहा है और इससे उसे हानि उठानी पड़ी। आज हम इस क्षति की पूर्ति के लिए सचेष्ट हैं। वैज्ञानिक जागरण के नेताओं में से एक इस संस्था के संस्थापक भी थे। मुझे कोई सन्देह नहीं है कि जो काम आप लोग कर रहे हैं उससे न केवल प्राचीन-वनस्पति-विद्या की वृद्धि होगी बल्कि मानव-जाति की प्रगति को भी बल मिलेगा।

यह एक बड़ी रोचक बात है कि बीरबल साहनी धर्म-ग्रन्थों के अध्ययन में अत्यधिक रुचि रखते थे। वे विज्ञान और धर्म को परस्पर विरोधी नहीं मानते थे। दुनिया के कुछ महान् वैज्ञानिक विज्ञान से प्राप्त ज्ञान की कमियों को जानते हैं और एक नयी विद्या की आवश्यकता समझते हैं। प्रारम्भ के और अन्तिम प्रयोजनों के बारे में विचार करना विज्ञान की परिधि के बाहर है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव . . . . ॥

विज्ञान उसे जानने की कोशिश करता है जो मध्य में है; वह आदि और अन्त को नहीं जान सकता।

वैज्ञानिक निरीक्षण से ज्ञात होता है कि विश्व-प्रक्रिया के अन्दर कोई रहस्यमय तत्त्व है जो उसे प्रेरित कर रहा है। विश्व में एक ऊर्ध्वमुखी प्रवृत्ति दिखायी देती है। यह पृथ्वी एक पिघला हुआ पिण्ड था जो धीरे-धीरे ठंडा हुआ, फिर इसमें समुद्रों की उत्पत्ति हुई और जीवन के रूपों का उदय हुआ। जीवन अमीबा से शुरू होकर अनन्त रूपों में से होते हुए मनुष्य तक पहुँचा। इन सब बातों से ज्ञात होता है कि दुनिया के अन्दर कोई आध्यात्मिक सत्ता काम कर रही है।

अगर हम मनुष्य से नीचे की सृष्टि तक ही अपना ध्यान सीमित रखें तो शायद प्रगति की अवश्यम्भाविता में हमारा विश्वास हो जायगा; लेकिन मानवीय सृष्टि पर जब ध्यान जाता है तो मनुष्य की स्वतंत्रता की बात हम नहीं भुला सकते। कुछ लोग ऐसे हैं जो यह विश्वास करते हैं कि इतिहास एक उच्चतर प्रयोजन की अभि-व्यक्ति है। इसी विश्वास के कारण टेनीसन ने सोचा था कि दुनिया मनुष्य की संसद् और विश्व के संघ की ओर जा रही है। मार्क्स की इतिहास की व्याख्या के मूल में भी यही विश्वास है। बर्नार्ड शा के 'बैक टु मेथुसेलाह' (१९२१) का आधार भी यही है। विकासवादी यह आशा करते हैं कि प्राकृतिक चुनाव के नियमों के प्रभाव से वर्तमान अपूर्ण समाज के स्थान पर एक ऐसा समाज आ जायेगा जिसमें मनुष्य का रूप उत्कृष्ट होगा और दुनिया अधिक पूर्ण होगी।

गत दो महायुद्धों से और हाल की घटनाओं से इस आशावादिता को बल नहीं मिलता कि मानवीय इतिहास में निश्चित प्रगति है। अविच्छिन्नता इतिहास की प्रमुख विशेषता नहीं है। इतिहास के